भारतीय शासन और राजनीति

डॉ० जे० ए० एल० नोहा,
एम० ए, एल एल० बी०, पी एच० डी० (विक्रम)

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी • भोपाल

भारतीय शासन
श्रौर
राजनीति

Published by Madhya Pradesh Hindi Granth Academy under the Centrally Sponsored Scheme of Production of Books and literature in regional languages at the University level, of the Government of India in the Ministry of Education and Social Welfare (Department of Culture), New Delhi.

भारतीय शासन और राजनीति

डॉ० जे० ए० एल० नोहा,
एम० ए०, एल एल० बी०, पी एच० डी०
विभागाध्यक्ष एवं प्राध्यापक, राजनीति विभाग,
इन्दौर क्रिश्चियन महाविद्यालय, इन्दौर, म० प्र०



मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी • भोपाल

भारतीय शासन और राजनीति

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
९७, मालवीयनगर, भोपाल





प्रथम संस्करण
१९७३



मूल्य
पुस्तकालय संस्करण १२ रुपये ५० पैसे
साधारण संस्करण १० रुपये ५० पैसे



मुद्रक
पर्वतीय मुद्रणालय
१८ राय रामचरन दास रोड, इलाहाबाद-

प्रस्तावना

डा० जे० ए० एल० नोहा द्वारा लिखित "भारतीय शासन और राजनीति" वस्तुत भारतीय सविधान एव उसके प्रयोगात्मक पक्ष से सबन्धित ग्रन्थ है। भारतीय जनतत्र मे बालिग मात्र को मताधिकार प्राप्त है। वैचारिक अभिव्यक्ति की स्वतत्रता के साथ मिलकर इस निर्वाचनाधिकार ने अनेक राजनीतिक पार्टियो को अस्तित्व म ला दिया है और प्रत्येक दल को सविधान की सीमा के भीतर कार्य करने की पूरी स्वतत्रता है। हमारा सविधान स्वय विरोधी पक्ष को न केवल सहन करता है, अपितु उसे शासन का सजग प्रहरी भी मानता है। इस दृष्टि से विभिन्न राजनीतिक विश्वासों और वादो के बीच चलने वाले भारतीय शासन के कई मनोरजक पहलू हैं। डॉ० नोहा की पुस्तक इन सब पर प्रकाश डालती है।

भारतीय सविधान इग्लैण्ड और अमेरिका के सविधानो के श्रेष्ठ अशो को लेकर बना है। ये सविधान कई सौ वर्षों से परीक्षित और प्रयुक्त होते आये हैं। इग्लैण्ड का सविधान तो विश्व का प्राचीनतम सविधान माना जाता है। अनेक लागो को इस बात पर आपत्ति है कि भारतीय सविधान किन्ही अन्य सविधानो का पिछलगा बनकर क्यो रहे। कभी कभी तो यह विरोध काफी प्रबुद्ध वर्ग की ओर से आता है। हमारे सविधान मे विधायिका, पालिका और न्यायिक शक्ति के बीच स तुलन बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है। इनम कोई किसी से घटकर नही है। किन्तु कभी-कभी इनके बीच भी सघर्ष की स्थिति आ जाती है। बैंको के राष्ट्रीयकरण और मुल्की कानून के न्यायिक फैसलो एव नदी योजना विवादों ने इस बात को और भी उजागर कर दिया है। जनमत के दबाव के कारण भी सविधान मे सशोधन हुए हैं और स्वाभाविक है, कि उससे सब पक्ष स तुष्ट। नहो कोई सविधान स्वय पूर्ण नही होता और न कोई शासन प्रणाली ही सर्वथा निर्दोष हो सकती है। फिर भी भारतीय शासन अर्थात् सविधान और उसके उद्देश्य निम्नतम विवादास्पद अचलो को छूते हैं। देश के प्राय सभी राजनीतिक दल जनतत्र मे विश्वास रखते हैं। पचसाला निर्वाचन वे मापदण्ड हैं जिनसे इन दलो की शक्ति और प्रभाव का मूल्याकन होता रहता है। जनतत्रीय प्रणाली के प्रति समर्पित होने के कारण ही इस देश को स्वतत्रता के बाद स्थायी एव सुदृढ सरकार मिल सकी है। शायद भारत ही एक-मात्र विकासमान देश है जिसमे क्रान्तिकारी राजनीतिक परिवतन नही हुए और न कभी कोई ऐसा आन्दोलन हुआ, जिससे जनतत्र की

नींव हिली हो, इस देश की परम्परा, विधान-निर्माताओं की सूझ-बूझ, शासन चलानेवालों की व्यावहारिक दक्षता, जनता की सहिष्णुता और शांतप्रियता इन सब बातों को, इस बात का संयुक्त श्रेय मिलना चाहिए। भारत के साथ स्वातंत्र्य क्षितिज पर उदित हुए प्राय: प्रत्येक देश को सैनिक शासन का स्वागत करना पड़ा। इस देश में प्रजातंत्र की जड़ें बहुत गहरी हैं। जब इस देश में राजतंत्र था तो भी उसके नियामक सिद्धान्तों में प्रजातंत्र के लोक-कल्याणकारी तत्त्व बहुत कुछ समाहित थे। इसलिए इस देश में राजतंत्र का स्थान लेने के लिए प्रजातंत्र को नरबलि नहीं देनी पड़ी।

भारतीय संविधान, केवल शासकों तथा राजनीतिज्ञों के मार्गदर्शन के लिये ही नहीं, बल्कि भारत के प्रत्येक नागरिक के विभिन्न-अधिकारों की दृष्टि से आवश्यक है। प्रस्तुत अध्ययन में, जिसका शीर्षक 'भारतीय शासन और राजनीति' है, भारत के संविधान के अंतर्गत संघ तथा राज्य सरकारों के स्वरूप संगठन, और कार्यों, संसद में प्रतिपक्ष दलों की भूमिका, नागरिकों के मूल अधिकारों, मतदाताओं की भारतीय जनतंत्र में भूमिका, आदि सामयिक महत्त्व, भारतीय शासन एवं राज-नीति की त्रुटियों की व्याख्या करते हुए, उनको दूर करने के लिए रचनात्मक सुझाव दिये गये हैं।

तथापि, यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि मूलतः भारतीय संविधान के दायरे में ही, भविष्य में, भारत प्रगति कर सकता है और विश्व के बड़े तथा समृद्धशाली राष्ट्रों में अपना उचित स्थान बना सकता है। यदि राष्ट्रीय प्रगति में रुकावटें आती हैं, तो जैसा डॉ० बी० आर० अम्बेडकर ने संविधान-निर्माण के समय कहा था, इसका कारण यह नहीं होगा कि संविधान बुरा है परन्तु यह कि मानव दुष्ट है।

इन सब बातों के प्रकाश में यदि हम वर्तमान भारतीय शासन-पद्धति और राजनीति का अध्ययन करें तो अनेकों मनोरंजक तथ्य सामने आवेंगे। डॉ० नौहा ने अपनी कृति में इन सब बातों पर खुले मन से विचार किया है। उनकी यह कृति विश्वविद्यालयीन अध्ययन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

प्र. द. अग्निहोत्री

(डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

विषयानुक्रमणिका

भारतीय संविधान का निर्माण तथा उसके मूल सिद्धान्त

स्वतंत्र भारत के संविधान का निर्माण-कार्य 'कैबीनेट मिशन-योजना' के अन्तर्गत स्वतन्त्रता प्राप्ति के नौ माह पूर्व प्रारम्भ हो गया था। संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव, १९४६ में प्रान्तीय विधान-सभाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के आधार पर किया गया। इस संविधान निर्मात्री सभा में कुल सदस्य-संख्या २९६ थी, जिसमें कांग्रेस के २०५, मुस्लिमलीग के ७३ और १८ स्वतंत्र प्रतिनिधि थे।

संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन ९ दिसम्बर, १९४६ को डा० सच्चिदानन्द सिन्हा की अस्थायी अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। तदुपरान्त ११ दिसम्बर, १९४६ को अधिवेशन में इस संविधान निर्मात्री सभा के स्थायी अध्यक्ष के पद पर स्वर्गीय डा० राजेन्द्र प्रसाद आसीन हुए। २२ जनवरी, १९४७ को संविधान सभा ने अपना उद्देश्य प्रस्ताव (Objectives Resolution) पारित किया। यह प्रस्ताव पं० जवाहरलालजी नेहरू द्वारा प्रस्तुत किया गया। इसमें संविधान निर्माणार्थ पाँच सम्बन्धित उद्देश्यों की ओर संविधान निर्माताओं का ध्यान आकर्षित किया गया। वे उद्देश्य क्रमानुसार इस प्रकार थे —

१—भारत में स्वतन्त्र एवं सार्वभौम गणराज्य की स्थापना और अपना संविधान निर्माण करना।

२—भारतीय संघ एवं संघ की इकाईयों (राज्यों) में समस्त सार्वभौम सत्ता का स्रोत जनता होगी।

३—भारत के समस्त निवासियों को (i) सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय (ii) पद, अवसर एवं कानून के समक्ष समानता तथा (iii) विचार, भाषण, अभिव्यक्ति और विश्वास रखने की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

४—अल्पसंख्यकों, पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा के लिए व्यवस्था करना।

गया था, किन्तु इसमे भारत के सभी राजनीतिक दलो, वर्गों तथा विभिन्न हितो का पर्याप्त प्रतिनिधित्व था। भारतीय रियासतो के भी प्रतिनिधि इसम सम्मिलित किये गय थे। इसके अतिरिक्त, चूंकि केवल काग्रेस ही एक राष्ट्रीय दल था, और काग्रेस को सविधान सभा के २९६ सदस्यो मे से स्पष्ट बहुमत (२०५ स्थान) प्राप्त हुआ था, यह कहा जा सकता है कि काग्रेस द्वारा सविधान-सभा म राष्ट्रीय हितो का व्याप्त प्रतिनिधित्व था। अतएव, सविधान-सभा ने जो सविधान पारित किया, उसको एक लोकतान्त्रिक सविधान माना जा सकता है।

ब—यदि सविधान की प्रस्तावना के पहले और अन्तिम वाक्यो के उपयुक्त अशो को जोडा जाये, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि स्वय सविधान की प्रस्तावना मे इस विषय पर बल दिया गया है कि सविधान वास्तव म जनतान्त्रिक है। प्रस्तावना के पहले वाक्य का उपयुक्त हिस्सा है —'हम भारत के लोग', और अन्तिम वाक्य का उपयुक्त हिस्सा है,—'इस सविधान को स्वीकृत, निर्मित एव आत्मार्पित करते हैं', यदि इन दोनो हिस्सो को साथ-साथ जोडा जाये तो पूरा वाक्य इस प्रकार होगा :—

'हम भारत के लोग इस सविधान को स्वीकृत, निर्मित एव आत्मार्पित करते है।' दूसरे शब्दो मे, भारतीय-सविधान भारतीय जनता का, जनता के लिए, जनता (जनता के प्रतिनिधियो) द्वारा निर्मित सविधान है। यह भारतीय जनता की सार्वभौमिकता को प्रतिबिम्बित करता है। अमरीकी-सविधान की प्रस्तावना के आरम्भ और अन्त मे भी लगभग ऐसे ही शब्दो का प्रयोग किया गया है। अमेरिका के सविधान के प्रस्तावना के आरम्भ मे ये शब्द, इस प्रकार है :—

'हम अमरीका के लोग', एव अन्त मे 'इस अमरीकन सविधान को निर्दिष्ट एव स्थापित करते है'। अमरीकी सविधान की प्रस्तावना के इन दोनो भागो को जोडा जाये तो वाक्य यह होगा :—

'हम अमरीका के लोग, इस अमरीकी-सविधान को निर्दिष्ट एव स्थापित करते हैं। अत स्पष्ट रूप से यह अमरीकी-सविधान के लोकतान्त्रिक स्वरूप का सूचक है।

इसके अतिरिक्त, भारतीय-संविधान द्वारा नागरिको को वयस्क मताधिकार दिया गया है, और प्रत्येक नागरिक को ससद या किसी राज्य-विधान सभा के लिए उम्मीदवार के रूप मे, चुनाव लडने का भी अधिकार है।

सविधान के अध्याय तीन मे भारत के नागरिको के सात मूल अधिकारो का उल्लेख है। ये अधिकार हैं—(१) समानता का अधिकार, (२) स्वतन्त्रता का अधिकार, (३) शोषण के विरुद्ध अधिकार, (४) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, (५) सम्पति का अधिकार, (६) सास्कृतिक तथा शैक्षणिक अधिकार और (७) सर्व-

धानिक उपचारों का अधिकार। इन अधिकारों से भारत में राजनीतिक लोकतंत्र का आश्वासन प्राप्त है।

संविधान के अध्याय चार में विभिन्न आर्थिक सिद्धान्तों का उल्लेख है, जिनको राज्य-नीति निर्देशक तत्वों की संज्ञा दी गयी है, क्योंकि भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को अपने कार्यों में इन सिद्धान्तों के मार्ग दर्शन में चलना आवश्यक है। इनका उद्देश्य भारत में आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है, जिसमें किसी भी नागरिक के साथ सामाजिक तथा आर्थिक अन्याय नहीं होगा।

संक्षेप में, संविधान न केवल स्वयं लोकतान्त्रिक है किन्तु इसका उद्देश्य भारत में लोकतन्त्र की नींव को शक्तिशाली करना है।

प्रस्तावना में इस विषय पर बल दिया गया है कि संविधान का महत्वपूर्ण उद्देश्य भारत में एक सार्वभौम लोकतन्त्रीय गणराज्य की स्थापना करना है। 'सार्वभौम' शब्द का प्रयोग किया जाना इस बात का द्योतक है कि भारत के आन्तरिक तथा वैदेशिक मामलों में भारत सरकार सार्वभौम तथा स्वतंत्र है। 'लोकतन्त्र' शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि भारतीय-संविधान के अन्तर्गत सार्वभौमिकता जनता में निहित है। भारतीय जनता को, वयस्क मताधिकार के आधार पर अपनी इच्छानुसार सरकार-निर्माण करने का स्वतंत्र अधिकार है, जो आन्तरिक तथा बाह्य दोनों मामलों में पूर्णतया सार्वभौम तथा स्वतन्त्र होगी।

'गणतन्त्र' शब्द का उपयोग इस विषय पर प्रकाश डालता है, कि दो प्रकार की लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं—वंशानुगत लोकतन्त्र तथा लोकतन्त्रीय गणतन्त्र, में से भारतीय-संविधान के अन्तर्गत लोकतन्त्रीय गणतन्त्र को अपनाया गया है।

वंशानुगत लोकतन्त्र के अन्तर्गत राष्ट्राध्यक्ष किसी विशिष्ट वंश का होता है, जो अपना पद वंशानुगत सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त करता है, किन्तु राष्ट्राध्यक्ष के रूप में वह केवल नाममात्र का शासक होता है। उदाहरण स्वरूप इंगलैण्ड में संवैधानिक-राजतन्त्र या लोकतान्त्रिक-राजतन्त्र है, क्योंकि वहाँ के राष्ट्राध्यक्ष (सम्राट या सम्राज्ञी) को अपना पद वंशानुगत प्राप्त होता है।

लोकतन्त्रीय-गणतन्त्र में राष्ट्राध्यक्ष का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में किया जाता है, अर्थात गणतान्त्रिक राज्य में राष्ट्राध्यक्ष को अपना पद जनता द्वारा उसके निर्वाचन के फल स्वरूप प्राप्त होता है। उदाहरण स्वरूप अमरीका एवं भारत में राष्ट्राध्यक्ष का निर्वाचन जनता करती है। अतएव भारत तथा अमरीका दोनों गणतान्त्रिक-राज्य हैं।

भारतीय-संविधान की प्रस्तावना में तथा संविधान के अध्याय तीन में धर्म-निरपेक्ष राज्य के सिद्धान्त पर प्रत्यक्ष रूप में बल दिया गया है। प्रस्तावना में भारत के समस्त नागरिकों की विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं पर प्रकाश डाला गया है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य के सन्दर्भ में, प्रस्तावना में उल्लेखित नागरिकों के विश्वास, *धर्म तथा उपासना सम्बन्धी स्वतन्त्रता को ध्यान में रखना* आवश्यक है। इसी प्रकार, संविधान के अध्याय तीन अनुच्छेद २५, २६, २७ और २८ के अन्तर्गत भारत में सभी व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदत्त की है। इसी प्रकार समानता के मूल अधिकार के सन्दर्भ में संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि राज्य नागरिकों के मध्य धर्म, जाति, लिंग, जन्म स्थान, या इनमें से किसी आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। धर्म, जाति, लिंग, जन्मस्थान के कारण किसी भी नागरिक को सार्वजनिक स्थानों, भोजनालयों, दूकान, कुआँ, तालाब, स्नानघाट तथा सार्वजनिक पूजा के स्थान के उपयोग से नहीं रोका जायेगा। शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों के अन्तर्गत प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या उसकी किसी इकाई को धार्मिक संस्थाओं की स्थापना, पोषण एवं उनके प्रबन्ध करने का और चल तथा अचल सम्पत्ति रखने और स्वामित्व का अधिकार है। इसके अतिरिक्त अल्पसंख्यकों *को अपनी भाषा के सुरक्षित रखने का तथा शैक्षणिक संस्थाओं के स्थापित करने* का अधिकार है।

वस्तुतः प्रस्तावना और संविधान के अध्याय तीन में, भारत में निवास करने वाले समस्त व्यक्तियों को, जो धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है, उसको भारत में धर्म निरपेक्ष राज्य का ठोस आधार माना जा सकता है, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष राज्य की संज्ञा उस राज्य को दी जा सकती है, जिसमें सभी व्यक्तियों का समान रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार उपलब्ध है, अर्थात्, राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान हैं और सार्वजनिक मामलों का संचालन किसी विशिष्ट धर्म के सिद्धान्तानुसार न कर लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों पर किया जाये।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में तथा संविधान के अध्याय चार में, जिसमें विभिन्न राज्य-नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख है, लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार दृष्टिगोचर होता है। दूसरे शब्दों में, भारतीय संविधान के अन्तर्गत लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त को मान्यता दी गई। मानव-जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, एवं धार्मिक पक्ष महत्वपूर्ण होते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु उसको जीवन के इन सभी महत्वपूर्ण पहलुओं के लिए सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिये। लोक-कल्याणकारी राज्य का प्राथमिक उद्देश्य है कि मानव-जीवन के इन महत्वपूर्ण पहलुओं से सबंधित समस्त सुविधाओं के लिए प्रावधान करे, जिससे व्यक्ति का चहुँमुखी विकास हो सके।

भारतीय-संविधान की प्रस्तावना में समस्त नागरिकों को सामाजिक, राजनीतिक, तथा आर्थिक न्याय का आश्वासन दिया गया है। भारत के नागरिकों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में न्याय का आश्वासन दिया गया है। नागरिकों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में न्याय उपलब्ध करने के लिए संविधान में विशिष्ट साधनों

का उल्लेख है । सामाजिक न्याय का अर्थ है—सभी नागरिकों को सामाजिक क्षेत्र मे समान अधिकार प्राप्त हो ।

(१) सामाजिक न्याय का आश्वासन, जो सविधान की प्रस्तावना द्वारा दिया गया है, नागरिकों के समानता के मूल अधिकार पर आधारित है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कानून के द्वारा समान सरक्षण का अधिकार प्रदत्त किया गया है । इसके अतिरिक्त, राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध धर्म, वश, जाति, लिंग, जन्म स्थान अथवा इनमे से किसी भी आधार पर भेदभाव नही करेगा । इसी प्रकार किसी भी नागरिक को केवल धर्म, वश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान, अथवा इनमे से किसी एक आधार पर, (क) दूकानो, सार्वजनिक भोजनालयो, होटलो, और सार्वजनिक मनोरजन के स्थानो मे प्रवेश करने से नही रोका जायेगा; (ख) पूर्ण या आंशिक आधार पर राज्यनिधि द्वारा बने हुए या जनता के लिए बनवाये गये कुओ, तालावो, स्नानघाटो, सडको तथा सार्वजनिक स्थानो के उपयोग करने से नही रोका जायेगा ।

समानता के अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को राज्य के अधीन किसी भी पद पर नियुक्त किये जाने के लिए समान अवसर प्राप्त होंगे और किसी भी नागरिक के साथ धर्म, वश, जाति, लिंग, उत्पत्ति या जन्म स्थान अथवा इनमे से किसी भी कारण से भेदभाव नही किया जा सकता है ।

समानता के अधिकार के अन्तर्गत सामाजिक न्याय उपलब्ध करने के लिए यह भी प्रावधान किया गया है कि अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है और जो व्यक्ति अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता को लागू करता है, वह दण्ड का पात्र होगा ।

(२) राजनीतिक न्याय का अर्थ है, सभी नागरिकों को राजनीतिक क्षेत्र मे समान अधिकार प्राप्त हो । राजनीतिक न्याय का आश्वासन प्रस्तावना म दिया गया है; इसके व्यावहारिक स्वरूप मुख्यत दो आधारो पर अवलम्बित है । ये आधार हैं—

(क) नागरिकों के विभिन्न मूल अधिकार, विशेषकर, स्वतन्त्रता, तथा सवैधानिक उपचारो के अधिकार और

(ख) प्रत्येक भारत मे नागरिक को वयस्क मताधिकार के सिद्धान्तानुसार मत देने के अधिकार । सक्षेप म भारत के प्रत्येक नागरिक को अपने विचारो की अभिव्यक्ति करन, सगठन बनाना ।

भारतीय प्रदेश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से मे जाने तथा अपनी पसन्द के प्रत्याशी के लिए मत देने की स्वतन्त्रता है ।

(३) आर्थिक न्याय का अर्थ है, कि आर्थिक क्षेत्र म सभी नागरिकों को समान अधिकार तथा अवसर प्राप्त हो । भारतीय नागरिको को जो आर्थिक न्याय का आश्वासन सविधान की प्रस्तावना मे दिया गया है, उसके क्रियान्वयन हेतु सविधान में तीन आधार हैं ।

(क) समानता के अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को राज्य के अधीन पद प्राप्त करने हेतु समान अधिकार प्राप्त है।

(ख) स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तगत प्रत्येक नागरिक को किसी भी व्यवसाय, वृत्ति व्यापार तथा धधा करने की स्वतन्त्रता है।

(ग) सविधान के अध्याय चार म कतिपय राज्य नीति निर्देशक तत्वा का उद्देश्य देश म प्रत्यक नागरिक को आर्थिक न्याय प्रदत्त करना है। उदाहरण स्वरूप य राज्य नीति निर्देशक तत्व इस प्रकार हैं —

१–समस्त नागरिको, पुरुषो तथा स्त्रियो को अपनी पर्याप्त जीविका अर्जन करने का अधिकार है,

२–समाज के भौतिक साधनो का स्वामित्व तथा नियन्त्रण इस प्रकार वितरित हो जिससे सामान्य रूप से जनहित समव हो,

३–देश की आर्थिक व्यवस्था का सचालन इस प्रकार न हो, जिससे धन का केन्द्रीय करण होते हुए सामान्य हित को हानि पहुँचे,

४–पुरुष तथा स्त्री को समान कार्य के लिए समान वेतन प्राप्त हो,

५–श्रमिको, (पुरुष एव स्त्री) और कम आयु के बालको के स्वास्थ्य तथा शक्ति का शोषण न हो और नागरिको को अपनी आर्थिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए उनकी आयु तथा शक्ति के दृष्टिकोण से अनुपयुक्त व्यवसायो म प्रवेश होने के लिये बाध्य न होना पडे,

६–बचपन एव युवावस्था का शोषण न हो,

७–राज्य श्रम एव प्रसूति सहायता से सबधित शर्तों को मानवीय स्वरूप प्रदत्त करने के लिए प्रावधान करेगा,

८–राज्य अपनी आर्थिक क्षमता के दायरे मे नागरिको के लिए नौकरी, शिक्षा, एव वृद्धावस्था, बीमारी एव बेरोजगारी की स्थिति मे सावजनिक सहायता करेगा,

९–राज्य कानून या आर्थिक सगठन द्वारा समस्त श्रमिको को (कृषि उद्योग, या अन्य कार्यों से सबधित) उपयुक्त कार्य, जीविका, एव कार्यों की शर्तों के लिए प्रावधान करेगा, जिससे जीवन का उत्तम स्तर स्थापित हो।

१०–राज्य लघु उद्योगो को प्रोत्साहित करेगा।

११–राज्य विशेष रूप से पिछडे वर्गो तथा अनुसूचित जातियो के शैक्षणिक तथा आर्थिक हितो का सरक्षण करेगा।

उपर्युक्त राज्य-नीति निर्देशक तत्वो को सविधान मे स्थान इसी उद्देश्य से दिया गया है जिससे नागरिको को आर्थिक न्याय उपलब्ध हो सके। ये ही तत्व आर्थिक न्याय के आधार हैं।

(४) राज्य-नीति निर्देशक तत्वो का महत्व भारतीय सविधान मे दिसम्बर, १९७१ मे २५ वें सशोधन से और अधिक बढ गया है। सशोधन के दूसरे भाग मे

यह प्रावधान किया गया है कि यदि किसी कानून में यह लिखा है कि उसका उद्देश्य किसी राज्य-नीति निर्देशक तत्व का क्रियान्वय करना है और यदि उस कानून का संघर्ष किसी मूल अधिकार से है, तो उक्त कानून को अवैध नहीं ठहराया जा सकता है। यदि इस प्रकार के कानून का उद्देश्य सामान्य हितों के दृष्टिकोण से आर्थिक न्याय उपलब्ध करना होगा तो वास्तव में यह एक प्रगतिशील कदम माना जायेगा।

संक्षेप में, संविधान की प्रस्तावना में, संविधान के इस मूल सिद्धान्त का उल्लेख है कि भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य होगा जिसमें प्रत्येक नागरिक को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय उपलब्ध होगा।

(५) प्रस्तावना में संविधान के एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त का उल्लेख है। वह यह है कि इसमें राष्ट्रीय एकता पर बल प्रदान किया गया है। भाषा, धर्म आदि की विविधता के होते हुए भी भारत एक राष्ट्र है। इस संदर्भ में, प्रस्तावना का महत्व इसलिए अधिक हो जाता है कि इसमें उन दो विशेष आधारों पर बल दिया गया है, जिनके माध्यम से राष्ट्रीय एकता दृढ़ होती है।

सर्वप्रथम, प्रस्तावना में व्यक्ति की प्रतिष्ठा तथा महत्व पर बल दिया गया है। व्यक्ति को, लोकतन्त्र की एक महत्वपूर्ण इकाई मानते हुए, राष्ट्रीय एकता का एक महत्वपूर्ण आधार माना है। राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना की जागृति, व्यक्ति के स्वाभिमान की भावना से संबंधित है। परन्तु व्यक्ति के स्वाभिमान की भावना राज्य एवं समाज में, उसके महत्व को स्वीकार करने पर निर्भर है। यदि राज्य तथा समाज में व्यक्ति को उसकी उचित प्रतिष्ठा तथा अधिकार प्राप्त है, यह स्वाभाविक है कि नागरिक के रूप में देश के प्रति उसकी आस्था बनी रहेगी और इसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय भावना तथा एकता दृढ़ होगी।

द्वितीय, एक उपसिद्धान्त के रूप में यह भी कहा जा सकता है कि समाज तथा राज्य द्वारा व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं अधिकारों की स्वीकृति, राज्य तथा समाज में नागरिकों के मध्य बन्धुत्व या सौहार्द की भावना प्रज्वलित करेगी, जिससे राष्ट्रीय एकता दृढ़ होगी।

इन दो आधारों पर संविधान निर्माताओं ने राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाने का आश्वासन दिया है।

उपर्युक्त पाँच सिद्धान्तों के अतिरिक्त जिन पर संविधान की प्रस्तावना में प्रकाश डाला गया है, कतिपय सिद्धान्तों को स्वयं संविधान में उल्लेखित किया गया है। मुख्यतः यह सिद्धान्त भारतीय संघीय व्यवस्था सरकार एवं संविधान के स्वरूप से संबंधित है। इनका अध्ययन विस्तृत रूप से अगले अध्यायों में किया जायेगा, किन्तु यहाँ पर इनका उल्लेख संक्षेप में किया जा सकता है।

सर्वप्रथम, सविधान के अनुच्छेद १ के अनुसार भारत एक सघ (यूनियन) है। भारतीय-सविधान मे सघवाद का सिद्धान्त अपनाया गया है, क्योंकि इसमे राज्य की तीनो आवश्यकताएँ निहित है, जो ये हैं १—लिखित सविधान, २—सघीय तथा राज्य सरकारो के मध्य शक्तियो का विभाजन, ३—सघ और राज्य सरकारो के मध्य शक्ति विभाजन, सविधान मे उल्लेखित तीन सूचियो (अ—सघ सूची, व—राज्य सूची और स-समवर्ती सूची) के आधार पर किया गया है।

सघीय सूची मे ९७ विषय है, जिन पर सघ सरकार का क्षेत्राधिकार है। राज्य सूची मे ६६ विषय है, जिन पर, साधारणतया राज्य सरकारो का क्षेत्राधिकार है। समवर्ती सूची मे ४७ विषय हैं, जिन पर सघ तथा राज्य सरकारो को विधि निर्माण के लिए समवर्ती अधिकार प्राप्त है, किन्तु यदि इस सूची मे उल्लेखित किसी विषय पर सघीय और राज्य कानून मे सघर्ष है तो सघ कानून को ही मान्यता दी जायेगी। अतएव यह स्पष्ट है कि सघीय सरकार को राज्य सरकारो की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, कतिपय, विशेष परिस्थितियो मे सघीय सरकार को और अधिक शक्तियाँ, जो राज्य सूची से सबधित हैं, प्राप्त हो जाती है। इनका उल्लेख अन्य अध्याय मे किया गया है। अत. सघीय विशेषताओ के होते हुए भी भारतीय सविधान मे एकात्मक प्रवृत्तियाँ निहित हैं। परन्तु भारत का सविधान मुख्यत सघीय सिद्धान्त पर आधारित है।

द्वितीय, सरकार के स्वरूप के दृष्टिकोण से भारतीय सविधान के अन्तर्गत ससदात्मक पद्धति को अपनाया गया है। ससदात्मक पद्धति मे कार्यपालिका के दो प्रकार होते है, नाममात्र की कार्यपालिका जो राष्ट्राध्यक्ष के रूप मे, तथा वास्तवि कार्यपालिका जो मत्री मण्डल के रूप मे होती है। मत्री मण्डल का सामूहिक रूप से ससद के निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होना ससदात्मक पद्धति का मूल सिद्धान्त है। भारतीय-सविधान के अनुच्छेद ७८ उपबन्ध (३) म इस सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। सघ के समान राज्यो के मत्री मण्डल भी अनुच्छेद १६४ (५) के अनुसार सामूहिक रूप से राज्य विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है। अत' यह स्पष्ट है कि भारतीय-सविधान के अन्तर्गत ससदात्मक पद्धति को अपनाया गया है।

तृतीय, सविधान के सशोधन के दृष्टिकोण से भारतीय-सविधान का स्वरूप कुछ मात्रा मे नमनीय है और कुछ मात्रा मे कठोर। भारतीय सविधान के विभिन्न प्रावधानो मे सशोधन के दृष्टिकोण से उन्हे तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रत्येक भाग मे उल्लेखित सविधान के प्रावधानो के सशोधन के लिए एक पृथक सशोधन प्रणाली है। सविधान के ये तीन भाग निम्नानुसार हैं :—

(क) प्रथम श्रेणी में संविधान के जो प्रावधान हैं, उनको संसद साधारण बहुमत से विधि निर्माण प्रक्रियानुसार संशोधन कर सकता है। संविधान के इन प्रावधानों के विषय हैं—राष्ट्रपति की पूर्वानुमति से संसद कानून द्वारा नये राज्यों का निर्माण कर सकती है, संघ के किसी राज्य की सीमा को परिवर्तित कर सकती है; संघ के किसी राज्य के क्षेत्र में कमी या वृद्धि कर सकती है, एवं किसी भी संघ राज्य का नाम परिवर्तित कर सकती है। नागरिकता संबंधी प्रावधानों में भी संसद को संशोधन करने का एकाधिकार है। यदि संघ के किसी राज्य में उच्च सदन है किन्तु उसकी आवश्यकता नहीं है तो राज्य की विधान-सभा के अनुरोध पर संसद संविधान में आवश्यक संशोधन कर सकती है। अतएव उपर्युक्त विषयों पर संविधान में सरलता से संशोधन किया जा सकता है।

(ख) द्वितीय श्रेणी में संविधान के कतिपय विशिष्ट प्रावधान हैं, जो वास्तव में संघ एवं राज्यों, दोनों से संबंधित हैं। इनके संशोधनों के लिए संशोधन विधेयक को दो चरणों को पार करना होता है। सर्वप्रथम, संशोधन विधेयक को संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। संसद के प्रत्येक सदन में विधेयक को सदन की कुल संख्या के बहुमत तथा उपस्थित व मतदान में हिस्सा लेनेवाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित किया जाना आवश्यक है।

द्वितीय, संसद द्वारा उपर्युक्त प्रक्रियानुसार जब विधेयक पारित हो जाता है तो वह दूसरे चरण में प्रवेश करता है, जिसमें उक्त संशोधन विधेयक को संघ के राज्यों में से कम से कम आधे राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा स्वीकृति मिलना चाहिये। तत्पश्चात् राष्ट्रपति की सहमति से संविधान में आवश्यक संशोधन लागू होगा। संविधान संशोधन की यह प्रक्रिया संविधान के उन विभिन्न प्रावधानों के लिए आवश्यक है, जो निम्नांकित विषयों से संबंधित हैं।

१—राष्ट्रपति का निर्वाचन (अनुच्छेद ५४)

२—राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रणाली (अनुच्छेद ५५)

३—संघ की कार्यपालिका शक्ति की सीमा (अनुच्छेद ७३)

४—संघ व राज्यों की कार्यपालिका शक्ति की सीमा (अनुच्छेद १६२)

५—केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय (अनुच्छेद २४१)

६—संघीय न्यायपालिका।

७—संघ के विभिन्न राज्यों में उच्च न्यायालय।

८—संघ एवं राज्यों के व्यवस्थापन संबंधी प्रावधान (सातवीं अनुसूची में संघ, राज्य एवं समवर्ती सूचियाँ)

९—संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व।

१०—संविधान के संशोधन की प्रक्रिया, जो अनुच्छेद ३६८ में निहित है।

भारत के संविधान के उपर्युक्त प्रावधानो का संशोधन करने की प्रक्रिया जटिल है जिसके फलस्वरूप इन प्रावधानो को कठोर माना जा सकता है।

(ग) तृतीय श्रेणी मे संविधान के वे समस्त प्रावधान रखे जा सकते है जो प्रथम दो श्रेणियो मे नही हैं। इनको संशोधित करने के लिए संसद मे किसी सदन मे संशोधन के लिए विधेयक को प्रस्तुत किया जा सकता है। संसद के प्रत्येक सदन मे विधेयक को सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित एव मतदान मे हिस्सा लेने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाना आवश्यक है। तत्पश्चात्, राष्ट्रपति की सहमति मिलने पर विधेयक पारित माना जायेगा, और संविधान मे आवश्यक संशोधन लागू होगा। यह प्रक्रिया थोडी जटिल है क्योकि यह साधारण विधि-निर्माण प्रक्रिया से भिन्न है।

संक्षेप मे, संविधान के विभिन्न प्रावधानो मे संशोधन के सन्दर्भ मे यह कथन उचित है कि भारत का संविधान कुछ मात्रा मे नमनीय है, तथा कुछ मात्रा मे कठोर है।

चतुर्थ, भारत का संविधान लिखित होने के साथ-साथ देश का सर्वोच्च कानून है। अमरीकी संविधान के सदृश भारतीय संविधान को मूल कानून तथा साधारण कानूनो की भिन्नता के सिद्धान्त के सन्दर्भ मे, देश का सर्वोच्च या मूल कानून माना गया है। अमरीकी संविधान मे अनुच्छेद ६ के अन्तर्गत संविधान को देश के सर्वोच्च कानून की संज्ञा दी गई है, किन्तु भारतीय संविधान मे ऐसा कोई विशिष्ट प्रावधान नही है। तथापि भारतीय संविधान मे नागरिक के मूल अधिकारो एव संघवाद को मान्यता देने के फलस्वरूप संविधान स्वत देश का मूल कानून (सर्वोच्च कानून) हो जाता है, जिसके संरक्षण का दायित्व न्यायपालिका के कन्धो पर है। अन्य अध्याय मे आगे विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना एव संविधान के अन्य प्रावधानो के अध्ययनोपरान्त हम संविधान के अधोलिखित उल्लेखनीय सिद्धान्तो का आभास होता है :—

१—भारत के संविधान का स्वरूप लोक तन्त्रात्मक है, क्योकि न केवल इसका निर्माण जनतान्त्रिक पद्धतिनुसार किया गया है, अपितु इसके आधारभूत सिद्धान्त भी जनतान्त्रिक है।

२—भारत के संविधान के अन्तर्गत भारत को एक सार्वभौम लोकतन्त्रीय गण-राज्य के रूप मे अंगीकृत किया गया है।

३—संविधान के अन्तर्गत एक धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है।

४—भारतीय संविधान लोक-कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्तो पर आधारित है।

५—भारतीय संविधान द्वारा राष्ट्रीय एकता के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है।

६—भारतीय-सविधान मे सघवाद को मान्यता देने के साथ-साथ कतिपय एकात्मक प्रवृतियो को भी स्थान दिया गया है।

७—भारतीय-सविधान के अन्तर्गत सघीय एव विभिन्न राज्य-सरकारें, ससदात्मक पद्धति के सिद्धान्त पर आधारित हैं।

८—भारत के सविधान मे नमनीय एव कठोर अशो का समावेश है।

९—भारत का सविधान लिखित होने के साथ-साथ देश का मूल या सर्वोच्च कानून है।

नागरिकता

१९४७ मे भारत के दो सार्वभौम देशो से विभाजित होने के कारण, भारत तथा पाकिस्तान मे अधिक बडी सख्या मे नागरिको का देशातर हुआ। अतएव भारतीय सविधान निर्माताओ को भारतीय नागरिकता की परिभाषा को निर्धारित करने मे कुछ कठिनाइयो का सामना करना पडा। उदाहरण स्वरूप, पाकिस्तान मे लाखो शरणार्थियो को भारत आना पडा, अन्य कुछ लोग पाकिस्तान से आना चाहते थे, किन्तु नागरिकता सबधी अधिनियम के निर्मित होने तक उनको भारत आने का अवसर प्राप्त नही हुआ था, अन्य कुछ लोग भारत से पाकिस्तान चले गये थे, किन्तु कुछ समय पश्चात् वे भारत लौट आये, और अन्त मे, कुछ लोग विदेशो मे रह रहे थे, किन्तु वे भारत की नागरिकता को ग्रहण किये रखना चाहते थे। अत, इन सभी वर्गों के लिए नागरिकता सबधी व्यवस्था करना सविधान सभा की प्रारूप समिति के लिए एक अत्यधिक कठिन कार्य था।

इस सदर्भ मे सविधान मे, सविधान लागू होने के समय केवल इसका उल्लेख किया गया कि, नागरिकता के लिए किन-किन योग्यताओ की आवश्यकता है। नागरिता से सबधित भविष्य मे समस्त मामले, जैसे नागरिकता की प्राप्ति एव नागरिकता का लुप्त होना, सविधान के अनुच्छेद ११ के अनुसार सघ ससद-कानून द्वारा तय करेगी। जिन व्यक्तियो को सविधान के लागू होने के समय से नागरिकता प्राप्त हुई है, वे उस नागरिकता के अधिकार को प्राप्त किये रहेगे, किन्तु ससद को इस विषय पर कानून, निर्माण करने का पूर्ण अधिकार है। अत सविधान मे नागरिकता के सबध मे कोई स्थायी व्यवस्था नही की गयी है।

सविधान के प्रारम्भ होने के समय पांच श्रेणियो के नागरिको को मान्यता प्रदत्त की गई। ये श्रेणियाँ निम्नानुसार हैं।

१ भारतीय उद्भव के समस्त व्यक्ति अर्थात जो स्वय या जिनके माता-पिता भारत में उत्पन्न हुए हैं तथा वे समस्त व्यक्ति जो भारतीय क्षेत्र मे अधिवासी रहे है या वे समस्त व्यक्ति जो सविधान के प्रारम्भ होने के पूर्व की क्रम से कम पांच वर्ष की अवधि तक भारत के निवासी रहे हो। अधिकाश भारत के नागरिक इसी श्रेणी के है।

२ वे व्यक्ति जिन्होंने पाकिस्तान से भारत को जुलाई १६, १६४८ से पूर्व देशांतर किया तथा जो देशांतर करने के पश्चात् भारत मे निवास कर रहे हैं और वे या उनके माता-पिता मे से कोई एक या उनके पितामह अविभाजित भारत मे पैदा हुए हो। इस श्रेणी मे अधिकाश हिन्दू तथा सिक्ख हैं जिनको भारत विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान से भारत आना पडा। जुलाई १६, १६४८ से इस प्रकार देशान्तर के लिये अनुज्ञापत्र प्रणाली प्रारम्भ की गई थी।

३ वे व्यक्ति जिन्होंने पाकिस्तान से भारत को जुलाई १६, १६४८ के पश्चात् देशांतर किया, और भारत मे छ माह निवास करने के पश्चात् उनके आवेदन पत्र देने पर योग्य प्राधिकारी द्वारा सविधान के लागू होने के पूर्व उनका पंजीकरण कर लिया गया है। चूंकि ऐसे व्यक्तियो को कम से कम छ माह तक सविधान के प्रारम्भ होने के पूर्व, भारत मे निवास करना आवश्यक है, अत यह स्पष्ट है कि भारत मे उनका निवास जुलाई २५, १६४६ के बाद नही प्रारम्भ हुआ हो।

४. साधारणतया वे व्यक्ति जिन्होने भारत से पाकिस्तान मार्च १, १६४७ के बाद देशांतर किया है वे भारतीय नागरिकता के योग्य नही होंगे, परन्तु इनमे से जिनको पुर्निवास के लिए वापस लौटने के लिए अनुज्ञापत्र दिया गया है उनको नागरिकता प्रदत्त की जा सकती है, बशर्ते वे उन शर्तों को पूरा करते है, जो उन व्यक्तियो के लिए लागू होती है जिन्हाने पाकिस्तान से भारत को जुलाई १६, १६४८ के पश्चात् देशांतर किया। यह प्रावधान उन मुस्लिम परिवारो के लिए किया गया था जो साम्प्रदायिक उपद्रवो या बाध्यकारी परिस्थितियो के कारण भारत छोडकर चले गये थे, यद्यपि उनकी भारत छोडने की बिल्कुल इच्छा नही थी। इस कारण, भारत सरकार ने उनको वापस लौटने की अनुमति दे दी थी। इन लोगो की सख्या दो या तीन हजार से अधिक नही थी।

५ यदि विदेशो मे रह रहे भारतीय उद्भव के व्यक्ति सविधान के प्रारम्भ होने के पूर्व या उसके पश्चात् नागरिकता के लिए आवेदन देते हैं और भारतीय दूतावास द्वारा उनका पंजीकरण कर लिया जाता है, तो उनको भारतीय नागरिकता प्राप्त हो जायेगी। कोई भी व्यक्ति जिसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता ग्रहण कर ली है वह भारत का नागरिक नहीं हो सकता है।

सामान्यत. नागरिक के तीन आधार होते हैं। सर्व प्रथम, रक्त सबधी सिद्धात (जस सेंगविनिस) नागरिकता का एक आधार माना जा सकता है। रक्त सबधी

सिद्धान्त के अनुसार नागरिकता किसी व्यक्ति को उसके माता-पिता की नागरिकता के अनुसार प्राप्त होती है। इस सिद्धांत के अंतर्गत नागरिकता प्राप्त करने के लिए जन्मस्थान या निवास का कोई महत्व नहीं है। फ्रांस एवं इटली आदि देशों में नागरिकता रक्त सिद्धान्त के आधार पर ही निर्धारित की जाती है। इस दृष्टिकोण से फ्रान्सीसी या इतालवी माता पिता की संतान का, उनका जन्म चाहे कहीं क्यों न हुआ हो, फ्रांस या इटली का क्रमशः नागरिक ही माना जायगा।

द्वितीय, जन्म भूमि सिद्धान्त नागरिकता प्रदान करने का दूसरा आधार है। जन्म-भूमि सिद्धांत (जस सोली) के अनुसार किसी व्यक्ति की नागरिकता उसके जन्मस्थान के आधार पर निर्धारित की जायगी। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति उस देश का नागरिक है, जहां उसका जन्म हुआ है।

तृतीय, कतिपय देशों में रक्त संबंधी एवं जन्मभूमि संबंधी, दोनों सिद्धान्तों के अनुसार नागरिकता निर्धारित की जाती है। उदाहरण स्वरूप, ब्रिटेन में दोनों सिद्धान्तों को मान्यता दी गई है। ब्रिटिश माता-पिता की संतान जिनका जन्म विदेश में हुआ है, ब्रिटिश नागरिक ही माने जायेंगे। इसके अतिरिक्त, विदेशियों की संतान जिनका जन्म ब्रिटेन में हुआ है, को भी ब्रिटिश नागरिक माना जायेगा।

मुख्यतः भारतीय संविधान निर्माताओं ने नागरिकता के जन्म-स्थान-सिद्धान्त (जस सोली) को ही मान्यता प्रदत्त की है, क्योंकि, प्राथमिक रूप में भारतीय संविधान द्वारा नागरिकता निम्नलिखित श्रेणियों के व्यक्तियों को प्रदत्त की गई है।

(क) जो व्यक्ति भारत के स्थायी निवासी हैं, और वे या उनके माता-पिता भारतीय भू भाग में पैदा हुए हैं, या

(ख) वे व्यक्ति जो साधारणतया भारतवर्ष में कम से कम पांच वर्ष तक निवास कर चुके हैं।

तथापि, कुछ मात्रा में भारतीय-संविधान द्वारा नागरिकता के रक्त संबंधी सिद्धान्त को भी अपनाया गया है। किसी व्यक्ति की नागरिकता के लिये संविधान के अन्तर्गत यह नहीं आवश्यक है कि वह व्यक्ति स्वयं भारत में पैदा हुआ हो, किन्तु यदि उसके माता-पिता या उनमें से किसी एक या उसके पितामह का जन्म भारत में हुआ हो तो, उक्त व्यक्ति को नागरिकता मिल सकती है। इस दृष्टिकोण से यह कहना उचित होगा कि कुछ मात्रा में, भारतीय-संविधान के अंतर्गत नागरिकता के रक्त संबंधी सिद्धान्त को स्वीकृत किया गया है।

संविधान के नागरिकता संबंधी प्रावधान अन्तिम नहीं है। संविधान के अनुच्छेद ११ के अनुसार नागरिकता के विषय पर संसद को विस्तृत शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं। अतएव १९५५ में संसद ने भारतीय नागरिकता अधिनियम, १९५५ पारित

किया, जिसमें नागरिकता की प्राप्ति, समाप्ति एवं अन्य सबंधित विषयों का विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण किया गया है।

भारतीय नागरिकता अधिनियम १९५५ का अध्ययन निम्नलिखित मुद्दों के आधार पर किया जा सकता है :

१. नागरिकता की प्राप्ति—

भारतीय नागरिकता अधिनियम १९५५ के अन्तर्गत नागरिकता पाँच प्रकार से प्राप्त की जा सकती हैं

जन्म के आधार पर—

जनवरी २६, १९५० को या इसके पश्चात् जो व्यक्ति भारत में पैदा हुआ है, उसको भारत का नागरिक माना जायेगा। किन्तु विदेशी दूतावास के उन लोगों की, जो भारत के नागरिक नहीं हैं, सतान को भारतीय नागरिक नहीं माना जायेगा। इसके अतिरिक्त, विदेशी शत्रु द्वारा कब्जा किये हुए क्षेत्र में पैदा हुए शत्रु की सन्तान को भी भारत का नागरिक नहीं माना जायेगा।

उद्भव या वंशाधिकार के आधार पर—

प्रत्येक व्यक्ति जिसका जन्म जनवरी २६, १९५० को या इसके पश्चात् भारत के बाहर हुआ है, परन्तु उसके जन्म के समय यदि उसके पिता भारत के नागरिक रहे हों, उसको भारत का नागरिक माना जायेगा।

पंजीकरण द्वारा—

पंजीकरण द्वारा निम्नलिखित पाँच प्रकार के व्यक्ति भारत की नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं।

(क) भारतीय नागरिकों से विवाहित स्त्रियाँ।

(ख) भारतीय नागरिकों की नाबालिक सन्तान।

(ग) वे व्यक्ति जो साधारणतया भारत में निवास कर रहे हों और जो पंजीकरण कराने हेतु आवेदन पत्र देने से पूर्व कम से कम छः माह से भारत में रह रहे हों।

(घ) वे भारतीय जो अविभाज्य भारत के बाहर किसी देश या स्थान में साधारणत निवास कर रहे हों।

(ङ) राष्ट्र मंडलीय राष्ट्रों तथा आयरलैंड के गणतन्त्र के वयस्क।

नागरिकीकरण द्वारा—

नागरिकीकरण या देशीयकरण द्वारा भी भारत की नागरिकता प्राप्त की जा सकती है। नागरिकीकरण के लिए आवेदन देना आवश्यक होगा। तत्पश्चात्,

संघ सरकार अपने निर्णयानुसार नागरिकता प्रदत कर सकती है। नागरिकीकरण के लिए किसी विदेशी को निम्नलिखित आवश्यकताओं को पूरा करना होगा।

(क) वह व्यक्ति बालिग हो।

(ख) वह जिस देश का है, उसकी नागरिकता को उसने त्याग दिया हो और इसकी सूचना भारत सरकार को दे दी हो।

(ग) नागरिकीकरण के लिए प्रार्थना पत्र देने से तत्काल पूर्व कम से कम एक वर्ष भारतवर्ष मे निवास कर चुका हो या भारत मे किसी सरकार की नौकरी मे रहा हो, या भारत मे निवास या कोई नौकरी करते हुए कुल एक वर्ष पूरा कर लिया हो।

(घ) उपर्युक्त उल्लिखित एक वर्ष से पूर्व सात वर्ष तक भारत मे रह चुका हो या भारत मे किसी सरकार के अधीन कार्य कर चुका है अथवा भारत मे निवास करने और भारत मे किसी सरकार के अधीन कार्य करते हुए कुल सात वर्ष पूरे कर लिये हो।

(ङ) वह ऐसे देश का निवासी या नागरिक नही हो जहाँ भारत के नागरिको का, कानून या व्यवहार के अनुसार नागरिकीकरण वर्जित है।

(च) उस व्यक्ति का चरित्र उत्तम हो।

(छ) उस व्यक्ति को किसी एक भारतीय भाषा का ज्ञान हो।

(ज) वह व्यक्ति भारत मे निवास करना या भारत मे किसी सरकार के अधीन या किसी अतर्राष्ट्रीय सस्था मे, जिसका भारत सदस्य है, या भारत मे स्थापित किसी सस्था मे या कम्पनी मे नौकरी करने का इच्छुक हो।

यदि आवेदक ऐसा व्यक्ति है जिसने विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, विश्वशांति एव मानव-प्रगति के क्षेत्र म विशिष्ट सेवा की हो तो भारत सरकार उपर्युक्त सभी या किसी शर्त को उस व्यक्ति के सबध मे समाप्त कर सकती है।

ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जिसका नागरिकीकरण हुआ है भारतीय सविधान के प्रति निष्ठा की शपथ ग्रहण करना आवश्यक है तथा उसको यह भी शपथ लेनी होगी कि वह भारत के कानूनो एव अपने (भारत के नागरिक के रूप मे) कर्तव्यो का पालन निष्ठापूर्वक करेगा।

भारत मे किसी क्षेत्र के निर्गमन द्वारा—

यदि किसी क्षेत्र का निर्गमन भारत क्षेत्र मे हो जाता है तो भारत सरकार आदेश द्वारा यह घोषित कर सकती है कि उस क्षेत्र के किन व्यक्तियो को नागरिक माना जायेगा। ऐसे व्यक्ति घोषणा की तिथि से भारत के नागरिक माने जायेंगे।

२

२ नागरिकता की समाप्ति—

भारतीय नागरिकता अधिनियम १९५५ के अंतर्गत निम्नलिखित तीन प्रकार से नागरिकता का अंत हो सकता है।

त्याग द्वारा—

भारत का कोई भी नागरिक जो किसी विदेश का भी नागरिक है घोषणा द्वारा भारत की नागरिकता त्याग सकता है। जब इस घोषणा का पंजीकरण, सम्बन्धित प्राधिकारी द्वारा कर लिया जाता है, इस तिथि से वह व्यक्ति भारत का नागरिक नहीं रहता।

समाप्ति द्वारा—

यदि भारत का कोई नागरिक नागरिकीकरण पंजीकरण या किसी अन्य तरीके से किसी विदेश की नागरिकता प्राप्त करता है उसकी भारतीय नागरिकता समाप्त मानी जायगी।

नागरिकता से वंचित करके—

भारत सरकार को निम्नलिखित व्यक्तियों को नागरिकता से वंचित करने का अधिकार है।

यदि किसी व्यक्ति ने धोखे या झूठ से या तथ्यों को छिपा कर नागरिकता प्राप्त की है तो भारत सरकार उसको नागरिकता से वंचित कर सकती है या

यदि कोई नागरिक अपने व्यवहार या भाषण द्वारा भारतीय संविधान के प्रति अपना अमान्यापूर्ण तथा द्रोह प्रदर्शित करता है तो भारत सरकार उसको नागरिकता से वंचित कर सकती है, या

यदि किसी नागरिक ने एक युद्ध में जिसमें भारत सम्मिलित है, शत्रु से अवैधानिक रूप से व्यापार या सम्पर्क किया या उसके ज्ञात होने पर भी कि वह कार्य शत्रु को युद्ध में सहायता पहुँचायगा, उसमें भाग लिया या

यदि भारतीय नागरिकता प्राप्त करने के पांच वर्षों में देश के किसी न्यायालय द्वारा उसे कम-से-कम दो वर्ष का दण्ड मिला हो, या

यदि कोई नागरिक सात वर्षों तक लगातार साधारणतः भारत से बाहर निवास करता रहा हो और इस समयावधि में भारत के बाहर विदेश में किसी शैक्षणिक संस्था में विद्यार्थी नहीं रहा हो या भारत में किसी सरकार या किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के, जिसका भारत एक सदस्य है, अधीन सेवा में न रहा हो, और न ही उसने भारत में नागरिक बने रहने के लिए

विदेश में भारतीय दूतावास में पंजीकरण कराया है, तो ऐसे व्यक्ति को भारत सरकार नागरिकता से वंचित कर सकती है।

किसी भारतीय नागरिक को उसकी नागरिकता से वंचित करने के पूर्व भारत सरकार को उसको लिखित नोटिस देना आवश्यक होगा, जिसमें *उस नागरिक को, नागरिकता से वंचित करने के कारण बतलाए जाना आवश्यक है।* भारतीय नागरिकता अधिनियम में एक जांच समिति के लिए प्रावधान किया गया है, जो ऐसे मामलों की जांच करेगी। साधारणतः भारत सरकार इस विषय पर जांच समिति के प्रतिवेदन के अनुसार अपना निर्णय देगी।

भारतीय नागरिकता अधिनियम १९५५ द्वारा राष्ट्र मंडलीय नागरिकता के लिए भी प्रावधान किया गया है। इस अधिनियम की धारा ११ के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को, जो ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा, लंका, न्यूजीलैण्ड पाकिस्तान, रोडेशिया एवं न्यासालैण्ड संघ तथा आयरलैण्ड के गणतन्त्र का नागरिक है, इस प्रकार की नागरिकता के आधार पर भारत में राष्ट्र-मण्डलीय नागरिक माना जायेगा। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम की धारा १२ के अनुसार भारत सरकार परस्पर सम्बन्धों के आधार पर उपर्युक्त राष्ट्र मंडलीय देशों के नागरिकों को भारत के नागरिक के समस्त एवं कुछ अधिकारों को देने के लिए आदेश द्वारा प्रावधान कर सकती है।

भारत के संविधान के अंतर्गत केवल एक ही नागरिकता के लिए प्रावधान किया गया है। सम्पूर्ण देश के लिए भारतीय संविधान एकल नागरिकता को ही मान्यता देता है, और डॉ० अम्बेदकर के शब्दों में यह भारतीय नागरिकता है। संयुक्त राज्य अमरीका एवं स्विट्जरलैण्ड में, जो संघ राज्य है दोहरी नागरिकता को अपनाया गया है, संघ नागरिकता और संघ के जिस राज्य में एक व्यक्ति अधिवासी है, उस राज्य की नागरिकता। भारत में प्रांतीय एवं संकीर्ण भावनाओं को रोकने तथा राष्ट्रीयता एवं देश भक्ति की भावनाओं को सशक्त करने हेतु संविधान में एकल नागरिकता को ही मान्यता दी गई है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक नागरिक को भारत के संविधान के अंतर्गत समान अधिकार एवं कर्त्तव्य प्राप्त है।

३

नागरिकों के मूल अधिकार

सामान्यत, एक जनतान्त्रिक राज्य की दो मूल आवश्यकताएँ होती हैं। सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि सरकार के तीन अंगों—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एव न्यायपालिका के सगठन तथा शक्तियो का आधार जनतान्त्रिक सिद्धात हो। द्वितीय, यह भी आवश्यक है कि राजसत्ता तथा नागरिकों के मूल अधिकारो के मध्य जनतान्त्रिक सन्तुलन हो। जनतान्त्रिक सरकार अपने कार्यों और नीतियो मे जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है। इसके अतिरिक्त, जनतान्त्रिक सरकार का यह कर्तव्य है कि नागरिक के मूल अधिकारो का अन्य नागरिको या स्वय सरकार के अतिक्रमण से सरक्षण करें। इस प्रकार सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि नागरिकों एव राज्य के हितो का समन्वय तथा सतुलन जनतान्त्रिक आधार पर करें, क्योंकि वास्तव मे राज्य और नागरिकों के हितो मे कोई अतर्द्वन्द नही है। सरकार अपने इस कार्य को देश के मूल कानून (सविधान) के अनुकूल ही सफलतापूर्वक कर सकती है, न कि अपनी इच्छानुसार। एक जनतान्त्रिक राज्य मे न तो राज्य और न ही नागरिको के असीमित अधिकार हो सकते हैं। यदि राजसत्ता और नागरिको के मूल अधिकारो मे जनतान्त्रिक सन्तुलन नही है, तो जनतत्र का कोई मूल्य नही हो सकता है।

"एक कानूनी अधिकार एक ऐसा हित है जिसका सरक्षण कानून द्वारा होता है और जिसको न्यायालय लागू करते है। जबकि एक साधारण कानूनी अधिकार का सरक्षण और लागू करना देश के साधारण कानून द्वारा होता है, एक मूल अधिकार का सरक्षण और आश्वासन राज्य के लिखित सविधान द्वारा होता है। इन अधिकारो को मूल अधिकार कहा जाता है क्योंकि साधारण अधिकारों को व्यवस्थापिका द्वारा साधारण विधि-निर्माण प्रक्रियानुसार परिवर्तित किया जा सकता है जबकि एक मूल अधिकार को सविधान-सशोधन प्रक्रिया के अलावा किसी अन्य प्रक्रिया द्वारा सशोधित नही किया जा सकता है। दूसरी ओर मूल अधिकार देश के मूल कानून (सविधान) द्वारा आश्वासित होते हैं अत सरकार का कोई अग कार्यपालिका, व्यवस्थापिका या न्यायपालिका, इनके विरुद्ध कार्य नही कर

सकता है और इस प्रकार का कोई भी राज्य-कार्य जो मूल अधिकारों के विरुद्ध है अवैध होना चाहिये।"[1]

यह स्पष्ट है कि किसी भी अधिकार को मूल अधिकार नहीं कहा जा सकता है यदि व्यवस्थापिका या कार्यपालिका उसका उल्लंघन करती है और संविधान के अन्तर्गत इसके लिए कोई संवैधानिक उपचार न हो। मुख्य-न्यायाधीश श्री शास्त्री ने गोपालन बनाम मद्रास राज्य के प्रकरण में इस विषय पर कहा था— मूल अधिकारों को संविधान के प्रारम्भ में और साथ में व्यवस्थापिका के इन अधिकारों में हस्तक्षेप के संबंध में एक विशिष्ट मुमानियत (अनुच्छेद १३) रखना और इस मुमानियत को लागू करने के लिए न्यायिक पुनरावलोकन का संवैधानिक प्रावधान (अनुच्छेद ३२) करना इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि यह अधिकार साधारण कानूनों में सर्वोच्च है।"[2]

एक लिखित जनतान्त्रिक संविधान में मूल अधिकारों के लिए प्रावधान करने के निम्नलिखित कारण होते हैं, जिनसे मूल अधिकारों की महत्ता भी स्पष्ट हो जाती है।

सर्वप्रथम, संविधान में मूल अधिकारों को रखने के पीछे यह तर्क है कि जनतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी महत्ता होती है। वास्तव में जनतान्त्रिक राज्य का समस्त दर्शन प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व की महत्ता पर आधारित है। इस धारणा के अनुसार राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करते हुए समस्त समाज के कल्याण की प्राप्ति करना है। परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति तभी सम्भव है जब प्रत्येक नागरिक को उसके अधिकारों के उपभोग के लिए समान अवसर प्राप्त हो और इन अधिकारों की सुरक्षा का सबसे प्रभावशाली आश्वासन इनको संविधान में रखना है।

द्वितीय, मूल अधिकारों को संविधान में स्थान देने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का एक विशिष्ट क्षेत्र स्थापित होता है। "संविधान में मूल अधिकार वह यन्त्र है जिनके द्वारा सरकार की निरंकुशता रोकी जाती है, और प्रत्येक व्यक्ति के 'प्राकृतिक अधिकारों के' क्षेत्र को राजनीतिक हस्तक्षेप से सुरक्षित किया जाता है।"[3] राज्य द्वारा इस क्षेत्र में अतिक्रमण निःसंदेह अवैध होगा। विशेषकर, भारत में जहाँ एक राजनीतिक दल का विशाल बहुमत है जहाँ कोई प्रतिपक्षी दल इस

१ डी० डी० बसु-'कमेन्ट्री आन द कान्स्टीट्यूशन आफ इंडिया', भाग—१, १९६५ पृ० १२६।

२ शास्त्री—गोपालन बनाम मद्रास राज्य।

३ सी० जे० फ्राईड्रिक—'कान्स्टीट्यूशनल गवर्मेंट एण्ड डेमोक्रेसी', १९५०, पृ० ४२६।

स्थिति में नहीं है कि केन्द्र में वैकल्पिक सरकार का गठन कर सके, संविधान में उल्लिखित मूल अधिकार ही प्रतिपक्षी दलों के लिए उस हथियार के रूप में हैं, जिनके आधार पर अपने विचारों तथा भाषण की स्वतन्त्रता द्वारा, वे सत्तारूढ़ दल की निरंकुश प्रवृत्ति को रोक सकेंगे। प्रगति और जनकल्याण के नाम में सत्तारूढ़ दल ऐसे कई कार्य कर सकता है जो नागरिक के अधिकारों के विरुद्ध हों। अतएव, मूल अधिकारों को संविधान में रखना तथा उनको संविधान में उल्लिखित संशोधन-प्रक्रिया के अनुसार ही संशोधित करना, नागरिकों को, मूल अधिकारों के लिए एक ठोस आश्वासन है कि सरकार में परिवर्तन के बावजूद भी, उनके अधिकारों में बिना संशोधन-प्रक्रिया को उपयोग में लाये हुए, परिवर्तन नहीं किये जा सकते हैं। श्री एम० सी० छागला ने ठीक ही कहा है—"भारत में एक और डर है, हमारे यहाँ प्रतिपक्षी दल का एक जनतांत्रिक शोधक के रूप में अभाव है। हमारी संसदीय संस्थाओं में, ब्रिटेन की संस्थाओं पर आधारित होने के उपरान्त भी, उस अवरोध की कमी है जो इंगलैण्ड में निरंकुश शासन के विरुद्ध पाई जाती है। हमारे यहाँ एक राजनीतिक दल का शासन है, जिसके स्थान पर अन्य दल सत्तारूढ़ हो सकता है। निरंकुश तन्त्रों में अधिक खतरनाक निरंकुश तन्त्र वह है जो जनतांत्रिक आवरण में है। एक निरंकुश तन्त्र को, जो जनता के मत द्वारा सत्तारूढ़ हुआ है, न किसी से डरने की, न पछताने की आवश्यकता है, अतएव हमारे संविधान निर्माताओं को श्रेय देना चाहिये कि उन्होंने व्यवस्थापिका की, जो एक या शक्तिशाली दल के आधिपत्य में है, सम्भावित निरंकुशता के विरुद्ध रक्षा के लिए प्रावधान किया।"[1]

तृतीय, नागरिकों के मूल अधिकारों को संविधान में रखने का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि संविधान में, जो देश का सर्वोच्च कानून है, मूल अधिकारों के रहने से इनको राजनीतिक मतभेदों के दायरे से ऊपर उठा दिया जाता है। "व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता, प्रेस-स्वतन्त्रता, पूजा करने की और इकट्ठा होने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति तथा भाषण देने की स्वतन्त्रता और अन्य मूल अधिकार मतदान के लिए प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं, वे किसी चुनाव के परिणामों पर निर्भर नहीं है।"[2]

नागरिकों के मूल अधिकारों को संविधान में रखने के लिये उपरोक्त तर्कों के दृष्टिकोण से स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न खड़ा होता है कि ब्रिटेन में, मूल अधिकारों को लिखित एवं स्पष्ट रूप से क्यों नहीं रखा गया है? ब्रिटेन में लिखित संविधान

१. एम० सी० छागला—'द इन्डिविजुअल एन्ड द स्टेट', १९५८ पृ० ११।

२. जे० जैक्सन—'वेस्ट वर्जिनिया राज्य शिक्षा मन्डल बनाम बार्नेट', ३१६, यू० एस० ६२४, १९४३।

नही है। वास्तव मे ब्रिटिश सविधान के सिद्धान्तो का विकास ऐतिहासिक रूप से ब्रिटिश नागरिको के मूल अधिकार व विधि शासन मे निहित है। इगलैण्ड म सविधान के सिद्धान्त सविधान मे (जो लिखित सविधान नही है) पैदा नही होते, परन्तु स्वय सविधान की उत्पत्ति तथा आधार मूल अधिकारो म है।"[1] ब्रिटिश नागरिको के अधिकारो के अस्तित्व की ब्रिटिश राजनीतिक प्रणाली मे इतनी अधिक गहरी जडे है, कि ब्रिटेन म प्रश्न यह नही पैदा होता है कि अधिकार है पर यह कि अधिकारो को लागू करवाने के लिए कौन से प्रभावशाली कदम उठाने चाहिए।

भारत मे मूल अधिकारो के अस्तित्व को ब्रिटेन की तरह कोई काल्पनिक या भावात्मक आधार पर नही छोडा जा सकता था। अतएव भारत के सविधान मे नागरिको के मूल अधिकारो को एक विशेष स्थान दिया गया है, और साथ ही न्यायपालिका को इन अधिकारो के सरक्षण का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

मूल अधिकारो के प्रकार

भारतीय सविधान के तीसरे अध्याय मे भारत के नागरिको के सात मूल अधिकारो का उल्लेख किया गया है। वे हैं १–समानता का अधिकार, २–स्वतन्त्रता का अधिकार, ३–शोषण के विरुद्ध अधिकार, ४–धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, ५–सास्कृतिक तथा शैक्षणिक अधिकार, ६–सम्पति का अधिकार, और ७–सवैधानिक उपचारो का अधिकार।

उपर्युक्त उल्लिखित मूल अधिकारो को दो श्रेणियो मे उनके स्वरूप के आधार पर रखा जा सकता है।

अ–पृथक् सत्तापूर्ण या सकारात्मक अधिकार, जैसे १–समानता का अधिकार, २–स्वतन्त्रता का अधिकार, ३–शोषण के विरुद्ध अधिकार, ४–धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार ५–सास्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार, ६–सम्पति का अधिकार। इनमे प्रत्येक अधिकार का स्वरूप सकारात्मक है, क्योकि इनके माध्यम से नागरिको के व्यक्तित्व के विकास मे सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त, इसमे से प्रत्येक अधिकार की पृथक् सत्ता एव अस्तित्व है।

ब–उपचार सबधी या कार्यविधिक अधिकार। भारत के सविधान मे सातवें अधिकार, सवैधानिक उपचारो के अधिकार का स्वरूप इस प्रकार का है। इसका उद्देश्य नागरिको के सकारात्मक या पृथक सत्तापूर्ण अधिकारो के उल्लघन होने पर एक विशिष्ट कार्य विधि के अनुसार पर्याप्त उपचार प्रदत्त करना है।

जबकि सकारात्मक या पृथक सत्ताधारी अधिकारो द्वारा नागरिको के लिए ऐसे क्षेत्र का निर्धारण होता है, जिसमे सरकार कोई ऐसी पक्षपात पूर्ण कार्यवाही

---

१. जी० एन० जोशी-'द कान्स्टीट्यूशन आफ इडिया', १९५२, पृ० ६१।

नही कर सकती, जिससे इन अधिकारो का उल्लघन हो, सवैधानिक उपचारो के अधिकार के अन्तर्गत उस कार्यविधि को निर्धारित किया गया है जिसके अनुसार राज्य का, नागरिको के किसी सकारात्मक अधिकार के उल्लघन होने की स्थिति मे, यह कर्तव्य होगा कि पीडित नागरिक के लिए उपचार की व्यवस्था करे। भारत के सविधान के अन्तर्गत सवैधानिक उपचारो का अधिकार एक प्रभावशाली औषधि के रूप मे है, जिसके उपयोग से किसी मूल अधिकार के उल्लघन के परिणाम स्वरूप पीडित नागरिक को पर्याप्त उपचार तुरन्त प्राप्त हो सकेगा। अत. सवैधानिक उपचारो का अधिकार राज्य द्वारा सत्ता के सम्भवत. दुरुपयोग पर, जिससे नागरिको के अधिकारो का हनन हो, एक महत्वपूर्ण अवरोध है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सविधान निर्माताओ ने अपनी दूरदर्शिता एव विद्वत्ता का परिचय देते हुए राज्य एव नागरिको के उपर्युक्त सबधो की पृष्ठभूमि मे, राज्यसत्ता पर दो महत्वपूर्ण जनतात्रिक अवरोधो को रखा, जिससे नागरिको के मूल अधिकारो को सुरक्षित रखा जा सके।

सर्वप्रथम, नागरिको के मूल अधिकारो को सविधान मे रखते हुए इन अधिकारो की मौलिकता पर प्रकाश डाला गया है। सविधान म इन अधिकारो को एक विशेष स्थान देने के फलस्वरूप इनको सविधान की पवित्रता एव सर्वोच्चता का सरक्षण प्राप्त हुआ है।

द्वितीय, सविधान निर्माताओ ने मूल अधिकारो को सविधान मे रखने के अतिरिक्त, कतिपय प्रावधानो द्वारा स्पष्ट भाषा मे यह निर्धारित किया है कि इन अधिकारो का, राज्य सत्ता के दुरुपयोग द्वारा उल्लघन न हो। अनुच्छेद १२ के अन्तर्गत राज्य से तात्पर्य है भारत सरकार एव भारतीय ससद, प्रत्येक राज्य की सरकार तथा राज्य विधान-सभा, तथा भारत मे स्थानीय या अन्य अधिकारी। इस प्रकार अनुच्छेद १२ द्वारा 'राजसत्ता' का उपर्युक्त अर्थ बतलाया गया है। अनुच्छेद १३ के अनुसार राज्य (जिसका अर्थ अनुच्छेद १२ म दर्शाया गया है) द्वारा निर्मित कानून जो मूल अधिकारो के विरुद्ध है, अवैध माने जायेगे। अनुच्छेद १३, उपवन्ध २ के अनुसार कोई कानून राज्य द्वारा निर्मित नही किया जा सकता है, जो कि सविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार को समाप्त करता है या उसम विघटन करता है और इस प्रकार का कानून अवैध होगा। "सविधान के अध्याय तीन मे निहित मूल अधिकार, राज्य के समस्त अगो के विरुद्ध किले की दीवार हैं। 'राजसत्ता-व्यवस्थापन, कार्यपालिका एव न्यायपालिका सबधो — पर यह कई अवरोधो के रूप म निर्मित किये गये हैं।"[१]

---

१. एम० सी० कागजी—'कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया', १९५८ पृ० १४६।

२७ फरवरी, १९६७ को सर्वोच्च न्यायालय ने *गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य* के प्रकरण में एक महत्वपूर्ण निर्णय दिया, जिसके अनुसार संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार नहीं रहा। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गोलकनाथ प्रकरण में दिया गया निर्णय, उसके पूर्व के दो निर्णयों के विरुद्ध था, जो शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ एवं सज्जनसिंह बनाम राजस्थान राज्य के दो प्रकरणों में दिये गये थे और जिनमें सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि संसद को संविधान में उल्लेखित मूल अधिकारों का संशोधन करने का अधिकार है। अतएव जब फरवरी १९६७ में सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ प्रकरण में यह निर्णय दिया कि संसद को संविधान के अनुच्छेद १३ के अन्तर्गत मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार नहीं था, राजनीतिज्ञों तथा विधिशास्त्रज्ञों ने, विशेषकर श्रीनाथपाई ने सुझाव दिया कि संविधान के अनुच्छेद ३६८ को संशोधित कर इसमें स्पष्ट रूप से यह अतिरिक्त प्रावधान जोड़ा जाये कि संविधान के अध्याय तीन में उल्लिखित मूल अधिकारों को संशोधन करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। अतः नवम्बर ५, १९७१ को संविधान का २४वाँ संशोधन पारित किया गया, जिसके अनुसार अनुच्छेद ३६८ में यह प्रावधान जोड़ दिया गया है कि संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार है। संविधान के २४ वें संशोधन के फलस्वरूप संसद को पुनः मूल अधिकारों के संशोधन का वह अधिकार प्राप्त हो गया है जो उसको सर्वोच्च न्यायालय के गोलकनाथ प्रकरण में दिये गये निर्णय के पूर्व प्राप्त था।

मूल अधिकारों के संबंध में यह भी याद रखना आवश्यक है कि यह अधिकार असीमित नहीं है। यह एक राजनीतिक सत्य है कि असीमित अधिकारों का जनतांत्रिक राज्य में कोई स्थान नहीं हो सकता है। विशेषकर, यह ब्रिटिश एवं अमरीकी संविधानों के अन्तर्गत स्थापित जनतांत्रिक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में सत्य है। अमरीका में नागरिकों के सीमित अधिकारों के सिद्धान्त को अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने मान्यता दी।[1]

भारत में भी नागरिकों के सीमित अधिकारों के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। मुख्य न्यायाधीश दास ने, गोपालन बनाम मद्रास राज्य के प्रकरण में कहा है—'गलत कार्य करने की एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना, वास्तव में पीड़ित होने वाले *व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्त करना* है। अतएव स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने की जाँच न केवल व्यक्ति परक दृष्टिकोण से, जैसा कतिपय व्यक्तियों के संबंध में लागू किये जाने से विदित होता है, की जाना चाहिए, अपितु वस्तु

---

१. ऐडकीन्स बनाम चील्डरनस हास्पिटल, १९२३, २६१ यू० एस० ५२५।

परक दृष्टिकोण से भी कि इसके द्वारा अधिक संख्या मे व्यक्तियो की स्वतत्रता प्राप्त होती है।"[1]

अत जब कि राज्य सत्ता पर एक ओर नागरिको के मूल अधिकारो के सन्दर्भ मे सीमाएँ सविधान द्वारा लगाई गई हैं, दूसरी ओर नागरिको के मूल अधिकारो पर भी सवैधानिक सीमाएँ लगाई गई है, जिससे जनतत्र एव राज्य का अस्तित्व विद्यमान रहे।

अब यहाँ उचित होगा कि भारतीय सविधान द्वारा सात मूल अधिकारो का विस्तार पूर्वक अध्ययन किया जाये।

समानता का अधिकार

सविधान के अनुच्छेद १४-१८ मे नागरिको के समानता के अधिकार का विवरण दिया गया है। इस अधिकार के सन्दर्भ मे राजसत्ता पर कतिपय विशेष अवरोध लागू किये गये है। राजसत्ता के प्रश्न के दृष्टिकोण से समानता का अधिकार निषेधात्मक ह। इस मुद्दे पर विशेषकर अनुच्छेद १४, १५, व १६ मे बल दिया गया है, जो निम्नलिखित हैं।

अनुच्छेद १४ के अनुसार राज्य द्वारा किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता का या कानून द्वारा समान सरक्षण के अधिकार का, भारतीय प्रदेश पर, निषेध नही किया जायेगा।

अनुच्छेद १५ (१) के अनुसार राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध धर्म, वश, जाति, लिंग, जन्म के स्थान अथवा इनमे से किसी भी आधार पर भेदभाव नही करेगा। अनुच्छेद १५ के उपबन्ध २ के अनुसार धर्म, वश, जाति, लिंग, एव जन्म स्थान अथवा इनमे से किसी एक भी आधार पर नागरिक के विरुद्ध निम्नलिखित मामलो मे भेदभाव नहीं किया जायेगा —

१—दूकानो, सार्वजनिक भोजनालयो, होटलो, सार्वजनिक मनोरजनगृहो मे प्रवेश के सबध मे।

२—पूर्ण या आशिक आधार पर राज्य निधि द्वारा बने हुए या जनता के लिए बनाए गये कुएँ, तालाब, स्नानघाटो, सडको तथा सार्वजनिक स्थानो के उपयोग के सबध मे।

अनुच्छेद १५ के दो अपवाद हैं। सर्वप्रथम, राज्य स्त्रियो तथा बच्चा की प्रगति के लिए विशेष कदम उठा सकता है। द्वितीय, अनुच्छेद १५ मे उल्लिखित किसी भी प्रावधान से या अनुच्छेद २९ के उपबन्ध २ से राज्य को शिक्षा एव

---

१ गोपालन बनाम मद्रास राज्य, १९५०, एस० सी० आर० ८८, (२९२)।

सामाजिक क्षेत्र में पिछड़े हुए वर्गों एवं अनुसूचित जातियों की उन्नति के लिए कोई विशेष व्यवस्था करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी।

अनुच्छेद १६ (१) के अनुसार समस्त नागरिकों को सरकारी पद पर नियुक्ति के लिए समान अवसर उपलब्ध होंगे। अनुच्छेद १६ (२) के अनुसार केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग, उत्पत्ति, जन्म स्थान या इसमें से किसी भी आधार पर किसी नागरिक को सरकारी नौकरी या पद से वंचित नहीं किया जायगा और न भेदभाव किया जायेगा। संक्षेप में अनुच्छेद १६ राज्य पर एक प्रतिबन्ध के सदृश है, जिसके कारण सरकारी नौकरी या पदों के संबंध में धर्म, वंश, जाति, लिंग, उत्पति एवं जन्म स्थान के कारण भेदभाव नहीं किया जा सकता है। परन्तु इसके संबंध में कतिपय अपवाद हैं जो निम्नलिखित हैं।

(क) संसद विधि द्वारा राज्य-सेवाओं से संबंधित पद या स्थानीय पद या वहाँ के निवासियों के लिए आरक्षित कर सकता है।

(ख) यदि राज्य की राय में पिछड़े हुए वर्ग के नागरिकों को राज्य सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो तो राज्य इनके लिए नियुक्तियों या पदों को आरक्षित कर सकता है। परन्तु अनुच्छेद ३३५ द्वारा यह स्पष्ट रूप से प्रावधान किया गया है कि पिछड़े वर्गों की नियुक्ति करते समय प्रशासन की कुशलता को ध्यान में रखना आवश्यक है।

समानता के अधिकार के सन्दर्भ में संविधान के अनुच्छेद १७ के अन्तर्गत अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त, अस्पृश्यता से उत्पन्न की गई निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा, जो कानून के अन्तर्गत दण्डनीय है।

संसद ने, १९५५ में, समानता के अधिकार को प्रभावशाली रूप से लागू करने के लिए अस्पृश्यता अपराध अधिनियम १९५५ पारित किया, जिसका उद्देश्य अनुसूचित जातियों के साथ किये जाने वाले भेदभाव को अवैध घोषित करना और उचित दण्ड के लिए प्रावधान करना है। वस्तुतः जो सुविधाएँ जनसाधारण एवं सवर्ण हिन्दुओं को प्राप्त हैं, इस अधिनियम के अन्तर्गत वे सुविधाएँ अनुसूचित जातियों को भी प्रदत्त हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी हरिजन को सार्वजनिक पूजा-स्थान में पूजा या प्रार्थना करने से या किसी तालाब, कुएँ या जलस्रोत में स्नान करने से रोकता है तो उसे ६ माह की कैद या पाँच सौ रुपये जुर्माना या दोनों प्रकार के दण्ड दिये जा सकते हैं। यह दण्ड उनको भी दिया जा सकता है, जो हरिजनों को दूकान, सार्वजनिक जलपानगृह, होटल, धर्मशाला, सराय, नदी, कुएँ, स्नानघाट, श्मशान, निवास स्थान, अस्पताल शैक्षणिक संस्थाएँ एवं छात्रावास के उपयोग से वंचित करने का प्रयत्न करेंगे।

अन्त में अनुच्छेद १८ के अनुसार उपाधियों की समाप्ति के लिए निम्नलिखित प्रावधान किये हैं —

१—सेना या शिक्षा संबंधी उपाधि के सिवाय अन्य कोई उपाधि राज्य द्वारा प्रदान नहीं की जावेगी।

२—भारत के किसी नागरिक द्वारा विदेशी राज्य की कोई उपाधि स्वीकार नहीं की जायेगी।

३—कोई विदेशी जो भारत में ,राज्य के अधीन लाभ के किसी पद पर है, राष्ट्रपति की सहमति के बिना किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता है।

४—भारतीय नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई भेंट या उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार नहीं कर सकता है।

तथापि, जनवरी २६, १९५० को राष्ट्रपति ने यह आदेश प्रसारित किया कि राष्ट्रसंघ (कामनवेल्थ) के किसी भी देश के नागरिक को विदेशी नहीं समझा जायेगा, जब तक कि यह बात संसद द्वारा पारित किसी विधि के विरुद्ध न हो। अतएव इस आदेश के फलस्वरूप भारतीय नागरिक राष्ट्र संघ (कामनवेल्थ) के किसी देश की उपाधि स्वीकार कर सकता है।

भारत के नागरिकों के समानता के अधिकार के दृष्टिकोण, राज्य की भूमिका में दो पहलू हैं। सर्व प्रथम, राज्य को अपनी शक्तियों का उपयोग सीमित रूप से करना आवश्यक होगा, जिससे उसके द्वारा नागरिकों की कानून के समक्ष समानता या कानून के द्वारा समान रूप से प्रदत्त संरक्षण को धर्म, वंश, जाति, लिंग, तथा जन्म स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर भेद-भाव के कारण आघात न पहुँचे। द्वितीय, राज्य को सरकारी सेवाओं में नियुक्ति करने के लिए अपने अधिकारों का उपयोग नागरिकों के अवसर के समानता के अधिकार के अनुकूल ही उपयोग में लाना होगा।

समानता के अधिकार के अन्तर्गत भारतीय नागरिकों को एक विशेष कर्तव्य, संविधान द्वारा सौंपा गया है जो कि अस्पृश्यता निवारण से संबंधित है। इसका उद्देश्य सामाजिक समानता की स्थापना करना है। वस्तुतः अस्पृश्यता-निवारण संबंधी प्रावधान उन व्यक्तियों के आचरण पर समवेत, एक महत्वपूर्ण अवरोध के रूप में रखे गए हैं जो संविधान में निहित जनतान्त्रिक मूल्यों— स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय का, छून छात के व्यवहार से, विनाश करने का प्रयत्न करें।

स्वतन्त्रता का अधिकार

भारतीय संविधान के अनुच्छेद १९ से २२ में नागरिकों की स्वतन्त्रता के अधिकार का विस्तार पूर्वक विवरण दिया गया है। "एक प्रकार से इनको व्यक्ति के

नागरिक अधिकार माना जा सकता है परन्तु एक दृष्टिकोण से इनकी राजनीतिक महत्ता अत्यधिक है क्योंकि ये व्यक्ति एवं जनतन्त्र के लिए अति आवश्यक हैं और जनतन्त्र इनके माध्यम से तथा इनके आधार पर ही जीवित रहता है। जब एक व्यक्ति को समुदाय एवं राजनीतिक दल निर्माण करने का अधिकार है, अपने विचारों को प्रसारित करने की स्वतन्त्रता है और बिना सत्तारूढ़ दल के हस्तक्षेप के चुनाव जीतने तथा सरकार निर्माण करने का अवसर है, तब ही हम जनतन्त्र के अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं अतः ये (स्वतन्त्रता के अधिकार) संविधान का जीवन और आत्मा हैं।'[1]

भारत के नागरिकों के स्वतन्त्रता के अधिकार के दो पहलू हैं। सर्वप्रथम नागरिकों को संविधान द्वारा सात मूल स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई हैं। अनुच्छेद १६ (१) के अनुसार इन सात स्वतन्त्रताओं का उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित हैं।

१—वाक् स्वातन्त्र्य तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता।

२—शान्ति पूर्वक एवं अस्त्र रहित सम्मेलन करने की स्वतन्त्रता।

३—समुदाय और संघ निर्माण करने की स्वतन्त्रता।

४—भारतीय प्रदेश में स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण करना।

५—भारतीय प्रदेश के किसी भी हिस्से में निवास करने तथा बसने की स्वतन्त्रता।

६—सम्पत्ति के अर्जन करने, रखने और बेचने की स्वतन्त्रता।

७—कोई व्यवसाय, वृति, व्यापार या धन्धा करने की स्वतन्त्रता।

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता का अधिकार असीमित नहीं है। संविधान द्वारा इस अधिकार पर कतिपय 'युक्तियुक्त सीमाएँ' लगाई गई हैं जो इस सिद्धान्त के अनुकूल है कि कानून और स्वतन्त्रता में वास्तव में कोई विरोधाभास नहीं होता है और वास्तविक स्वतन्त्रता कानून के अन्तर्गत ही प्राप्त हो सकती है। यह सावधानी रखते हुए कि स्वतन्त्रता उच्छृंखलता में परिवर्तित न हो जाये, संविधान निर्माताओं ने राज्य को शक्ति प्रदत्त की, जिससे सामान्य जनता के हित में अधिकारों पर सीमाएँ रखी जा सकें। "जो बात रुचिपूर्वक ज्ञात करने योग्य है, वह यह है कि उन्होंने इनको सीमाओं को युक्तियुक्त अर्थात न्याय योग्य निर्धारित किया है, जिससे भविष्य में कोई न्यायालय अपने को इस अधिकार से संकोच पूर्वक वंचित न कर ले।"[2]

---

१. वी० के० राव—'पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी इन इण्डिया, १६६१ पृ० २४६-२४७।

२ वही—पृ० २११।

अतएव संविधान में नागरिकों के स्वतंत्रता का जो आश्वासन है, उसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस स्वतंत्रता पर राज्य द्वारा युक्तियुक्त सीमाएँ भी रखी जा सकती हैं और राज्य जिस कानून द्वारा इन सीमाओं को लागू करेगा, वह कानून 'न्याय-योग्य' होगा, अर्थात् उक्त कानून को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। वस्तुतः जिन सीमाओं को राज्य द्वारा अनुच्छेद १६ के अन्तर्गत स्वतंत्रता के अधिकार पर लागू किया जायेगा, वे निरंकुश नहीं परन्तु युक्तियुक्त होंगी। इस न्यायिक प्रक्रिया के कारण व्यवस्थापिका, स्वतंत्रता के अधिकार का अतिक्रमण नहीं कर सकेगी।

असीमित तथा अनियमित स्वतंत्रता अवश्य ही उच्छृंखलता में परिवर्तित हो सकती है और इसके परिणाम स्वरूप न केवल अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता को हानि पहुँचाती है परन्तु इससे राज्य की सुरक्षा एवं अस्तित्व को भी खतरा पैदा हो सकता है। इसलिए स्वतंत्रता का सही अभिप्राय ऐसी स्वतंत्रता से है, जो कानून से नियमित है, क्योंकि कानून जनतांत्रिक राज्य में जनता की इच्छा का ठोस रूप होता है। दूसरे शब्दों में कानून द्वारा ही जनतांत्रिक राज्य में जनता की इच्छा का क्रियान्वय सम्भव है। अतएव जनतांत्रिक पद्धति से निर्मित कानून के दायरे में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता सम्भव है, जिससे अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का हनन न हो सके। परन्तु इसके साथ ही यह आवश्यक है कि राजसत्ता का उपयोग भी सीमित तथा जनतांत्रिक रूप से किया जाना चाहिये, विशेषकर जब कि राजसत्ता के उपयोग का उद्देश्य लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए किया जाता है। इस दृष्टि से नागरिकों के अधिकारों का संविधान में स्पष्ट उल्लेख करना राजसत्ता पर आवश्यक सीमाएँ निर्धारित करना है, जिनका राज्य सत्ता द्वारा उल्लंघन करना स्पष्ट रूप से अवैधानिक होगा। भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के उल्लेख करने के साथ उन सीमाओं को स्थापित किया गया है जिनसे ये अधिकार सीमित रहेंगे। हमारे संविधान से प्रदत्त मूल अधिकार अतएव असीमित नहीं हैं। "प्रत्येक मामले में अधिकार, न कि सीमाएँ मूल हैं और देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा अन्य न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि इन अधिकारों की उत्साहपूर्वक चौकसी और रक्षा करें।"[१]

नागरिकों के स्वतंत्रता के अधिकार में निहित सात स्वतंत्रताओं पर इस दृष्टिकोण से आवश्यक युक्तियुक्त सीमाएँ संविधान द्वारा लगाई गई हैं, जिनका उद्देश्य भारत में नागरिकों की स्वतंत्रता और राजसत्ता के मध्य में जनतांत्रिक सन्तुलन स्थापित करना है। नागरिकों की स्वतंत्रता पर इस प्रकार की सीमाएँ, प्रत्येक स्वस्थ समाज में पाई जाती हैं, जिनके बिना समाज का अस्तित्व नहीं रह सकता

१. एस० दयाल—'द कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया', १९६४ पृ० १०२।

है। कोई राज्य अपने नागरिको को असीमित स्वतत्रता नही दे सकता है। भारतीय सविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारो की यह एक विशेषता है कि इनके सबध मे सविधान म ही युक्तियुक्त सीमाग्रो की आवश्यकता पर बल दिया गया है। किन्तु यह ज्ञात करने के लिए कि किसी कानून द्वारा लगाई ये सीमाएँ न्यायोचित है या नही न्यायपालिका को अन्तिम अधिकार प्राप्त है। भारतीय नागरिक का अनुच्छेद १६ के अन्तर्गत प्रदत्त सात स्वतत्रताओ पर निम्नलिखित सीमाएँ है।

१—वाक् स्वतत्रता तथा अभिव्यक्ति की स्वतत्रता पर सीमाएँ। वाक् स्वतत्रता तथा अभिव्यक्ति की स्वतत्रता के अभाव मे जनतत्र का कोई मूल्य नही है। अत. प्रत्येक जनतान्त्रिक सविधान के अन्तर्गत वाक् स्वतत्रता एव विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतत्रता को मान्यता दी जाती है। परन्तु जैसा देखा जा चुका है, असीमित स्वतत्रता न केवल अर्थहीन हो जायेगी किन्तु यह जनता के सामान्य हितों के लिए हानिकारक सिद्ध होगी।

प्रारम्भ म भारतीय सविधान द्वारा केवल चार विषयो के सबध म नागरिको की वाक् तथा अभिव्यक्ति की स्वतत्रता पर सीमाएँ रखी गई (अ)—अपमान-लेख, (ब) न्यायालय की निन्दा, (स) शिष्टाचार और नैतिकता एव, (द) राज्य की सुरक्षा। सविधान के लागू होने के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि उपर्युक्त चार विषयो सबधी सीमाओ के बावजूद भी स्वतत्रता का अधिकार इतना अधिक विस्तृत था कि न केवल हत्या और अन्य हिंसात्मक अपराधो के लिए उत्तेजित करने के कार्य इन सीमाओ के क्षेत्र मे नही आते हैं, किन्तु जैसा सर्वोच्च न्यायालय ने रोमेश थापर बनाम मद्रास राज्य के प्रकरण मे अपने निर्णय म बतलाया है कि राज्य की नीव पर आघात पहुँचाने वाले या राज्य को समाप्त करने के कार्यं को छोडकर अन्य कार्यो के आधार पर वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य पर सीमा लगाना उचित नही होता। फलस्वरूप १६५१ मे प्रथम सशोधन अधिनियम पारित किया गया, जिसमे नागरिको की वाक् तथा अभिव्यक्ति की स्वतत्रता पर युक्तियुक्त सीमाओ के क्षेत्र म वृद्धि की जा सके। अत. उपर्युक्त उल्लिखित चार विषयो मे तीन और विषय जोड दिये गये, जिनसे नागरिक स्वतत्रताओ पर युक्तियुक्त सीमाओं के क्षेत्र मे वृद्धि हुई। ये निम्नलिखित हैं।

(एक)—विदेशी राज्यो से मित्रता पूर्ण सबध रखने के लिए,

(दो)—सार्वजनिक सुरक्षा के लिए और,

(तीन)—अपराध को न प्रोत्साहित करने के लिए।

सक्षेप में, राज्य नागरिको के वाक् तथा विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतत्रता पर निम्नलिखित सात विषयो के सन्दर्भ मे प्रतिबन्ध लागू कर सकता है।

(१) अपमान लेख, (२) न्यायालय की निन्दा (३) शिष्टाचार तथा नैतिकता (४) राज्य की सुरक्षा, (५) विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण-संबंध (६) अपराधों के सम्बन्ध में (७) सार्वजनिक सुरक्षा के लिए।

१—इन सीमाओं को युक्तियुक्त सीमाएँ इसलिये माना गया है कि यदि किसी उपयुक्त न्यायालय की सम्मति में यदि किसी कानून या आदेश द्वारा युक्तिहीन प्रतिबन्ध, वाक् व विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लागू किये गये हैं, इनको अवैध माना जा सकता है। अतएव नागरिकों की स्वतन्त्रता पर सीमाएँ लगाने का व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का अधिकार अन्तिम नहीं है। क्योंकि न्यायपालिका इन सीमाओं के औचित्य की जाँच कर उन्हें अवैध ठहरा सकती है। 'यहाँ पर भारतीय संविधान ने अमरीकी संविधान से व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के कार्यों का न्यायपालिका द्वारा निरीक्षण के सिद्धान्त को अपनाया है। यह न्यायालय को निर्धारित करना है कि सीमाएँ युक्तियुक्त हैं या नहीं।"[1] चिन्तामणराव बनाम मध्यप्रदेश नामक प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित 'युक्तियुक्त सीमाएँ' अन्तिम नहीं हैं। न्यायपालिका को यह जाँचने का अधिकार है कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित सीमाएँ युक्तियुक्त हैं या नहीं हैं।

२—शान्तिपूर्वक तथा शस्त्ररहित सम्मेलन करने की स्वतन्त्रता भारत के नागरिकों को संविधान के अनुच्छेद १९ द्वारा प्रदत्त है। इस प्रकार नागरिकों को राजनीतिक या अन्य प्रकार के सम्मेलन करने का अधिकार है, परन्तु यह शान्ति पूर्वक होना चाहिये जिससे सार्वजनिक सुरक्षा को आघात न पहुँचे। अनुच्छेद १९ उपबन्ध ३ के अनुसार राज्य को नागरिकों के इस अधिकार पर सार्वजनिक सुरक्षा के हित में 'युक्तियुक्त सीमाएँ' लगाने का अधिकार है।

३—समुदाय एवं संघ निर्माण करने की स्वतन्त्रता भारतीय नागरिकों को संविधान के अनुच्छेद १९ (१) (सी) द्वारा प्रदत्त है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता के आधार पर नागरिकों को राजनीतिक दल, व्यापार संघ, और सभाओं के लिए व्यवस्था करने का अधिकार है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता पर अनुच्छेद १९ उपबन्ध (४) के अन्तर्गत राज्य सार्वजनिक सुरक्षा एवं नैतिकता के हित में 'युक्तियुक्त सीमाएँ' लगा सकता है। इस दृष्टिकोण से यदि कोई संगठन किसी कानून के क्रियान्वयन में हस्तक्षेप करता है या सार्वजनिक नैतिकता के विरुद्ध है, तो राज्य द्वारा उक्त संगठन को अवैध ठहराया जा सकता है।

४—भारतीय प्रदेश में एक हिस्से से अन्य हिस्से में भ्रमण करने की स्वतन्त्रता भारत के नागरिकों को संविधान के अनुच्छेद १९ (१) (डी) के अन्तर्गत प्राप्त

१. डॉ० डी० बसु—'पूर्वोक्त पुस्तक', पृ० ५६३।

है परन्तु इस स्वतंत्रता पर भी राज्य 'युक्तियुक्त सीमाएँ' लगा सकता है। ये सीमाएँ अनुच्छेद १९ (५) के अन्तर्गत सार्वजनिक या अनुसूचित जनजातियों के हित में राज्य द्वारा लगाई जा सकती हैं।

५—भारतीय प्रदेश के किसी भी हिस्से में निवास करने तथा बसने की स्वतंत्रता अनुच्छेद १९ (१) (इ) के अन्तर्गत भारत के नागरिकों को प्रदत्त है। परन्तु अनुच्छेद १९ उपबन्ध ५ के अनुसार सार्वजनिक या जनजातियों के हितों के दृष्टिकोण से, इस स्वतंत्रता पर भी राज्य द्वारा 'युक्तियुक्त सीमाएँ' लगाई जा सकती है।

६—सम्पत्ति का अर्जन करने, रखने और बचने की स्वतंत्रता, भारत के नागरिकों को संविधान के अनुच्छेद १९ (१) (एफ) के अन्तर्गत प्राप्त है। परन्तु इस स्वतंत्रता पर भी अनुच्छेद १९ (५) द्वारा यह युक्तियुक्त सीमा लगाई गई कि इस स्वतंत्रता का उपभोग सार्वजनिक और जनजातियों के हितों को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ जुआ घर, अनधिकृत अस्त्र, शराब की अनधिकृत भट्टियाँ राज्य द्वारा जब्त की जा सकती हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि सम्पत्ति अर्जित करने तथा रखने का यह अधिकार अनुच्छेद ३१ (ग) या (२) के अन्तर्गत राज्य के व्यक्तिगत सम्पत्ति को लेने के अधिकार के अधीन है अर्थात् यदि अनुच्छेद ३१ के अन्तर्गत राज्य किसी व्यक्ति की सम्पत्ति को प्राप्त करता है तो उस व्यक्ति को अनुच्छेद १९ (१) (एफ) द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति अर्जित करने एवं रखने के अधिकार को राज्य को अनुच्छेद ३१ द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत सम्पत्ति प्राप्त करने के अधिकार के अधीन माना जायेगा।

७—किसी व्यवसाय, वृत्ति, व्यापार या धन्धा करने की स्वतंत्रता भारतीय नागरिकों को अनुच्छेद १९ (१) (जी) के अन्तर्गत प्राप्त है। किन्तु यह स्वतंत्रता अनुच्छेद १९ उपबन्ध (६) के अनुसार राज्य द्वारा, सार्वजनिक हितों के दृष्टिकोण से युक्तियुक्त सीमाओं के माध्यम से सीमित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, नागरिकों की इस प्रकार की स्वतंत्रता से राज्य के इस अधिकार पर, कि वह किसी भी व्यवसाय, वृत्ति, व्यापार या धन्धे के सम्बन्ध में कानून द्वारा व्यवसायिक या तकनीकी योग्यता निर्धारित करे, कोई रोक नहीं लगती है। राज्य को व्यवसायिक व तकनीकी योग्यता निर्धारित करने का अधिकार इस कारण दिया गया है कि अनेक व्यवसाय, विशेषकर चिकित्सा या इन्जीनियरिंग, न केवल इनमें कार्यरत व्यक्तियों से सम्बन्धित है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से इनका सम्बन्ध जनता से भी है।

भारतीय नागरिकों के स्वतंत्रता के अधिकार का दूसरा पहलू विशिष्ट रूप से कानून एवं स्वतंत्रता के सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है। यह वर्णन अनुच्छेद २०

से अनुच्छेद २२ तक मे दिया गया है। वस्तुतः इन तीन अनुच्छेदो मे भारतीय सविधान मे ब्रिटिश सविधान के सदृश 'विधि-शासन' के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है।

प्रो० डायसी ने ब्रिटिश सविधान के अन्तर्गत विधि शासन के तीन सम्बन्धित अर्थ निर्दिष्ट किये हैं, जो निम्नानुसार हैं,

१—किसी नागरिक को न हिरासत मे लिया जा सकता है और न ही उसके जीवन एव सम्पत्ति पर अतिक्रमण ही किया जा सकता है, जब तक कि उस नागरिक ने किसी कानून का उल्लघन न किया हो,

२—कानून की दृष्टि मे समस्त नागरिक समान हैं; एव

३—सविधान के सामान्य सिद्धान्त ऐसे न्यायिक निर्णयो से उत्पन्न हुए हैं जिनसे विशिष्ट प्रकरणो मे, जो न्यायालयो के समक्ष लाये गये थे, नागरिको के अधिकारो का निर्धारण किया गया है।

ब्रिटेन मे विधि शासन के अन्तर्गत नागरिको के अधिकारो के अस्तित्व को मान्यता देने और कानून तथा नागरिक के अधिकारो का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए, यह स्पष्ट किया गया है कि राजसत्ता का उपयोग, नागरिक के अधिकारो के सन्दर्भ मे तभी होगा, जब कि नागरिक न किसी कानून का उल्लघन किया है।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद २० से अनुच्छेद २२ तक मे यह स्पष्ट किया गया है कि नागरिको के अधिकारो के लिए कानून की भूमिका क्या है। यह तीन प्रकार की है।

सर्वप्रथम, अनुच्छेद २० (१) के अनुसार कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए दोषी सिद्ध नही माना जायगा, जब तक कि उसने अपराध करने के समय किसी स्थापित कानून का अतिक्रमण न किया हो और न ही कोई व्यक्ति उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उसको अपराध करने के समय स्थापित कानून के अधीन दिया जा सकता था।

अनुच्छेद २० (२) के अनुसार किसी भी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित तथा दण्डित नही किया जा सकता। इस अनुच्छेद मे 'दण्ड से अभिप्राय न्यायालय द्वारा दिया गया दण्ड है, न कि किसी विभाग द्वारा दिये गए दण्ड से है। अतएव किसी प्रशासकीय कर्मचारी को न्यायालय द्वारा दण्ड मिलने के अतिरिक्त, उसके विरुद्ध सरकार अनुशासनात्मक कार्यवाही कर, दण्ड दे सकती है।

अनुच्छेद २० (३) के अनुसार किसी व्यक्ति को जो कि किसी अपराध के लिए अभियुक्त है, स्वय के विरुद्ध साक्षी देने के लिए बाध्य नही किया जायेगा। यह अधिकार भारत म दीवानी और फौजदारी दोनो प्रकार के मामलो के लिए है, जब कि अमरीका मे यह केवल फौजदारी मामलो के लिए है।

द्वितीय, अनुच्छेद २१ के अनुसार कोई व्यक्ति अपने जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से 'विधि सम्पन्न प्रक्रिया' द्वारा, न कि किसी अन्य प्रक्रिया से, वंचित किया जायेगा। सर्वोच्च न्यायालय ने गोपालन बनाम मद्रास राज्य के मामले में 'विधि सम्पन्न प्रक्रिया' का अर्थ स्पष्ट करते हुए, यह निर्णय दिया कि यदि व्यवस्थापिका सभा, जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से वंचित करने का कानून पारित करती है तो न्यायालय इस कानून को चुनौती नहीं दे सकेंगे। मुख्य न्यायाधीश कानिया ने निर्णय देते हुए कहा—"विधि सम्पन्न-प्रक्रिया' शब्दों को अपनाने के परिणाम स्वरूप, संविधान द्वारा व्यवस्थापिका सभा को कानून निर्धारित करने में अन्तिम अधिकार दिया गया है।"[1]

कतिपय लेखकों ने व्यवस्थापिका सभा के हाथ में इस विषय पर अन्तिम अधिकार छोड़ने के औचित्य पर शंका व्यक्त की है। प्रो० श्रीनिवासन का कथन है—"विधि सम्पन्न प्रक्रिया शब्दों का उपयोग, व्यक्तिगत, स्वतन्त्रता के रक्षात्मक प्रावधानों को क्षीण कर देते हैं, क्योंकि एक व्यवस्थापिका किसी प्रक्रिया का, जो कि न्याय के सिद्धान्तों के विरुद्ध है अपनी सीमाओं में ही रहकर कार्य करते हुए, निर्धारण कर सकेगी।"[2]

यह सत्य है कि भारतीय संविधान में 'विधि सम्पन्न प्रक्रिया' (प्रोसीजर इस्टेब्लिशड बाय ला) शब्दों के उपयोग के कारण न्यायपालिका को व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून के अन्तर्वर्ती गुण और दोष के आधार पर कानून को अवैध घोषित करने का अधिकार नहीं रह जाता है। यदि न्यायपालिका इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि व्यवस्थापिका ने संवैधानिक क्षेत्र में रह कर, संविधान के अनुसार कानून पारित किया है, तो उक्त कानून को वैध मानना ही होगा। इससे आगे न्यायपालिका नहीं जा सकती है और कानून को केवल उसके अन्तर्वर्ती दोष के कारण अवैध नहीं ठहरा सकती है। इस दृष्टिकोण से यदि भारत में व्यवस्थापिका व्यक्ति के बन्दी, कैद और नजरबन्दी करने का कानून पारित करती है, न्यायपालिका को इस प्रकार के कानून को अवैध ठहराने का अधिकार नहीं है। न्यायालयों को, 'विधि सम्पन्न प्रक्रिया' शब्दों के दृष्टिकोण से केवल इतना ही अधिकार प्राप्त है कि वे यह ज्ञात करें कि किसी व्यक्ति के जीवन, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर अतिक्रमण किसी कानून के अनुसार हो रहा है या बिना किसी कानून के हो रहा है। यदि यह संवैधानिक कानून के अन्तर्गत हो रहा है तो न्यायालय वहाँ हस्तक्षेप नहीं कर सकती है।

---

१. गोपालन बनाम मद्रास राज्य—ए० आई० आर०, १९५०, एस० सी० २७।

२. एन० श्रीनिवासन—डेमोक्रेटिक गवर्नमेन्ट इन इंडिया, पृ० १७३, १९५४।

अमरीका मे, सविधान के पाँचवें और चौदहवें सशोधनो मे 'वैधिक प्रक्रिया' (ड्यूप्रोसेस ग्राफ ला) शब्दो का उपयोग, व्यक्तिगत स्वतत्रता के सरक्षण के लिए किया गया है। 'वैधिक प्रक्रिया' के अनुसार अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय को, व्यक्तिगत स्वतत्रता के सरक्षण के लिए, अन्तिम अधिकार है। क्योकि, अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय 'वैधिक प्रक्रिया' के सन्दर्भ मे किसी भी कानून की जाँच दो कसौटियो के आधार पर कर सकता है।

सर्वप्रथम, अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय कानून की जाँच इस आधार पर कर सकता है कि क्या व्यवस्थापिका सभा ने अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत कानून पारित किया है।

द्वितीय, यदि व्यवस्थापिका ने कानून अपने सवैधानिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत पारित किया है तो सर्वोच्च न्यायालय यह भी जाँच कर सकता है कि उक्त कानून के प्राकृतिक न्याय के सन्दर्भ मे क्या अन्तर्वर्ती गुण और दोष हैं। यदि इस दृष्टिकोण से कानून मे दोष हैं, तो अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। यहाँ पर अमरीकन सर्वोच्च न्यायालय, 'वैधिक प्रक्रिया' के अनुसार ही, प्राकृतिक न्याय की कसौटी पर अपने अधिकारो का उपयोग करेगा।

अत यह स्पष्ट है कि भारत मे 'विधि सम्पन्न प्रक्रिया' के अनुसार व्यक्तिगत स्वतत्रता के विषय पर व्यवस्थापिका की शक्ति अन्तिम है, और अमरीका मे 'वैधिक प्रक्रिया' के अनुसार न्यायपालिका को अन्तिम शक्ति प्राप्त है।

तथापि, यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सविधान के अनुच्छेद २१ मे 'विधि सम्पन्न प्रक्रिया' का प्रावधान करके क्या वास्तव मे सविधान निर्माता व्यक्तिगत स्वतत्रता के सम्बन्ध मे व्यवस्थापिका को अन्तिम शक्ति प्रदान करना चाहते थे, जिसके फलस्वरूप नागरिको की स्वतत्रता के मूल अधिकार का अस्तित्व व्यवस्थापिका की इच्छा पर ही निर्भर रहे।

यद्यपि, ऐसा प्रतीत होता है कि 'विधि सम्पन्न प्रक्रिया' को अपनाने से व्यवस्थापिका को अन्तिम शक्ति, व्यक्तिगत स्वतत्रता और जीवन के लिए प्राप्त है, किन्तु इस तथ्य को नही भूल जाना चाहिये कि व्यवस्थापिका स्वय सविधान के प्रावधानो द्वारा वचित है। अतएव, व्यवस्थापिका अपनी शक्ति का उपयोग सविधान मे उल्लिखित प्रक्रिया के अनुकूल ही कर सकेगी। इसलिए व्यक्तिगत स्वतत्रता व जीवन के मूल अधिकार के सम्बन्ध मे, सविधान के अनुच्छेद २२ मे उस प्रक्रिया का स्पष्ट रूप से उल्लेख है जिसके आधार पर ही केवल नागरिक को उसकी व्यक्तिगत स्वतत्रता और जीवन के मूल अधिकार से वचित किया जा सकता है। अत. अनुच्छेद २२ मे 'प्रक्रियात्मक-कानून' (प्रोसेजरल-ला) को समावेशित किया गया है क्योकि 'विधि सम्पन्न प्रक्रिया' के अनुसार व्यवस्थापिका को व्यक्तिगत

स्वतन्त्रता और जीवन के मूल अधिकार के सम्बन्ध मे जो शक्ति प्राप्त हुई, उसको बधित किया जाये।

अनुच्छेद २२ मे निहित 'प्रक्रियात्मक कानून' इस प्रकार सविधान का, जो कि देश का मूल कानून है, एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन जाता है और जिसको साधारण विधि द्वारा व्यवस्थापिका परिवर्तित नही कर सकती है। अतएव, यह स्पष्ट है कि, व्यवस्थापिका द्वारा जो भी प्रक्रिया, नागरिक को उसके स्वतन्त्रता और जीवन के मूल अधिकार से वचित करने के लिए निर्धारित की जाती है, उसको अनुच्छेद २२ मे उल्लिखित प्रक्रियात्मक कानून' के अनुकूल ही होना चाहिये। तो यह नही कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जीवन के अधिकार के सम्बन्ध मे व्यवस्थापिका की शक्ति असीमित है।

अनुच्छेद २२, उपबन्ध १ के अनुसार यदि किसी व्यक्ति को बन्दी किया गया है, उसको बन्दीकरण के कारणो से यथाशीघ्र अवगत कराये बिना हवालात मे रोका नही जायगा और न ही उसको इस अधिकार स वचित किया जायेगा कि वह अपनी पसन्द के वकील से परामर्श करे तथा अपना बचाव करवाये।

अनुच्छेद २२, उपबन्ध २ के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जिसको बन्दी किया गया है और हवालात मे रखा गया है, बन्दी बनाये जाने के २४ घण्टे के अन्दर निकटतम न्यायाधीश के समक्ष पेश किया जायेगा, और कोई ऐसा व्यक्ति बिना न्यायाधीश की सहमति के उक्त अवधि से अधिक समय तक हवालात मे नही रखा जायेगा।

अनुच्छेद २२, उपबन्ध ३ के अनुसार, उपबन्ध १ एव २ मे उल्लिखित कोई बात किसी विदेशी शत्रु या किसी ऐसे व्यक्ति पर जिस निवारक निरोधी अधिनियम के अन्तर्गत बन्दी बनाया गया है, लागू नही होगी।

सक्षेप मे, अनुच्छेद २२ के द्वारा प्रक्रियात्मक नियमो का निर्धारण किया गया है जो कि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका पर लागू है। यह निम्नलिखित है।

१—बन्दी व्यक्ति को बन्दीकरण के कारणो से अवगत कराया जाना चाहिये।

२—बन्दी व्यक्ति को अपने पसन्द के वकील की सलाह लेने तथा बचाव करवाने का अधिकार है।

३—किसी व्यक्ति को बन्दी करने के २४ घण्टे की अवधि मे निकटतम न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिये।

४—बन्दी को, बिना न्यायाधीश की अनुमति के २४ घण्टे से अधिक समय तक हवालात मे नही रखा जायेगा।

अनुच्छेद २२ मे निहित, उपर्युक्त 'प्रक्रियात्मक कानून' मे कतिपय त्रुटियाँ

हैं, जिनके फलस्वरूप अभियुक्त को कदाचित न्याय प्राप्त न हो। ये त्रुटियाँ निम्नलिखित हैं।

१—संविधान में यह प्रावधान नहीं है कि मुकदमे की सुनवाई जल्दी और सार्वजनिक रूप से हो, और न ही यह प्रावधान है कि अभियुक्त को अपने बचाव के लिए अपील करने का अधिकार है।

२—यहां इस प्रकार का कोई प्रावधान नहीं है कि मुकदमा कम खर्चीला हो, जब कि अनुच्छेद २२ के उपबन्ध १ एवं २ का विषय साधारण बन्दीकरण है, इस अनुच्छेद के उपबन्ध ४ से ७ तक का विषय निवारक निरोध है। निवारक निरोध भारतीय संविधान का एक अत्यन्त मतभेदपूर्ण विषय है, जिसकी कड़ी आलोचना हुई है। यह कदाचित अजीब-सा लगता है कि निवारक-निरोध—जैसा विषय संविधान के तीसरे अध्याय में, जिसमें नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख है, सम्मिलित किया गया हो। परन्तु निम्नलिखित दो तर्कों के आधार पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि ऐसा क्यों किया गया।

सर्वप्रथम, राष्ट्र की सुरक्षा एवं एकता के विशिष्ट महत्व के कारण, संविधान निर्माताओं ने निवारक-निरोध सम्बन्धी प्रावधान हमारे संविधान में रखे। बिना राज्य के अस्तित्व के मूल अधिकारों की कल्पना करना, बेमतलब होगा। मूल अधिकारों को असीमित नहीं होना चाहिये, किन्तु राज्य की सुरक्षा एवं अखण्डता के दृष्टिकोण से युक्तियुक्त सीमाओं में ही इनकी उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। स्वतन्त्र भारत के इतिहास से विदित होता है, कि इसको आन्तरिक और बाह्य खतरों का सदा सामना करना पड़ा है। बल्कि आज ये खतरे विकराल रूप धारण किये हुए हैं। विशेषकर १९६२ में चीनी आक्रमण, तत्पश्चात् १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमण और बांगला देश के सन्दर्भ में, पाकिस्तान से हुए युद्ध के रूप में देश को एक निरन्तर खतरे का सामना करना पड़ा है। "जनतान्त्रिक स्वतन्त्रता भारत में एक नये तथा कोमल पौधे के सदृश है जो उन तत्वों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रतिक्रमणों से स्वयं की रक्षा करने में असमर्थ लगता है, जिनको जनतान्त्रिक स्वतन्त्रता एवं प्रगति से कोई सहानुभूति नहीं है, कठिनाई से प्राप्त राष्ट्र की स्वतन्त्रता को तोड़ फोड़ करने वाले और हिंसात्मक तत्वों से बचाने के लिए चौकसी की आवश्यकता है। जब तक प्रत्येक दल या संगठन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संवैधानिक साधनों को स्वीकृत नहीं कर लेता है, निवारक-निरोध—जैसे विशेष प्रावधान भारत के लिए आवश्यक हैं।"[1]

द्वितीय, यदि किसी व्यक्ति को निवारक निरोध में रखने की आवश्यकता हो, तो यह संविधान में उल्लिखित प्रक्रिया के अनुसार ही किया जाना चाहिये, जिससे

---

१ एम० वी० पायली—'इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन', १९६२, पृ० १०५।

व्यवस्थापिका या कार्यपालिका सवैधानिक क्षेत्र से बाहर जाकर सत्ता का निरकुश दुरुपयोग न कर सकें। इसी कारण डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा के सदस्यों का ध्यान इस ओर आकर्षित कराया। वे निवारक निरोध के अन्तर्गत वन्दी व्यक्ति के 'प्रक्रियात्मक अधिकारो' को सविधान मे सुरक्षित रखना चाहते थे। परन्तु साथ ही उनका ध्यान राज्य की सुरक्षा की ओर भी था। इसलिए जहाँ अनुच्छेद २२ मे राज्य की सुरक्षा पर बल दिया गया है, वही साथ ही वन्दी के प्रक्रियात्मक अधिकारो को भी स्पष्ट कर दिया गया है, जिससे उसको न्याय प्राप्त हो सके।

अनुच्छेद २२ के उपवन्ध (४) के अनुसार निवारक-निरोध सम्बन्धी कोई कानून द्वारा तीन माह से अधिक समय तक किसी व्यक्ति को हवालात मे रखने के लिए अधिकृत नही किया जा सकता है, सिवाय *निम्नलिखित परिस्थितियो मे* :—

अ—जब एक परामर्श मण्डल ने, जिसके सदस्य ऐसे व्यक्ति है, जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश है, या रहे हैं या न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने की योग्यता रखते हैं, *उपर्युक्त उल्लिखित तीन माह की अवधि समाप्त होने के पूर्व,* यह प्रतिवेदन दिया है कि वन्दी के निरोध के पर्याप्त कारण विद्यमान है। परन्तु उपवन्ध (७ ब) के अन्तर्गत ससद द्वारा निर्मित कानून द्वारा जो वन्दीकरण की अधिकतम सीमा निर्धारित की जायेगी, उससे अधिक समय तक वन्दी को निरोध मे नही रखा जायेगा। या,

ब—जब वन्दी को ससद द्वारा, अनुच्छेद २२ उपवन्ध (७ अ) के अनुसार एव (ब) के अन्तर्गत वन्दी रखा जा रहा है।

अनुच्छेद २२ उपवन्ध (५) के अनुसार जब किसी व्यक्ति का निरोध, निवारक-निरोध कानून के अन्तर्गत किसी आदेशानुसार किया गया है, जिस अधिकारी द्वारा यह आदेश दिया गया है, उसका यह कर्तव्य है कि वन्दी व्यक्ति को उसके वन्दीकरण के कारण शीघ्र बताये जिससे वह उस आदेश के विरुद्ध शीघ्रातिशीघ्र अभिवेदन कर सके।

अनुच्छेद २२ उपवन्ध (६) के अनुसार उपवन्ध (५) मे किसी विषय पर आदेश देने वाले अधिकारी के लिए उन तथ्यो को प्रकट करना आवश्यक नही होगा जिनको वह जनहित के विरुद्ध समझता है।

अन्त मे, अनुच्छेद २२, उपवन्ध (७) के अनुसार ससद कानून द्वारा यह निर्धारित कर सकती है कि

क—किन परिस्थितियो मे और किस प्रकार की श्रेणी या श्रेणियो के प्रकरण मे एक व्यक्ति का निरोध तीन माह से अधिक समय के लिए निरोध-निवारक कानून के अन्तर्गत परामर्श मण्डल की सम्मति के बिना किया जा सकता है।

ख—किसी व्यक्ति का निरोध, निवारक निरोध कानून के अन्तर्गत किस श्रेणी या श्रेणियो के प्रकरण मे अधिक से अधिक कितनी अवधि किया जायेगा।

ग—परामर्श मण्डल द्वारा उपबन्ध (४ अ) के अन्तर्गत किस प्रक्रिया को अपनाया जाये।

सक्षेप मे, सविधान द्वारा सघ और राज्यो की सरकारो को, व्यक्तियो का निवारक निरोध, सविधान मे उल्लेखित प्रक्रिया के अनुसार करने का अधिकार प्रदत्त किया है। यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति का निरोध करते हुए यदि अनुच्छेद २२ मे उल्लिखित कानूनी प्रक्रिया की सीमाओ का पालन नही किया जाता है, यह बन्दी के मूल अधिकारो के विरुद्ध होगा, जो उसको अनुच्छेद २१ और २२ उपबन्ध ५ द्वारा प्राप्त हैं। निवारक निरोध सम्बन्धी अधिकारो का सरकार द्वारा दुरुपयोग रोकने के लिए भारतीय सविधान मे निम्नलिखित सवैधानिक अवरोधो के लिए प्रावधान किया गया है।

१—साधारणतया, किसी भी व्यक्ति को बन्दी बनाकर तीन माह से अधिक समय के लिए निवारक-निरोध मे, बिना परामर्श मण्डल की सम्मति के नही रखा जा सकता है, जिसमे एक उच्च न्यायालय का न्यायाधीश है और शेष दो सदस्य ऐसे होगे जो कि उच्च न्यायालय के या तो न्यायाधीश रह चुके है या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने की योग्यता रखते हैं। यदि परामर्श मण्डल की राय है कि किसी व्यक्ति को निवारक निरोध के लिए बन्दी बनाये रखने का कोई कारण नहीं है तो उस व्यक्ति को तत्काल रिहा करना होगा। बस्तर के महाराजा प्रवीणचन्द्र भजदेव को परामर्श मण्डल के निर्णयानुसार बन्दी रखने के कोई कारण नही थे, अत उनको रिहा कर दिया गया। सविधान मे परामर्श मण्डल के लिए प्रावधान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योकि यह सरकार की निरकुशता के विरुद्ध एक ठोस आश्वासन है।

२—निवारक निरोध मे रखे गये किसी व्यक्ति को, अनुच्छेद २२ उपबन्ध ५ के अनुसार उसके बन्दी बनाये जाने के कारणो की जानकारी देना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त बन्दी को शीघ्रातिशीघ्र यह अवसर प्रदान किया जाना चाहिये, जिससे वह निरोध के विरुद्ध प्रभावपूर्वक अभिवेदन कर सके। इस उद्देश्य से कि बन्दी अपने निरोध के विरुद्ध प्रभावपूर्वक अभिवेदन कर सके, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि "यह प्रश्न कि बन्दी को उसके निरोध के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी दी गई है या नही दी गई है, एक न्यायिक प्रश्न है और इस विषय पर न्यायपालिका को निर्णय देने का अधिकार है।"[१]

---

१ शिब्बनलाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, ए० आई० आर०, १९५४, एस० सी० १७९।

अतएव किसी व्यक्ति का निरोध करने वाले अधिकारी का यह कर्तव्य है कि बन्दी को उसके निरोध करने के कारणों का स्पष्टता पूर्वक बतलाये, अन्यथा बन्दी के अपने निरोध के विरुद्ध अभिवेदन करने के अधिकार का कोई मूल्य नहीं होगा। न्यायपालिका को यह निर्धारित करने का अन्तिम अधिकार है कि निरोध करने के कारण विशिष्ट और स्पष्ट हैं या नहीं हैं। यदि बन्दी को जो जानकारी उसके निरोध के सम्बन्ध में दी गई है वह अनिश्चित है तो उसको निरोध में नहीं रखा जा सकता है।

३—अनुच्छेद २२ उपबन्ध (७ ए) के अनुसार संसद को कानून द्वारा यह निर्धारित करने का अधिकार है कि किन परिस्थितियों में और किस श्रेणी या श्रेणियों के प्रकरण में किसी व्यक्ति को निवारक-निरोध में, तीन माह से अधिक अवधि के लिए परामर्श मण्डल की सलाह के बिना रखा जा सकता है। इसी प्रकार संसद किसी व्यक्ति या किसी श्रेणी या श्रेणियों के प्रकरण के अन्तर्गत निवारक निरोध में रखने के लिए अधिकतम समयावधि निर्धारित कर सकती है।

इसी प्रकार, संसद अनुच्छेद २२ उपबन्ध (७ बी) के अनुसार किसी व्यक्ति के किसी प्रकरण के अन्तर्गत निरोध के लिए अधिकतम समय की सीमा निर्धारित कर सकती है। संसद उस प्रक्रिया का भी निर्धारण कर सकती है, जिसके अनुसार परामर्श मण्डल को अपने कार्य करने होंगे। साधारणतया, संसद को निवारक-निरोध के सम्बन्ध में जो शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं, उपयुक्त हैं, परन्तु संसद में एक दल का ठोस प्रभुत्व है, और प्रतिपक्षीय दलों की स्थिति का निरीक्षण करते हुए यह ज्ञात होता है कि कोई भी प्रतिपक्षी दल एक सुदृढ़ एवं सगठित संसदीय प्रतिपक्ष के रूप में नहीं है, जिससे निकटतम भविष्य में वह एक वैकल्पिक सरकार का निर्माण कर सके। अतएव वर्तमान स्थिति में सरकार पर प्रतिपक्षी दलों का अकुश अधिक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता है और इसके फलस्वरूप, इस सम्भावना को, दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता है कि संसद एक ही राजनीतिक दल के प्रभुत्व में रह कर अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करें।

४—"डॉ० अम्बेदकर के अनुसार सबसे बड़ा सुरक्षण यह है कि निवारक-निरोध कानून के अनुसार ही किया जा सकता है। यह कार्यपालिका की इच्छानुसार नहीं किया जा सकता है।"[1]

इन सब बचाव या सुरक्षा के प्रावधानों के होते हुए भी निवारक-निरोध सम्बन्धी शक्ति आवश्यक होते हुए भी खतरनाक है। इस विचार को स्पष्ट करते हुए

---

१. एम० वी० पायली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०३-१०४।

डॉ० एम० पी० शर्मा कहते हैं—"स्थापित सरकारों की यह प्रवृत्ति हो सकती है कि वे उनके स्थापित रहने के प्रश्न को वे राज्य के स्थायित्व एवं सुरक्षा के प्रश्न से मिला दें। राज्य के शत्रुओं को उसमें अन्तर्गत स्वतन्त्रता की माँग करने का कोई अधिकार नहीं है, पर यह आवश्यक है कि उनमें तथा सत्तारूढ़ दल के विरोधियों में अन्तर किया जाय, और यह नागरिक का कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रतिपक्षी दल जो संवैधानिक साधना में विश्वास करते हैं उतनी ही स्वतन्त्रता के पात्र हों, जितनी सत्तारूढ़ दल के समर्थकों को प्राप्त है। संविधान में, जो बिना सुनवाई के निरोध में रखे जाने की त्रुटि है वह जनमत द्वारा व्यवस्थापिका पर प्रभाव डाल दूर की जा सकती है। हम यह नहीं भूल जाना चाहिए कि व्यवहार में जनता को उतनी ही स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, जिसके वह लायक है और जो वह अपने चौकसी से प्राप्त करती है।"[1]

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जनता और संसद की सतर्कता के कारण निवारक-निरोध कानून १६५० के अन्तर्गत भारत में केन्द्रीय और राज्य सरकारों को किसी व्यक्ति का निवारक-निरोध करने का अधिकार है, यदि उनको सन्तोष हो जाता है कि उस व्यक्ति ने १—भारत की सुरक्षा, विदेशों के साथ भारत के सम्बन्ध या, २—राज्य की सुरक्षा एवं शान्ति या, ३—राष्ट्र के लिए आवश्यक वस्तुओं तथा सेवाओं को बनाये रखने के विरुद्ध कार्य किये हैं।

१६५० के मूल कानून के अनुसार उपर्युक्त केवल तीसरे वर्ग के अन्तर्गत बन्दी किये हुए व्यक्तियों के लिए परामर्श मण्डल का उपयोग किया जा सकता था, जब कि प्रथम और दूसरे वर्ग के अन्तर्गत बन्दी बनाये गये व्यक्तियों को यह सुविधा नहीं दी गई थी। इस कानून द्वारा जिलाधीश (डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट) एवं उप-मण्डलीय न्यायाधीश (सब डिविजनल मजिस्ट्रेट) दोनों को उपर्युक्त कानून प्रक्रियानुसार किसी व्यक्ति को बन्दी करने का अधिकार था। गोपालन बनाम मद्रास राज्य नामक प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय किया कि निवारक-निरोध अधिनियम की धारा १४ अवैध थी क्योंकि इसके द्वारा निरोध करने के कारणों को बतलाना वर्जित किया गया था, जो कि अनुच्छेद २२ (५) के विरुद्ध था। निवारक निरोध अधिनियम १६५० के सम्बन्ध में अधिक असन्तोष व्यक्त किया गया। फलस्वरूप इस अधिनियम में कुछ संशोधन किये गये। अतः अब, प्रत्येक निवारक निरोध के मामले को एक परामर्श मण्डल के समक्ष किसी व्यक्ति के बन्दी करने के तीस दिन के अन्दर रखना चाहिये। बन्दी को यह अधिकार भी प्राप्त हुआ है कि वह स्वयं परामर्श मण्डल के समक्ष उपस्थित होकर अपना तर्क

---

[1] एम० पी० शर्मा—द गवर्नमेन्ट आफ द इण्डियन रिपब्लिक, १६६१ पृ० ४७१।

दे सके। यदि परामर्श-मण्डल की राय यह है कि किसी व्यक्ति को बन्दी रखने के कोई कारण नहीं है तो सरकार उस व्यक्ति को रिहा कर देगी। किसी भी व्यक्ति को अधिनियम की धारा (११ ए) के अनुसार बन्दी बनाये जाने की तिथि से १२ माह से अधिक समय के लिए बन्दी नहीं रखा जा सकता है। इसी प्रकार निरोध आदेश की समयावधि समाप्त होने के पश्चात् उसी व्यक्ति के निरोध के लिए नया आदेश नये तथ्यों के आधार पर ही दिया जा सकेगा।

इसके बावजूद भी न्यायिक पुनरवलोकन का क्षेत्र निवारक-निरोध के दृष्टि-कोण से सीमित है, किन्तु न्यायपालिका इस मामले में बिल्कुल असहाय नहीं है। न्यायपालिका निवारक-निरोध सम्बन्धी आदेश का पुनरवलोकन अग्रलिखित आधारों पर कर सकती है।

क—यदि निवारक-निरोध सम्बन्धी आदेश के लिए यह कहा जाता है कि यह अपकारी (मेलेफाइड) है। आदेश के अपकारी होने से यह तात्पर्य है कि यह निवारक-निरोध अधिनियम के उद्देश्यों के विरुद्ध है, ऐसी स्थिति में आदेश को अवैध किया जा सकता है।[1]

ख—न्यायालय इस बात की भी जाँच कर सकता है कि जो निवारक-निरोध के कारण बतलाये गये हैं, वे इतने अनिश्चित हैं कि उनको अपकारी माना जाय।[2] या उनका स्वरूप इस प्रकार का है कि व्यक्ति के इस अधिकार का हनन होता है।[3] बन्दी व्यक्ति का यह अधिकार है कि उसको बन्दीकरण के कारण बतलाये जायें।

ग—न्यायालय इस बात की भी जाँच कर सकते हैं कि क्या निवारक-निरोध के कारणों का विवेकयुक्त सम्बन्ध निवारक-निरोध के उद्देश्यों से, संविधान या निवारक-निरोध अधिनियम के अन्तर्गत है या नहीं।[4] यदि न्यायालय द्वारा यह निर्धारित कर दिया गया है कि इस प्रकार का विवेकयुक्त सम्बन्ध नहीं है तो बन्दी को छुटकारा प्राप्त हो जायेगा।

घ—न्यायालय इस बात की भी जाँच कर सकते हैं कि निवारक-निरोध के लिए कानून द्वारा जिस प्रक्रिया का निर्धारण किया गया है, उसका निवारक-

---

१. गोपालन बनाम मद्रास राज्य—ए० आई० आर०, १९५०, एस० सी० २७।

२. शिब्बनलाल बनाम उत्तर प्रदेश—ए० आई० आर०, १९५४, एस० सी० १७९।

३. गोपालन बनाम मद्रास राज्य, ए० आई० आर०, १९५०, एस० सी० २७।

४. शिब्बनलाल बनाम उत्तर प्रदेश—ए० आई० आर० १९५४, एस० सी० १७९।

निरोध आदेश जारी करते हुए पालन किया गया है या नहीं। यदि कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया का पालन नहीं किया गया है, तो बन्दी को रिहा किया जाना चाहिये।[1]

शोषण के विरुद्ध अधिकार

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २३ तथा २४ शोषण के विरुद्ध अधिकार के सम्बन्ध में हैं। जनतान्त्रिक मूल्यों के अनुकूल यह अधिकार समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं महत्व पर बल देता है। वस्तुतः यह मानवता के उस सिद्धान्तानुसार है जिस पर जर्मन आदर्शवादी दार्शनिक कान्ट ने इन शब्दों में प्रकाश डाला है कि मानव के व्यक्तित्व को साधन के रूप में नहीं बल्कि उद्देश्य सदृश मानना चाहिये। अनुच्छेद २३ (१) द्वारा मानव क्रय विक्रय और बगार की प्रथा तथा अन्य बाध्यकारी श्रम वर्जित किया गया है और साथ ही यह भी प्रावधान किया गया है कि उपर्युक्त प्रावधान के उल्लंघन के लिए कानून के अन्तर्गत, दण्ड दिया जायेगा। अमरीका के संविधान में भी संविधान के तेरहवें संशोधन द्वारा ऐसा ही प्रावधान किया गया है, जिसके अनुसार न तो दास प्रथा और न ही बाध्यकारी श्रम का, सिवाय एक अपराध के फलस्वरूप जिसके लिए यह दण्ड दिया गया है, अमेरिका में अस्तित्व रहेगा।

भारत के संविधान में इस अधिकार को समावेशित करने का कारण यह था कि इसके द्वारा भारतीय समाज में से बाध्यकारी श्रम की बुरी सामन्तवादी प्रथा को समाप्त किया जाय। इसके अतिरिक्त, इस अधिकार का उद्देश्य स्त्रियों एवं बच्चों का संरक्षण करना है, जिससे उनको ऐसा कोई कार्य करने या वृत्ति अपनाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सके, जो नैतिकता के विरुद्ध हो।

परन्तु अनुच्छेद २३ (२) में सार्वजनिक उद्देश्यों के सन्दर्भ में एक अपवाद का उल्लेख है, जिसके अनुसार राज्य सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनिवार्य सेवा की व्यवस्था कर सकता है। यद्यपि संविधान में, 'सार्वजनिक उद्देश्य' का स्पष्टीकरण नहीं है, किन्तु इसका अर्थ सैनिक-सेवा एवं राष्ट्र निर्माण कार्य से सम्बन्धित है। परन्तु सार्वजनिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य द्वारा अनिवार्य सेवाओं की व्यवस्था करते हुए, धर्म, वंश, जाति, वर्ण या इनमें से किसी एक के कारण भेदभाव नहीं किया जायेगा।

अनुच्छेद २४ के अनुसार १४ वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों, खदानों, या ऐसे कार्यों में जिनसे उनके शारीरिक या मानसिक स्वास्थ्य को खतरा

१. परमसिंह बनाम पंजाब राज्य—ए० आई० आर०, १९५८, एस०सी० १५२।

है, नियुक्त नहीं किया जायेगा। संक्षेप में शोषण के विरुद्ध अधिकार के अन्तर्गत न केवल राज्य परन्तु अन्य नागरिकों के कतिपय कर्तव्यों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

भारतीय संविधान द्वारा धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ है, वह राज्य जो किसी धर्म विशेष के सिद्धान्तों पर आधारित न हो कर न्याय, स्वतन्त्रता, समानता एवं पारस्परिक सौहार्द्र के सिद्धान्तों पर आधारित है जो जनतन्त्र के सिद्धान्त हैं, भारत के संविधान में धर्म-निरपेक्ष राज्य के दो आधार हैं।

सर्वप्रथम, संविधान की प्रस्तावना में न केवल भारतीय गणतन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का, जैसे न्याय, स्वतन्त्रता समानता एवं भ्रातृत्व आदि, उल्लेख किया गया है, वरन यह भी स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि प्रत्येक नागरिक को अन्य स्वतन्त्रताओं के साथ व्यक्तिगत रूप से मान्य सिद्धान्तों में विश्वास और उपासना करने की भी स्वतन्त्रता प्राप्त है।

द्वितीय, संविधान में धर्म निरपेक्ष राज्य का दूसरा आधार नागरिकों के धार्मिक स्वतन्त्रता के मूल अधिकार के रूप में हैं। संविधान अनुच्छेद २५ से २८ नागरिकों के धार्मिक स्वतन्त्रता के मूल अधिकार का उल्लेख करते हैं।

अनुच्छेद २५ (१) के अनुसार समस्त व्यक्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी धर्म को मानने, उसका पालन करने तथा प्रचार करने का अधिकार प्राप्त है किन्तु इस अधिकार का उपभोग सार्वजनिक शान्ति, नैतिकता और स्वास्थ्य तथा अध्याय तीन के अन्य प्रावधानों के अधीन रहकर ही किया जायगा। अनुच्छेद २५ (२) के अनुसार राज्य निम्नलिखित विषयों पर कानून निर्माण कर सकता है।

(क) जिससे किसी धार्मिक प्रथा से सम्बद्ध आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक या अन्य किसी कार्रवाई को नियन्त्रित या सीमित किया जा सके, और

(ख) जिससे सामाजिक-कल्याण एवं सुधार या सार्वजनिक स्वरूप की हिन्दू धार्मिक संस्थाओं में समस्त वर्गों के हिन्दुओं के प्रवेश के लिए व्यवस्था की जाये।

अनुच्छेद २६ के अनुसार प्रत्येक धार्मिक इकाई या उसके किसी हिस्से को सार्वजनिक शान्ति, नैतिकता तथा स्वास्थ्य की सीमाओं के अधीन निम्नलिखित अधिकार हैं।

क—धर्म और दान के उद्देश्यों से संस्थाओं का निर्माण और पोषण करना,

ख—धार्मिक मामलों में स्वयं प्रबन्ध करना,

ग—चल एवं अचल सम्पत्ति के स्वामित्व और प्राप्त करने का अधिकार, और

घ—इस प्रकार की सम्पत्ति का संचालन कानून के अनुसार करना।

अनुच्छेद २७ के अनुसार किसी व्यक्ति को ऐसे धन के लिए कर नहीं देना होगा जो कि किसी धर्म विशेष या धार्मिक इकाई, की प्रगति या पोषण पर खर्च हुआ है।

अन्त में अनुच्छेद २८ (१) के अनुसार जिस शिक्षा संस्थान को सम्पूर्ण खर्च राज्य निधि से प्राप्त हो रहा है, वहाँ कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी। अनुच्छेद २८ (२) के अनुसार किसी शिक्षा संस्थान का प्रशासन राज्य द्वारा किया जा रहा है, परन्तु जिसकी स्थापना एक ऐसे धर्मादा-न्यास द्वारा की गई है, जिसकी शर्त है कि उक्त संस्थान में धार्मिक शिक्षा दी जाये, वहाँ अनुच्छेद २८ (१) नहीं लागू होगा, अर्थात् उक्त शिक्षा संस्थान में धार्मिक शिक्षा दी जा सकेगी। अनुच्छेद २८ (३) के अनुसार यदि किसी शिक्षा संस्थान को जिसे, राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त है या उसको राज्य निधि से अनुदान मिल रहा है, किसी व्यक्ति को जो वहाँ पढ़ रहा है, धार्मिक शिक्षा में, जो वहाँ दी जा रही है, या उस संस्था में या उससे संलग्न जगह में की जाने वाली धार्मिक उपासना में भाग लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है, सिवाय, जबकि उस व्यक्ति ने और यदि वह व्यस्क न हो तो उसके अभिभावक ने सहमति दी है।

यह स्पष्ट है कि भारत में धर्म निरपेक्ष राज्य की नींव, संविधान की प्रस्तावना और नागरिकों के धार्मिक स्वतत्रता के मूल अधिकार में निहित है। इन दोनों आधारों पर स्थित है, नागरिकों की 'समान रूप से प्राप्त धार्मिक स्वतंत्रता'। भारत में राज्य की धर्म निरपेक्षता इसी से विदित होती है कि राज्य के बिना हस्तक्षेप के प्रत्येक नागरिक को समान रूप से धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है और जो भी सीमाएँ नागरिक के धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार पर संविधान द्वारा रखी गई हैं, वे समस्त नागरिकों के लिए समान हैं।

भारतीय नागरिकों का धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार असीमित नहीं है। संविधान के अनुच्छेद २५ व २६ में उन कारणों का उल्लेख है, जिनके आधार पर धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार को राज्य द्वारा, सार्वजनिक शान्ति, नैतिकता एवं स्वास्थ्य के हित में सीमित किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय को आम रास्ते पर जुलूस निकालने का अधिकार है, परन्तु इसके द्वारा वे उस आम रास्ते को उपयोग में लाने के अधिकार से जनता को वंचित नहीं कर सकते हैं। यदि उस समय न्यायाधीश ने सार्वजनिक शान्ति बनाये रखने के लिए कतिपय आदेश दिये हैं तो वे उनका भी उल्लंघन नहीं कर

सकते है। यह स्पष्ट है कि राज्य द्वारा धार्मिक स्वतत्रता के अधिकार पर समाज के हित मे, सविधान के अनुसार प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। इस प्रकार धार्मिक स्वतत्रता के कारण किसी व्यक्ति को, इस पर भी कि मानव-बलिदान किसी धर्म द्वारा स्वीकृत है मानव-बलिदान करने नही दिया जा सकता है। (जैसे वुद्ध तत्रो मे) या कोई ऐसा कार्य जो कानून के अन्तर्गत एक अपराध है, या किसी वर्ग की धार्मिक भावनाओ या जानबूझकर आघात पहुँचाना।[1] अत जैसे श्री टोप का कथन है— 'धार्मिक या अन्त करण की स्वतत्रता पर आधुनिक समाज म विशेषकर भारतीय समाज जैसे विविध-स्वरूपी समाज मे, सीमाएँ अवश्यभावी है।"[2]

सास्कृतिक एव शैक्षणिक अधिकार

भारतीय सविधान मे सास्कृतिक और शैक्षणिक अधिकारो को रखने का उद्देश्य अल्पसख्यको के हितो की रक्षा करना है। भारत एक बहु धर्म, और बहु-भाषी राष्ट्र है, अतएव भारतीय गणतत्र म अल्पसख्यको की विशेष स्थिति के सन्दर्भ में, उनके हितो की रक्षा के लिए सविधान द्वारा सास्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार दिय है। इन अधिकारो मे एक यह विशेषता है कि इनके अन्तर्गत 'अल्प सख्यक' शब्द का विस्तृत अर्थ माना गया है। इस सन्दर्भ में अल्प सख्यक शब्द से तात्पर्य केवल धर्म सम्बन्धी अल्पसख्यको से ही नही है, किन्तु भाषा, लिपि, और सस्कृति सम्बन्धी अल्पसख्यको से भी है। भारत मे एक दर्जन से अधिक विकसित भाषाएँ हैं अत इस अधिकार का विशेष महत्व है।

अनुच्छेद २६ (१) के अनुसार भारत या भारत के किसी भी भू-भाग मे रहने वाले नागरिको के किसी भी ऐसे जन-समूह को जिसकी अपनी पृथक भाषा, लिपि या सस्कृति है, यह अधिकार है कि वह अपनी भाषा, लिपि या सस्कृति को बनाये रखे। अनुच्छेद २६ (२) के अनुसार यदि कोई शैक्षणिक सस्था राज्य द्वारा या राज्य की सहायता से सचालित की जा रही है तो उसमे प्रवेश हेतु वश, जाति, धर्म और भाषा या इनमे से किसी एक के आधार पर भेद-भाव नही किया जा सकता है।

अल्प सख्यको के हित मे अनुच्छेद ३० (१) द्वारा यह प्रावधान किया गया है कि समस्त अल्पसख्यको को चाहे वे धर्म या भाषा सम्बन्धी क्यो न हो अपने इच्छा की शैक्षणिक सस्थाओ का सचालन करने का अधिकार है। अनुच्छेद ३० (२) के अनुसार शैक्षणिक सस्थाओ को अनुदान देते समय राज्य इस कारण

---

१. डी० डी० वसु—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५४।

२. टी० के० टोपे—द कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया, १६६३ पृ० १३३।

भेद-भाव नहीं करेगा कि किसी शैक्षणिक संस्था का संचालन किसी धर्म या भाषा सम्बन्धी अल्पसंख्यकों की इकाई के हाथों में है।

नागरिकों के शैक्षणिक और सांस्कृतिक मूल अधिकारों की एक अन्य विशेषता यह है कि राज्य तथा नागरिक के सम्बन्धों के सन्दर्भ में यह अधिकार असीमित है अर्थात् इन अधिकारों को राज्य को बिना किसी सीमा के बाध्यकारी रूप से मानना होगा।

सम्पत्ति का अधिकार

समस्त अधिकारों में, जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति के अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। राजनीतिक चिन्तन में प्राचीन समय से इन अधिकारों के महत्व पर समय-समय पर बल दिया गया है। सम्पत्ति का अधिकार, वास्तव में उस यन्त्र के रूप में है, जिससे मानव व्यक्तित्व का विकास होता है। अरस्तू जो राजनीति दर्शन का जनक माना गया है, व्यक्तिगत सम्पत्ति को मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक समझता है।

इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रांस, आयरलैण्ड आदि देशों के संवैधानिक कानून में व्यक्तिगत सम्पत्ति का महत्व दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद १६ (१) (एफ) के अनुसार प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने और व्यय करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त, भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३१ के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार प्रदत्त है। अनुच्छेद ३१ (१) के अनुसार किसी भी व्यक्ति को सिवाय कानून के अनुसार किसी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद ३१ (२) द्वारा यह प्रावधान किया गया है कि किसी भी सम्पत्ति को राज्य केवल सार्वजनिक उद्देश्य के लिये कानून के अनुसार, जो उपयुक्त मुआवजे के लिए प्रावधान करता है, अर्जित कर सकता है तथा इस कानून द्वारा या तो मुआवजे की राशि या उन सिद्धान्तों तथा तरीकों का निर्धारण किया जाना चाहिये जिनके अनुसार मुआवजा निर्धारित किया और दिया जायेगा। इस प्रकार के कानून को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि कानून द्वारा निर्धारित मुआवजा पर्याप्त नहीं है।

अब यह स्पष्ट है कि मुआवजे का निर्धारण करने में व्यवस्थापिका सभा को ही अन्तिम अधिकार है।

संक्षेप में अनुच्छेद ३१ (१) व (२) द्वारा निम्नलिखित तीन मुद्दों का उल्लेख किया गया है।

१—किसी भी व्यक्ति को बिना कानून के उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता है।

२—सरकार किसी व्यक्ति या संस्था की सम्पत्ति को 'सार्वजनिक उद्देश्य' के लिए अर्जित कर सकती है और इसके लिए उसे मुआवजा देना होगा।

३—मुआवजे की राशि का निर्धारण व्यवस्थापिका द्वारा होगा और न्यायालय को इसे उचित या अनुचित ठहराने का अधिकार नहीं है। अमरीका में सरकार द्वारा सम्पत्ति अर्जित करने पर जो मुआवजा दिया जाता है, उसके सम्बन्ध में न्यायालयों को अधिकार है कि वह निर्धारित करें कि मुआवजा उचित है या अनुचित।

अनुच्छेद ३१ (३) के अनुसार यदि किसी राज्य की विधानसभा द्वारा ऐसी विधि, जिसका उल्लेख अनुच्छेद ३१ (२) में किया गया है, निर्मित की गई है, तो यह तब तक प्रभावी नहीं होगी, जब तक की राष्ट्रपति ने उक्त विधि को अपनी स्वीकृति न दे दी हो।

अनुच्छेद ३१ (४) के अनुसार भी यदि कोई विधेयक किसी राज्य विधान सभा के समक्ष संविधान के लागू होने के समय रखा गया है, और उक्त विधान सभा द्वारा पारित होकर उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है, तो उक्त विधि पर किसी न्यायालय के समक्ष इस कारण आपत्ति नहीं की जायेगी कि वह अनुच्छेद ३१ (२) के विरुद्ध है।

अनुच्छेद ३१ उपबन्ध ५ के अनुसार उपबन्ध २ में उल्लेखित मुआवजे सम्बन्धी कानून का निम्नलिखित विषयों पर कोई प्रभाव नहीं होगा।

क—किसी भी स्थापित कानून पर, केवल ऐसे कानून को छोड़कर जिस पर उपबन्ध ६ लागू होता है।

ख—ऐसा कानून जो राज्य द्वारा निम्नलिखित विषयों पर निर्मित हुआ है—

१—कोई कर या अर्थ दण्ड लगाने के लिए।

२—सार्वजनिक स्वास्थ्य को उन्नत करने अथवा जीवन या सम्पत्ति के संकट के निवारण के लिए।

३—ऐसे समझौतों की शर्तों को पूरा करने के लिए जो भारतीय डोमीनियन की अथवा भारत सरकार एवं किसी अन्य देश की सरकार के मध्य किया गया है, अथवा निष्क्रान्त सम्पत्ति से सम्बन्धित कानून।

अनुच्छेद ३१ (६) के अनुसार यदि कोई कानून संविधान के लागू होने के १८ माह से अधिक समय पूर्व राज्य द्वारा बनाया गया है, तो तीन महीने के अन्दर उक्त कानून को राष्ट्रपति द्वारा प्रमाणित करा देता है, तो किसी न्यायालय में उक्त कानून पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जावेगी कि वह उपबन्ध २ के विरुद्ध है।

संविधान लागू होने के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि अनुच्छेद ३१ के विभिन्न उपबन्ध भारत मे विभिन्न सरकारो द्वारा लोक कल्याणकारी राज्य स्थापित करने के लिए पर्याप्त नही थे। इसके अतिरिक्त, जब विभिन्न राज्यो की, जैसे—बिहार, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश, सरकारो ने जमीन्दारी उन्मूलन के लिए कदम उठाये, न्यायालयो ने इसे अनुचित ठहराया। पटना उच्च न्यायालय द्वारा बिहार-भूमि-सुधार अधिनियम १९५० को इस कारण अवैध घोषित किया गया कि वह अनुच्छेद १४ द्वारा प्रदत्त कानून के अनुसार समानता के अधिकार के विरुद्ध है। इसके फलस्वरूप संविधान संशोधन अधिनियम १९५१ द्वारा संविधान मे संशोधन कर दो नये अनुच्छेदो ३१ (अ) और ३१ (ब) एव एक अन्य अनुसूची (नवी) को जोड़ा गया।

अनुच्छेद ३१ (अ) के अनुसार यदि किसी कानून द्वारा किसी सम्पत्ति के स्वामी या जमीन्दार के अधिकारो को सीमित या समाप्त किया जाता है तो उक्त कानून को केवल इस कारण अवैध नही माना जायेगा कि उसके द्वारा अध्याय तीन मे प्रदत्त मूल अधिकारो मे कमी कर दी गई है या उन्हे समाप्त किया गया है। अनुच्छेद ३१ (ब) नवी अनुसूची मे उल्लिखित अधिनियम इस आधार पर अवैध नही ठहराये जा सकते है कि अध्याय तीन के अनुच्छेदो एव नियमो का उल्लंघन करते हैं। और किसी भी न्यायालय के विपरीत निर्णय, डिक्री या आदेश के बावजूद भी इनको वैध माना जायेगा। अनुच्छेद ३१ (ब) द्वारा स्थापित नवी अनुसूची मे इस प्रकार के १३ अधिनियम हैं।

परन्तु राज्य द्वारा अर्जित की हुई सम्पत्ति के लिए, जमीदारी सम्पत्ति को छोड़कर मुआवजा देने के लिए अभी भी कठिनाइयाँ थी। सन् १९५४ मे जब सरकार ने अस्थायी रूप से शोलापुर के सूती मिल का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया, सर्वोच्च न्यायालय ने इसे इस आधार पर अवैध ठहराया कि कोई मुआवजा नही दिया गया था। इसके फलस्वरूप संविधान संशोधन अधिनियम १९५५ (चौथा संशोधन) पारित किया गया, जिससे उपर्युक्त उल्लिखित कठिनाइयो को दूर किया जा सके। चौथे संशोधन अधिनियम १९५५ के अनुसार निम्नलिखित प्रावधान किये गये।

(१) जो सम्पत्ति अनिवार्यत अर्जित की गई है उसके लिये मुआवजे का निर्धारण राशि के रूप मे निर्धारित किया जाये या विशिष्ट सिद्धान्तो का निर्धारण किया जाये जिनके आधार पर मुआवजा दिया जायेगा। किसी भी कानून को जिसके द्वारा राज्य अनिवार्य रूप से सम्पत्ति का अर्जन करता है किसी न्यायालय मे इस कारण चुनौती नहीं दी जायेगी कि मुआवजा पर्याप्त नही है।

(२) जहाँ पर कानून द्वारा राज्य को सम्पति के प्रभुत्व और रखने का अधिकार हस्तान्तरित नही किया गया है, किन्तु केवल प्रबन्ध करने का ही अधिकार दिया गया है, उदाहरण स्वरूप शोलापुर मिल प्रकरण मे, वहाँ यह नही माना जायेगा कि उक्त कानून द्वारा सम्पति के अनिवार्य अर्जन के लिए प्रावधान किया गया है, चाहे उक्त कानून द्वारा किसी व्यक्ति को उसकी सम्पति से वचित किया गया है, और ऐसी स्थिति मे मुआवजे का प्रश्न पैदा नही होगा।

(३) जो उन्मुक्ति अनुच्छेद ३१ (अ) के द्वारा जमीदारी उन्मूलन के कानूनो को न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से, ऐसे कानूनो को मौलिक अधिकारो से सघर्ष में होने की स्थिति म, दी गई थी, उस प्रकार की उन्मुक्ति को निम्नलिखित विषयो के लिए भी लागू किया गया।

(क) कोई कानून जिसके द्वारा राज्य किसी सम्पति या उससे सम्बन्धित अधिकारो को अर्जित करता है या जिसके द्वारा ऐसे अधिकारो को समाप्त या परिवर्तित करता है, या,

(ख) कोई कानून जिसके द्वारा राज्य किसी सम्पति का प्रबन्ध अपने हाथ मे लेता है, या,

(ग) ऐसा कानून जिसके द्वारा दो या अधिक निगमों को सार्वजनिक हित मे या इनमे से किसी निगम के उचित प्रबन्ध के लिए साथ मिलाया जाता है, या,

(घ) कोई ऐसा कानून जिसके द्वारा किसी प्रबन्धक अभिकर्ता, सचिव या निगमो के प्रबन्धको के अधिकारो को समाप्त किया जा सकता है, या,

(ङ) कोई ऐसा कानून जिसके द्वारा किसी ऐसे अधिकारो को समाप्त या परिवर्तित किया जाये, जिनकी उत्पत्ति किसी समझौते, पट्टे या लायसेन्स से खनिज पदार्थ या खनिज तेल खोजने और प्राप्त करने से हुई है, या ऐसा कानून जिसके द्वारा किसी समझौते पट्टे या लायसेन्स को उसकी समयावधि पूरी होने के पूर्व ही समाप्त किया गया है।

सन १९५५ के चौथे सविधान सशोधन के फलस्वरूप नवी अनुसूची मे उल्लेखित १३ अधिनियमो की सख्या मे वृद्धि करके कुल २० अधिनियम कर दिय गये।

सक्षेप मे, १९५५ मे चौथे सविधान सशोधन अधिनियम के लागू होने के फलस्वरूप राज्य द्वारा सम्पति अधिगृहीत करने पर मुआवजे के प्रश्न पर अधिग्रहण कानून को न्यायालय म चुनौती नही दी जा सकती है। मुआवजे के विषय पर व्यवस्थापिका का निर्णय अन्तिम होगा। "यदि सम्पति का अधिकार न्याय्य नही है तो अब वह मूल अधिकार नही रहा है। क्योकि मूल अधिकार की विशिष्टता यह है कि इसको न केवल कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता किन्तु विधायी बहुमत

की निरकुशता के विरुद्ध भी प्रत्याभूत किया जाता है। यह पहलू अब सम्पति के अधिकार पर, जो मूल अधिकारो के अध्याय मे निहित है, कम लागू होता है। दूसरे शब्दो मे जहाँ तक सम्पति के अधिकार का सम्बन्ध है, ससद ही सार्वभौम है।"[१]

अतएव अनुच्छेद ३१ के अन्तर्गत यदि राज्य किसी सम्पति को सार्वजनिक उद्देश्य के लिए अधिगृहीत करता है, तो १९५५ के चौथे सशोधन अधिनियम के अनुसार मुआवजे के प्रश्न पर न्यायालय मे चुनौती नहीं दी जा सकती। परन्तु ससद ने जब बैंक राष्ट्रीयकरण कानून पारित किया तो इस कानून को सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती दी गई थी। सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद ३१ की व्याख्या करते हुए निर्णय दिया कि मुआवजा भ्रमपूरक नहीं होना चाहिये मुआवजे के निर्धारण मे न तो गलत सिद्धान्तो को लागू करना चाहिये और न ही सही सिद्धान्तो की उपेक्षा करनी चाहिये।

सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय भी दिया कि मुआवजे के प्रश्न के सम्बन्ध मे न केवल अनुच्छेद ३१ परन्तु अनुच्छेद १९ (१) (एफ) की आवश्यकताओं को भी पूरा किया जाना चाहिये। अनुच्छेद १९ (१) (एफ) प्रत्येक नागरिक को सम्पति रखने का अधिकार प्रदत्त करता है, परन्तु सार्वजनिक हित मे तर्क सगत सीमाएँ लगाई जा सकती हैं। बैंक राष्ट्रीयकरण कानून के सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय के उपर्युक्त निर्णय के कारण श्रीमती गाधी की सरकार ने अपनी सामाजिक एव आर्थिक नीतियो को सफल बनाने के लिए यह आवश्यकता महसूस की कि ससद को मूल अधिकारो मे सशोधन करने का अधिकार होना चाहिये और सम्पति के अधिकार मे कुछ और सशोधन किये जाने चाहिये। अत २४वें सविधान सशोधन अधिनियम को ५ नवम्बर १९७१ से लागू करने के परिणाम स्वरूप ससद को पुन: मूल अधिकारो के सशोधन करने का अधिकार प्राप्त हुआ, जिससे उसको १९६७ मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गोलकनाथ प्रकरण मे दिये गये निर्णय के आधार पर, वचित किया गया था। इस २४वें सशोधन अधिनियम के लागू होने के तत्काल बाद २५वां सशोधन अधिनियम पारित किया गया जिससे सम्पति के अधिकार मे कुछ और सशोधन किये गये।

पच्चीसवें सशोधन के दो मुख्य भाग हैं। पहले भाग का उद्देश्य ३१ मे सशोधन करना है। जैसा देखा जा चुका है, अनुच्छेद ३१ के अन्तर्गत यदि राज्य सार्वजनिक उद्देश्य के लिए सम्पति अर्जित करता है तो उसके लिए मुआवजा देना होगा। यद्यपि, मुआवजा न्याय्य नहीं होगा। पच्चीसवें सशोधन अधिनियम के अनुसार

१ एम० वी० पायली—'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० १३०।

सविधान म से 'मुग्रावजा' शब्द को हटाकर उसके स्थान पर 'राशि' शब्द रखा गया है।

पच्चीसवे सशोधन अधिनियम का दूसरा भाग अनुच्छेद ३१ म एक नई धारा ३१ (सी) जोडता है। इस नई धारा ३१ (सी) के अनुसार यदि किसी कानून म यह लिखा है कि इसका उद्देश्य उन राज्य नीति निर्देशक तत्वा को क्रियान्वयन करना है जिनका उल्लेख अनुच्छेद ३९ (बी) एव (सी) मे है और जिसका उद्देश्य समाज के भौतिक साधनो के वितरण द्वारा सामान्य हित की प्राप्ति करना एव धन तथा उत्पादन के साधनो के एकत्रीकरण को रोकना है तो किसी व्यक्ति को यह अधिकार नही होगा कि ऐसे कानून को अनुच्छेद १४, १९ एव ३१ के आधार पर चुनौती दे। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार के कानून को, जिसका उद्देश्य उपर्युक्त राज्य नीति निर्देशक तत्वो का क्रियान्वयन करना है, किसी न्यायालय मे इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकेगी कि उसके द्वारा उक्त नीति का क्रियान्वयन नही किया गया है।

पच्चीसवें सशोधन अधिनियम की कड़ी आलोचना की गई है, जिसके निम्नलिखित आधार हैं।

१—इसके परिणाम स्वरूप मूल अधिकारो की वस्तुस्थिति यह हो गई है कि इनको राज्य के नीति-निर्देशक तत्वो के अधीन कर दिया गया है।

२—इस सशोधन अधिनियम द्वारा धारा ३१ (सी) जोडने से एक ऐसी विचित्र स्थिति हो गई है कि यद्यपि मूल अधिकार सविधान मे तो है, परन्तु वास्तव म इस नई ३१ (सी) धारा की आड मे मूल अधिकारो को कम या समाप्त किया जा सकता है।

यह विचित्र-सा लगता है कि जबकि किसी मूल अधिकार मे सशोधन के लिए ससद के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो का दो तिहाई बहुमत आवश्यक है, अनुच्छेद ३१ (सी) के अन्तर्गत कानून, जो मूल अधिकारो के विरुद्ध हो सकता है, व्यवस्थापिका सभा के केवल साधारण बहुमत से पारित किया जा सकता है।

३—इस नई धारा ३१ (सी) से न केवल सम्पति के अधिकार का अतिक्रमण होता है, परन्तु अन्य अधिकारो का जो कि सम्पति के अधिकार से सम्बन्धित नही है, जैसे—भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता, समुदाय व सघ निर्माण करने की स्वतत्रता भारत मे किसी भी हिस्से मे निवास करने की स्वतत्रता का भी अतिक्रमण, आर्थिक सत्ता के केन्द्रित होने के बहाने, किया जा सकता है।

४—ऐसे कानून को, जिसका उद्देश्य राज्य के नीति-निर्देशक तत्वो का क्रियान्वयन करना है नागरिक इस आधार पर चुनौती नही दे सकता है कि वास्तव मे

उक्त कानून द्वारा नीति-निर्देशक तत्व का क्रियान्वयन हो सकेगा या नहीं। सम्भवत इसका परिणाम यह हो सकता है कि ऐसे कानून से यदि मूल अधिकार राजनीति निर्देशक तत्वो को क्रियान्वित करने के प्रयत्न मे समाप्त होते हैं परन्तु वास्तव में राज्य नीति-निर्देशक तत्व का क्रियान्वयन नही हुआ है, तो जनता को एक साथ दो अन्यायो को सहना होगा।

५—धारा ३१ (सी) के अनुसार राज्य विधान सभाएँ भी ऐसे कानून पारित कर सकती हैं जिनसे मूल अधिकारो का हनन होगा। यद्यपि साधारणतया किसी राज्य विधान सभा को एक मूल अधिकार मे भी सशोधन करने का अधिकार नही है, किन्तु धारा ३१ (सी) के अनुसार यदि कोई विधान सभा ऐसा कानून पारित करती है जिसमे यह लिखा है कि उक्त कानून का उद्देश्य किसी नीति-निर्देशक तत्व का क्रियान्वयन करना है, तो इसके बावजूद कि यह कानून मूल अधिकारो का हनन करता है, वह वैध होगा।

६—अन्त मे, पच्चीसवें सशोधन अधिनियम से अल्पमतो के अधिकारो पर जो कि सविधान के अनुच्छेद २५ से ३० मे निहित हैं, आघात पहुँच सकता है। धन तथा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकने के बहाने अल्पमतो के विभिन्न अधिकारो का कानून द्वारा अतिक्रमण किया जा सकता है।

अतः पच्चीसवें सविधान सशोधन के फलस्वरूप, सम्पति के अधिकार का अस्तित्व पूर्ण रूप से व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर हो गया है।

सवैधानिक उपचारो का अधिकार

नागरिको के उपर्युक्त छः मूल अधिकार जिनका अध्ययन किया गया है, पृथक सत्तापूर्ण या सकारात्मक अधिकार हैं। परन्तु नागरिको को प्रदत्त सातवाँ मूल अधिकार, वास्तव मे 'प्रक्रियात्मक अधिकार' है क्योकि इस अधिकार के अन्तर्गत, अन्य किसी अधिकार के लिए उपचार प्राप्त करने के लिए नागरिक उपयुक्त न्यायालय की शरण मे जा सकता है। इस अधिकार के अनुसार सविधान मे उल्लिखित प्रक्रियानुसार नागरिक अपने किसी मूल अधिकार के उल्लघन होने की स्थिति मे न्यायालय मे जाकर उपचार प्राप्त कर सकता है। इस सन्दर्भ मे अनुच्छेद ३२ (१) के अनुसार नागरिको को अपने मूल अधिकारो को लागू करवाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष जाने का अधिकार है। अनुच्छेद ३२ (२) के अनुसार, मूल अधिकारो के लिए उपचार हेतु सर्वोच्च न्यायालय को निर्देश, आदेश या रिट जारी करने का अधिकार है। यह रिट विभिन्न प्रकार की है।

१—बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) बन्दी प्रत्यक्षीकरण के लिए प्रयुक्त शब्द Habeas Corpus लैटिन भाषा के शब्द का अर्थ है, 'शरीर दो'

यदि किसी व्यक्ति को बन्दी बनाया गया है, तो न्यायालय इस रिट द्वारा बन्दी व्यक्ति को पेश करने की आज्ञा देता है। अत यह रिट वस्तुत बन्दी बनाने वाले व्यक्ति को न्यायालय के एक आदेश के रूप मे है कि बन्दी व्यक्ति को २४ घण्टे मे न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित किया जाये।

भारत मे इस रिट को सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय जारी कर सकता है।

२—परमादेश (Mandamus) परमादेश के लिए प्रयुक्त शब्द Mandamus लैटिन भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है—'हम आज्ञा देते हैं।' इस रिट द्वारा उपयुक्त न्यायालय किसी व्यक्ति या सस्था को यह आदेश दे सकता है कि वह अपने कानून द्वारा निर्धारित कर्तव्यो तथा दायित्वो का समुचित, रीत्यनुसार निर्वाह करे। उदाहरण के लिए, यदि किसी मिल मे अपना कार्य करते हुए कोई श्रमिक हताहत हो जाता है तो मिल अधिकारियो को श्रमिक को श्रमिक कानूनो के अन्तर्गत उचित मुआवजा देना चाहिये। यदि यह मुआवजा नही दिया जाता है तो उच्च न्यायालय द्वारा परमादेश जारी कर मिल अधिकारियो को उचित मुआवजा देने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

३—प्रतिषेध (Prohibition) यह रिट एक उच्च न्यायालय द्वारा निम्न-न्यायालय के लिए निम्नलिखित कारण वश जारी की जा सकती है।

(i)—यदि निम्न न्यायालय ने अपने क्षेत्राधिकार का उल्लघन किया है, या,

(ii)—प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त का उल्लघन किया है।

यह रिट किसी ऐसी सस्था के विरुद्ध भी जारी की जा सकती है जिसको अर्द्धन्यायिक अधिकार प्रदत्त हैं।

४—उत्प्रेषण (Certiorari) Certiorari शब्द का अर्थ है—'पूर्णतया सूचित होना।' इस रिट के अनुसार किसी उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालय या अर्द्ध न्यायिक अधिकारी को यह आदेश दिया जाता है कि जो मुकदमा उसके समक्ष विचारार्थ पडा है उसे उच्चतर न्यायालय के सम्मुख भेज दे। उत्प्रेषण रिट को जारी करने के दो कारण हैं।

(क) यदि किसी निम्न न्यायालय या प्राधिकारी को कानून के अन्तर्गत मुकदमे पर विचार करने का अधिकार है, या

(ख) यदि अन्याय होने का डर है।

५—अधिकार पृच्छा (Quo Warranto) Quo Warranto का अर्थ है—'किस अधिकार से।' इस रिट के द्वारा उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय उस व्यक्ति को, जो किसी पद पर कानून के अनुसार निर्वाचित या नियुक्त नहीं हुआ है, परन्तु जो उस पद को ग्रहण किये हुए है, या उस पर दावा करता है, यह

आदेश दे सकता है कि वह व्यक्ति यह स्पष्टीकरण दे कि किस अधिकार से वह अपने दावे का समर्थन करता है। अत यह स्पष्ट है कि अधिकार-पृच्छा रिट को लागू करने का उद्देश्य किसी पद के अवैधानिक रूप से धारण किये जाने को रोकना है।

संवैधानिक उपचारो का मूल अधिकार दो प्रकार के आश्वासन देता है।

सर्वप्रथम, व्यवस्थापिका या कार्यपालिका पर सविधान मे इस अधिकार के होने से एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक अवरोध है जिसके कारण वे नागरिको के मूल अधिकारो का उल्लघन करने के लिए प्रोत्साहित नही होंगे।

द्वितीय, यदि किसी नागरिक के मूल अधिकार का व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के कार्यों द्वारा हनन होता है तो पीडित नागरिक को सवैधानिक उपचार का आश्वासन है। "जो रिट (लेख) हमारे सविधान मे उल्लेखित हैं, वे मूल हैं। यह व्यवस्थापिका पर एक सीमा के रूप मे हैं। सविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्रदत्त किये गये हैं, और इन रिट को समाप्त नही किया जा सकता है, जब तक कि स्वय सविधान का सशोधन ऐसे साधनों द्वारा जो व्यवस्थापिका को प्रदत्त है, नही किया जाता है।"[1]

नि सदेह सवैधानिक उपचारो का अधिकार सबसे महत्वपूर्ण अधिकार है। यह अधिकार सबसे महत्वपूर्ण अधिकार है। यह अधिकार अन्य अधिकारो का पोषक है। सविधान सभा मे, अनुच्छेद ३२ के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए डा० अम्बेदकर ने कहा—"यदि मुझ से सविधान मे सबसे महत्वपूर्ण अनुच्छेद के लिए पूछा जाय—ऐसा अनुच्छेद जिसके बिना सविधान निरर्थक हो जायेगा, तो मै सिवाय इस अनुच्छेद के किसी अन्य अनुच्छेद की ओर सकेत नहीं करूँगा। यह सविधान की आत्मा है, उसका हृदय है।"[2]

---

१. एम० जी० गुप्ता—आस्पेक्ट्स आफ द कान्स्टीट्यूसन आफ इण्डिया, पृ० १३८, सन् १९६४।

२. बी० आर० अम्बेदकर—कान्स्टीटूएन्ट असेम्बली डिबेट्स, भाग—६ स० २३ पृ० ९५३।

राज्य नीति-निर्देशक तत्व

आधुनिक युग म लोकतत्र के सन्दर्भ म राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत यह सत्य है कि लोकतत्र के दो पहलू होते हैं (i) राजनीतिक और (ii) आर्थिक। साधारणतया एक लोकतांत्रिक सविधान का उद्देश्य राजनीतिक लोकतत्र की स्थापना करना होता है किन्तु आर्थिक समानता की अनुपस्थिति म राजनीतिक स्वतत्रता का कोई मूल्य नही होगा। अतएव राजनीतिक लोकतत्र के लिए सविधान मे प्रावधान अपने आप मे पर्याप्त नही हैं। इस कारण राजनीतिक लोकतत्र को जडो को सशक्त करने के लिए आर्थिक लोकतत्र का होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस देश म राजनीतिक लोकतत्र को सशक्त करने क लिए आर्थिक लोकतत्र नही है वहाँ निरकुशता की स्थापना मे निश्चय ही देर नही होगी। यदि मूल अधिकारो द्वारा भारत म राजनीतिक लोकतत्र का आश्वासन दिया गया है तो राजनीति निर्देशक तत्वो द्वारा आर्थिक लोकतत्र क विकास के लिए आश्वासन दिया गया है जिसमे उसको (राजनैतिक लोकतत्र) पोषण मिल सके। अतएव राजनीति निर्देशक तत्व भारत मे वास्तविक लोकतत्र के लिए सबसे बडा आश्वासन है।"[१]

अब प्रश्न यह है कि राजनीतिक लोकतत्र का क्या अर्थ है? राजनीतिक लोकतत्र का अभिप्राय ऐसी सरकार से है, जो जनता द्वारा अभिव्यक्त बहुमत के आधार पर स्थापित है, अर्थात् ऐसी सरकार जिसके निर्माण के लिए नागरिको ने अपनी व्यक्तिगत और राजनीतिक स्वतत्रताओ का पूर्ण उपयोग किया है और जो विधि शासन पर आधारित होते हुए नागरिको के विचारो की अभिव्यक्ति तथा सगठन निर्माण करने की स्वतत्रता प्रदत्त करती है।

नि सदेह, राजनीतिक लोकतत्र की आवश्यकताओ को भारत के सविधान के अन्तर्गत मान्यता दी गई है। परन्तु आर्थिक लोकतत्र के उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत म विभिन्न सरकारो पर सविधान द्वारा महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व रखा गया है। जैसे डा० एस० सी० डेश का कहना है—'सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्रो मे

१. एम० वी० पायली, 'इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन, १९६२ पृ० १५४।

अभी भी भारत का गंभीर उत्तरदायित्व है। राजनीतिक लोकतंत्र का समाज को उन सीमाओं को जो समाज के विभिन्न वर्गों में भेदभाव स्थापित करती है, दूर किए बिना राजनीतिक लोकतंत्र का कोई अर्थ नहीं होगा। इसी प्रकार, गरीबी तथा जीवन का अत्यधिक निम्न स्तर भारत की जनता के राजनीतिक पिछड़ेपन के कारण थे। सामन्तवादी जमींदार और पूँजीपति सरलता पूर्वक राजनीतिक अधिकारों में व्यापार करके जनता के राजनीतिक जीवन को भ्रष्ट कर सकते हैं, यदि साधारण नागरिक को अपनी आवश्यकताओं और भूख से छुटकारा प्राप्त नहीं होता है।"[1]

वस्तुत, बिना आर्थिक लोकतंत्र के राजनीतिक लोकतंत्र केवल इन्द्रजाल के सदृश ही होगा। लोकतंत्र में राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ अर्थहीन हैं, जब तक नागरिकों को समान आर्थिक अवसर नहीं प्राप्त हैं। प० जवाहरलाल नेहरू ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है—'हम स्वतन्त्रता की चर्चा करते हैं, किन्तु जब तक आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं है, तब तक केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता ही हमें आगे नहीं ले जा सकती। वास्तव में, एक व्यक्ति जो भूखा मर रहा है या एक देश जो गरीब है, उसके लिए स्वतन्त्रता का कोई अर्थ ही नहीं है।"[2]

समाज में आर्थिक असमानताओं के विद्यमान होने से, राजनीतिक अधिकार अव्यावहारिक हो जाते हैं। प्रो० हेरल्ड लास्की का कथन है— 'इसका तात्पर्य है *कि कम भाग्यशाली व्यक्तियों की भौतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियों का निरकुशतापूर्वक* निर्धारण करना। इसका तात्पर्य है सरकारी-यन्त्र का नियन्त्रण, उनकी हानि के लिए करना।"[3]

इसके अतिरिक्त प्रो० लास्की कहते हैं—"राजनीतिक समानता वास्तविक नहीं है, यदि इसके साथ आर्थिक समानता नहीं है, अन्यथा राजनीतिक सत्ता (अधिकार) आर्थिक सत्ता के केवल साधन के रूप में हो जायगी।"[4]

राजनीतिक क्षेत्र में अधिकारों का कोई उपयोग नहीं रह जाता है—बल्कि प्राय दुरुपयोग ही होता है, यदि नागरिकों की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जाता है। उदाहरण स्वरूप आम चुनाव के दौरान प्राय पैसा के बल

---

१ एम० सी० ग्रेग—'द कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया', १९६०, पृ० ४३२।

२. प० नेहरू—'द क्वीन्टऐसेन्स आफ नेहरू' (के० टी० नरसिंह चर द्वारा सम्पादित) १९६१, पृ० १४६।

३. एच० लास्की—'ए ग्रामर आफ पालिटिक्स', १९३७ पृ० १६१।

४. एच० लास्की—'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० १६२।

पर आर्थिक मारों से लदे हुए गरीब मतदाताओं को विभिन्न प्रकार के लोभों से किसी एक पक्ष में मत देने के लिये प्रभावित तथा भ्रष्ट करने के प्रयत्न किये जाते हैं, जिसके बुरे परिणाम इस सत्य की पुष्टि करते हैं कि राजनीतिक लोकतन्त्र को सशक्त बनाने के लिए नागरिकों की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के कार्य को प्राथमिक महत्व दिया जाना चाहिये।

राजनीति विज्ञान की इन धारणाओं के सन्दर्भ में जनतान्त्रिक विचारों में नागरिकों के राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इन राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों के सम्बन्ध में सरकार की भूमिका के दो पृथक रूप होते हैं। संविधान में उल्लिखित राजनीतिक अधिकारों द्वारा ऐसा क्षेत्र स्थापित किया जाता है, जिसमें राज्य (सरकार) का हस्तक्षेप अवैधानिक माना जाता है। अतएव राज्य (सरकार) की भूमिका, राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में नकारात्मक है। केवल, ऐसी परिस्थिति में जब किसी मूल राजनीतिक अधिकार का उल्लंघन हुआ है, न्यायपालिका की भूमिका का प्रश्न पैदा होता है।

इसके विपरीत, संविधान में उल्लिखित विभिन्न आर्थिक अधिकारों, उदाहरण स्वरूप-भारतीय संविधान में राज्य नीति-निर्देशक तत्वों में निहित आर्थिक अधिकारों का क्रियान्वय राज्य सरकार की सकारात्मक भूमिका से ही सम्भव है। इन अधिकारों को संविधान में रखने के फलस्वरूप, राज्य के नागरिकों के प्रति कतिपय महत्वपूर्ण कर्तव्यों का निर्धारण होता है। "सरकार का स्वरूप आखिरकार किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए केवल एक साधन ही है। स्वतन्त्रता भी केवल एक साधन है, जबकि उद्देश्य है—लोक कल्याण, मानव प्रगति व गरीबी, बीमारी और पीड़ा को समाप्त करना और प्रत्येक व्यक्ति को भौतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से 'अच्छे-जीवन, व्यतीत करने का अवसर प्रदान करना।"[1] वस्तुतः सरकार एक अभिकरण है जिसका उत्तरदायित्व नागरिकों के 'अच्छे जीवन' को संविधान में निहित राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के अनुकूल व्यावहारिक रूप देना है। यह निःसंदेह सत्य है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता एक साधन और एक आवश्यक साधन है, जिसके द्वारा सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। "परन्तु राजनीतिक स्वतन्त्रता अपने में केवल एक उद्देश्य नहीं हो सकती है। वास्तव में राजनीतिक स्वतन्त्रता का इस देश के करोड़ों लोगों के लिए कोई महत्व नहीं जबकि वे गरीबी तथा उससे उत्पन्न विभिन्न सामाजिक बुराइयों

---

१. प० नेहरू—'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० १४७।

से पीडित हैं और जब तक उनको राजनीतिक स्वतन्त्रता में निहित सामाजिक-आर्थिक अधिकार आश्वासित न किये गये हैं।"[१]

राजनीतिक स्वतन्त्रता को व्यावहारिक रूप देने के लिए भारत के सविधान निर्माताओ ने सविधान मे नागरिको के राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक अधिकारो का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। जैसा पूर्व मे देखा जा चुका है, सविधान की प्रस्तावना मे नागरिको के ये अधिकार प्रतिबिम्बित होते हैं। मुख्यत सविधान के अध्याय तीन मे जिन मूलाधिकारो का वर्णन है, उनके द्वारा भारत म राजनीतिक लोकतन्त्र की नीव स्थापित की गई है। राजनीतिक लोकतन्त्र के विचार का सविधान के अनुच्छेद ७५ (३) और अनुच्छेद ८१ (१) (ए) मे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, जिनके द्वारा क्रमश मन्त्रीमडल के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त तथा ससद के निचले सदन को लोकसभा के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली को मान्यता दी गई है।

इसी प्रकार आर्थिक लोकतन्त्र की नीव मुख्यत भारतीय सविधान के अध्याय चार मे समाविष्ट राज्य नीति-निर्देशक तत्वो के रूप मे है। अतएव भारतीय सविधान मे नागरिको के दो प्रकार के अधिकारो पर बल दिया गया है (१) राजनीतिक तथा (२) आर्थिक एव सामाजिक। ये एक दूसरे के पूरक हैं।

भारतीय सविधान के अध्याय चार मे उल्लिखित राज्य नीति-निर्देशक तत्व के लिए सविधान निर्माताओ को आयरलैण्ड के सविधान स प्रेरणा मिली। आयरलैण्ड के सविधान के अनुच्छेद ४५ के आधार पर भारतीय सविधान मे राज्य नीति निर्देशक तत्वो को रखा गया है। परन्तु भारतीय सविधान मे राज्य नीति-निर्देशक तत्व आयरलैण्ड के सविधान की तुलना मे, अधिक सख्या मे और विभिन्न प्रकार के हैं। भारत मे जिस जनतान्त्रिक आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करना है, उसके लिए ये राज्य नीति निर्देशक तत्व पथ प्रदर्शन का कार्य करते हैं। "राज्य नीति-निर्देशक तत्व, जैसा प्रो० एलेक्जेन्डरोविक्ज का कथन है, भारतीय सविधान-सभा की जो सविधान के उपयुक्त प्रावधानो मे निहित है, सामाजिक एव आर्थिक नीतियो को प्रतिबिम्बित करते हैं।"[२]

राज्य नीति निर्देशक तत्वो द्वारा एक ऐसा क्षेत्र निर्धारित किया गया है, जिसमे राज्य (विभिन्न सरकारो) की सकारात्मक भूमिका अपेक्षित है। सविधान के

---

१ पी बी गजेन्द्रगडकर—ला, लिबर्टी एण्ड सोशल जस्टिस, १९६५, पृ० १२४–१२५।

२. सी० एलेक्जेन्डरोविक्ज—कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेन्टस इन इण्डिया, १९५७ पृ० १०६.

अनुच्छेद ३७ के अनुसार ये सिद्धान्त (राज्य नीति-निर्देशक तत्व) देश के प्रशासन मे मूल हैं और राज्य का यह कर्तव्य है कि कानून-निर्माण कर इन सिद्धान्तो को लागू करें। भारत के सविधान निर्माताओ को इस बात के लिए श्रेय दिया जाना चाहिए है कि आर्थिक लोकतत्र की प्राप्ति के लिए उन्होंने लोक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए राज्य नीति-निर्देशक तत्वो रूपी साधनो के लिए भी प्रावधान किया, जिससे लोक कल्याणकारी राज्य का आदर्श प्राप्त किया जा सके। श्री टी के टोपे के अनुसार—"एक लोक कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताए निम्नलिखित हैं।

(१) सरकार के कार्य क्षेत्र, मे निजी स्वामित्व की आर्थिक सस्थाओ के नियन्त्रण के लिए व्यापक वृद्धि।

(२) राष्ट्रीय समाज के प्रत्येक सदस्य को प्रत्यक्ष रूप से सेवा प्रदत्त करना-बेरोजगारी तथा सेवा निवृत्ति सबधित लाभ, परिवार सबधी भत्ते, कम खर्च पर गृह-निर्माण, चिकित्सा सेवा आदि।

(३) ऐसे उद्योगो एव व्यापार मे सरकार के स्वामित्व तथा कार्यों मे वृद्धि जिनका सचालन व्यक्तियो या निजी निगमो द्वारा निजी लाभ प्राप्त करने के लिए हो रहा था, या, होगा।"[1]

राज्य नीति-निर्देशक तत्वो का उद्देश्य लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। इनके द्वारा जनता के प्रति सत्तारूढ तथा अन्य राजनीतिक दलो के कर्तव्यो का स्पष्टीकरण किया गया है। "इनके द्वारा राजनीतिक दलो की भावनाओ के सदा परिवर्तनशील नमूने पर, जब इनको सविधान के अनुसार सरकार सचालित करने के लिए आमन्त्रित किया गया है, अवरोध लगाया जाता है। यह सत्य है कि यह न्याय्य नही है, किन्तु ब्रिटेन मे मेग्नाकार्टा एव अमरीका मे स्वतन्त्रता के घोषणा पत्र के सदृश इन सिद्धान्तो से न्यायाधीश, सविधान तथा देश के कानून की व्याख्या करते समय अवश्य प्रभावित होंगे।"[2]

भारतीय सविधान के चौथे अध्याय मे अनुच्छेद ३६ से ५१ तक विभिन्न राज्य-नीति निर्देशक-तत्वो का उल्लेख किया गया है। इनमे भारतीय नागरिको के कतिपय महत्वपूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार निहित है। सविधान के अनुसार केन्द्रीय और राज्य सरकारो को अपने दैनिक प्रशासन मे इन सिद्धान्तो को क्रियान्वित करना आवश्यक है। राज्य नीति-निर्देशक तत्व निम्नलिखित है।

१—राज्य, विशेषकर, अपनी नीति का निर्धारण, इस हेतु करेगा कि,

---

१. टी० के टोपे—'द कन्स्टिट्यूशन आफ इण्डिया' १९६३ पृ० २००।
२. 'वही' पृ० २००–२०१।

(क) समस्त नागरिको, पुरुष तथा स्त्रियो को पर्याप्त जीविका अर्जन करने का अधिकार हो;

(ख) समाज के भौतिक साधनो का स्वामित्व तथा नियन्त्रण इस प्रकार वितरित हो जिससे सामान्य रूप से जनहित समव हो।

(ग) देश की आर्थिक व्यवस्था का सचालन इस प्रकार न हो जिससे धन का केन्द्रीयकरण होते हुए सामान्य हित को हानि पहुँचे।

(घ) पुरुष तथा स्त्री को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले,

(ड) श्रमिको, (पुरुष एव स्त्री) तथा कम आयु के बालको के स्वास्थ्य और शक्ति का शोषण न हो और नागरिको को अपनी आर्थिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए उनकी आयु तथा शक्ति के दृष्टिकोण से अनुपयुक्त व्यवसायो मे प्रवेश करने के लिए बाध्य न होना पड़े,

च—बचपन एव युवावस्था का शोषण न हो, तथा नैतिक एव भौतिक परित्याग से उनका सरक्षण हो (अनुच्छेद ३६)

२—राज्य द्वारा ग्राम-पचायतो को सगठित करने की दिशा मे कदम उठाये जायेंगे और राज्य उनको आवश्यक शक्तियाँ प्रदत्त करेगा जिससे वे स्वायत्त-शासन की इकाइयो के सदृश कार्य कर सके। (अनुच्छेद ४०)

३—राज्य अपनी आर्थिक क्षमताओ के दायरे मे नागरिको के लिए नौकरी और शिक्षा की व्यवस्था करेगा और वृद्धावस्था, बीमारी एव बेरोजगारी या अग हानि होने पर सार्वजनिक सहायता करेगा (अनुच्छेद ४१)

४—राज्य श्रम तथा प्रसूति सहायता से सबधित शर्तों को मानवीय स्वरूप देने के लिए प्रावधान करेगा (अनुच्छेद ४२)

५—राज्य कानून या आर्थिक सगठन द्वारा समस्त श्रमिको को कृषि, उद्योग या अन्य कार्यों से सबधित उपयुक्त जीविका एव कार्यों की शर्तों के लिए प्रावधान करेगा जिससे जीवन का उत्तम स्तर स्थापित हो सके तथा नागरिक सामाजिक और सास्कृतिक अवसरो का उपयोग कर सकें। राज्य व्यक्तिगत और सहकारिता के आधार पर लघु उद्योगो को प्रोत्साहित करेगा। (अनुच्छेद ४३)

६—राज्य सम्पूर्ण भारतीय प्रदेश मे नागरिको के लिए एक समान व्यवहार सहिता उपलब्ध करवाने का प्रयत्न करेगा। (अनुच्छेद ४४)

७—राज्य सविधान के लागू होने के दस वर्षो मे चौदह वर्ष तक की आयु के समस्त बालको को अनिवार्य शिक्षा देने के लिए प्रावधान करेगा (अनुच्छेद ४५)

८—राज्य दुर्बल वर्गों के विशेष कर अनुसूचित जातियो तथा पिछड़ी जातियो के, शिक्षा और आर्थिक हितो की उन्नति के लिए व्यवस्था करेगा और उनका सामाजिक अन्याय तथा अन्य प्रकार के शोषण से रक्षा करेगा। (अनुच्छेद ४६)

९—राज्य अपनी जनता के आहार सबधी एवं जीवन के स्तर को ऊँचा करने के तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य मे सुधार करने के कार्यों को प्राथमिक महत्व देगा तथा यह प्रयत्न करेगा कि उन मादक पेयो को छोडकर, जो चिकित्सा मे आवश्यक हैं, स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, उनका निषेध हो। (अनुच्छेद ४७)

१०—राज्य कृषि एव पशुपालन का आधुनिक और वैज्ञानिक आधार पर सचालन करेगा, विशेष तौर से गोवश के सरक्षण और नस्ल मे सुधार के लिए तथा गाय, बछडे, दूध देने वाले भारवाही पशुओ के वध का निषेध करने का प्रयास करेगा। (अनुच्छेद ४८)

११—राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि प्रत्येक स्मारक या कलात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान या वस्तु का, जिसको ससदीय कानून द्वारा राष्ट्रीय महत्व का निर्धारित कर दिया गया है, सरक्षण करे। (अनुच्छेद ४९)

१२—राज्य द्वारा न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए कदम उठाए जायेंगे।

१३—राज्य द्वारा निम्नलिखित विषयो के सबध मे प्रयत्न किये जायेंगे।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति के लिए,

(ख) राष्ट्रो के मध्य न्यायपूर्ण और सम्मानपूर्ण सबधो को बनाये रखने के लिए,

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय विधि और और सधियो मे निहित कर्त्तव्यो के प्रति राष्ट्रो के व्यवहार मे आदर बढाने के लिए,

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय वाद-विवादों को पच-निर्णय द्वारा निबटाने के लिए।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अधिकाश राज्य नीति-निर्देशक तत्वो का सबध नागरिको के सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारो से है। ये आर्थिक अधिकार लोकतत्र के मूल आधार हैं। राज्य नीति-निर्देशक तत्व मूल अधिकारो से इस दृष्टि से भिन्न हैं कि मूल अधिकार न्याय्य हैं, अर्थात् इन के पीछे न्यायालयो की शक्ति है, किन्तु राज्य के नीति निर्देशक तत्व न्याय्य नही है। तथापि, देश के प्रशासन का ये मूल आधार हैं। भारतीय सविधान मे नागरिको के मूल अधिकार तथा राज्य नीति निर्देशक तत्व, आधुनिक समय मे जनतत्र के दो सबधित पहलुओ-व्यक्तिगत स्वतत्रता और लोक कल्याण को प्राप्त करने के लिए सवैधानिक साधन है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि चूंकि लोकतत्र मे 'व्यक्तिगत स्वतत्रता' और लोक-कल्याण एक दूसरे के पूरक है, भारतीय सविधान के अन्तर्गत लोकतत्र के इन दो पहलुओ की प्राप्ति के लिए निर्धारित साधन, मूल अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक तत्व, भी एक दूसरे के पूरक है क्योकि इनके माध्यम से ही भारत मे सही अर्थ म लोकतत्र स्थापित किया गया है। प्राय- राज्य के नीति-निर्देशक तत्वो की

आलोचना की जाती है, कि यदि राज्य इनका पालन नहीं करता है तो इनका क्रियान्वयन न्यायालयों द्वारा, मूल अधिकारों के सदृश नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से, आलोचकों का कहना है कि इनको संविधान में रखने का कोई महत्व नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को न्यायालयों द्वारा लागू नहीं करवाया जा सकता है; किन्तु ये सिद्धान्त वर्तमान और भविष्य में सत्तारूढ़ होने वाले राजनीतिक दलों के लिए एक निरन्तर चेतावनी है कि इन सिद्धान्तों का दैनिक प्रशासन में उपयोग होना आवश्यक है, अन्यथा जनता प्रति पाँच वर्ष के बाद आम चुनाव के दौरान सत्तारूढ़ दल को सत्ता से हटा सकती है। अतः यह सत्य है कि राज्य नीति-निर्देशक तत्वों के पीछे न्यायालयों की शक्ति नहीं है, परन्तु सत्तारूढ़ दल पर इनके क्रियान्वयन के संदर्भ में नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक अवरोध हैं, क्योंकि ये सिद्धान्त राष्ट्रीय उद्देश्यों के रूप में ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय अन्त करण के ठोस प्रतीक के रूप में हैं। चूंकि राज्य नीति-निर्देशक तत्वों को लागू करने के लिए न्यायालयों को कोई शक्ति प्राप्त नहीं है, यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन सिद्धान्तों के पीछे इनके क्रियान्वयन के लिए कौन-कौन सी शक्तियाँ हैं ? इसके लिए मुख्यतः दो शक्तियाँ हैं।

(१) मतदातागण तथा

(२) व्यवस्थापिका सभा।

संसदीय लोकतन्त्र में मतदाताओं की शक्ति सरकार पर एक ऐसे महत्वपूर्ण अवरोध के रूप में मानी जा सकती है जिससे सरकार को संविधान में उल्लिखित उद्देश्यों के विरुद्ध जाने से रोका जा सकता है। मतदाताओं तथा व्यवस्थापिका की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए डा० बी० आर० अम्बेदकर ने कहा—"प्रत्येक सरकार दैनिक मामलों में तथा एक निश्चित समय पश्चात् किसी कसौटी पर रखी जायगी जबकि मतदाताओं और निर्वाचकों को सरकार द्वारा दिये गये कार्यों का मूल्यांकन करने का अवसर प्राप्त होता है जबकि हमने राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना की है, हमारी यह भी इच्छा है कि आर्थिक लोकतन्त्र के आदर्श को निर्धारित करें।"[१] "संविधान निर्माण करने में हमारे दो उद्देश्य रहे हैं राजनीति उद्देश्य तथा आर्थिक तथा सामाजिक न्याय की उपलब्धि कराना।"[२]

सर्वप्रथम—प्रत्यक्ष रूप से परीक्षण संसद में संसद सदस्यों द्वारा किया जाता है। द्वितीय, चुनाव के समय सरकार की नीतियों तथा कार्यों का परीक्षण और मूल्यांकन स्वयं मतदाता करते हैं। सरकार की नीतियों तथा कार्यों का परीक्षण

---

१. बी आर. अम्बेदकर-कान्सटीट्युएन्ट असेम्बली डिबेट्स-भाग ७ पृ० ४१२-४९५।

२. वही पृ० ४१।

(द्वैध परीक्षण) संविधान मे निर्धारित कसौटियो के आधार पर ही किया जाता है और यह भी ज्ञात किया जा सकता है कि सरकार की क्या उपलब्धियाँ या क्या असफलताएँ रही हैं। यदि सरकार ने संविधान के अनुसार जनता की आवश्यकताओ को पूरा किया है तो निश्चय ही जनता द्वारा सत्ता की बागडोर पुन उसको सौंपने की प्रबल संभावना होगी। किन्तु यदि सरकार ने संविधान म उल्लिखित जनता की आकाक्षाओ की अवहेलना की है तो मतदाताओ को सरकार को बदलने का पूर्ण अधिकार है।

अब जैसा कि पूर्व म देखा जा चुका है, राज्य के नीति-निर्देशक तत्व देश के प्रशासन के लिए आधार हैं। कोई सरकार इन मूल सिद्धान्तो की, जिन पर आर्थिक लोकतन्त्र निर्भर है, अवहेलना नही कर सकती है? 'यदि जनता एव व्यवस्थापिका सभाओं म उनके प्रतिनिधि इन सिद्धान्तो के सन्दर्भ म कार्यपालिका के कार्यों के हित-प्रहरी के रूप मे कार्य करते हैं तो वे सामाजिक राजनीतिक, एव आर्थिक सुधारो का एक प्रभावशाली स्रोत सिद्ध होगे।"[1] राज्य नीति-निर्देशक के पीछे सबसे प्रभावशाली सत्ता लोकमत है। यह सत्य है कि कानूनी दृष्टिकोण से इन सिद्धान्तो का कम उपयोग है, किन्तु जिस सरकार ने सिद्धान्तो का उल्लघन किया है वह जनता के समक्ष दोषी ठहराई जा सकती है। ये जनता तथा सरकार के लिए एक स्थायी स्मरणकर्ता के सदृश हैं, जिससे स्मरण रह सके कि क्या किया जाना चाहिये।"[2] अत राज्य नीति निर्देशक तत्वो के पीछे कानूनी नही बल्कि लोक-मत के रूप मे, राजनीतिक शक्ति है। प्रत्येक पाँच वर्षों के आम चुनाव के समय मतदाता इस बात के लिए स्वतन्त्र होंगे कि एक ऐसी सरकार को जिसने इन सिद्धान्तो की अवहेलना की है, पुन सत्ता न सौंपे।

इस कारण संविधान लागू होने के पश्चात् केन्द्रीय एव विभिन्न राज्यो की सरकारो ने इन सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप देने के प्रयत्न किये हैं। यह प्रयत्न विभिन्न पच वर्षीय योजनाओ मे विशेष रूप से प्रतिबिम्बित है। संविधान के लागू होने के पश्चात् तीन पच वर्षीय योजनाओ म तथा वर्तमान चतुर्थ पच वर्षीय योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय विकास का जो नमूना है वह संविधान म निहित उद्देश्यो से सबधित है। राज्य नीति-निर्देशक तत्वो के अनुकूल जिस लक्ष्य को प्राप्त करना है, वह है 'समाजवादी ढाँचे पर आधारित समाज' और इसको दूसरी पच वर्षीय योजना मे इन शब्दों मे स्पष्ट किया गया है, "इससे तात्पर्य है कि प्रगति के लिए कसौटी निजी लाभ नही किन्तु सामाजिक लाभ होना चाहिये और विकास का नमूना तथा सामाजिक आर्थिक सबधो का ढाँचा इस प्रकार नियोजित किया जाये कि न केवल

---

१ टी० के० टोपे—'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० १६५।
२ एम० पी० शर्मा—द गवर्नमेन्ट आफ द इण्डियन रिपब्लिक, १९६१, पृ० ६०।

राष्ट्रीय आय और रोजगारी मे ठोस वृद्धि हो किन्तु लोगो की आय तथा धन मे अधिकतर समानता हो। आर्थिक विकास के लाभ अधिकतर समाज के पिछड़े हुए वर्गो को उपलब्ध हो और आय, धन तथा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण मे क्रमिक रूप से कमी होनी जाये।"[१]

द्वितीय पच वर्षीय योजना के उपर्युक्त उद्देश्य तथा राज्य नीति-निर्देशक तत्वों के उद्देश्य की समानता को देखते हुए, यह विदित होता है कि इन सिद्धान्तों को एक अव्यावहारिक आदर्श के रूप मे नही माना गया है, किन्तु इनको व्यावहारिक जीवन मे उपयोग मे लाने के सफल प्रयत्न किये गये हैं। कतिपय उदाहरणो द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि वास्तव मे इन सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए सरकार ने कदम उठाये हैं। ये उदाहरण निम्नलिखित हैं।

(i) पिछले वर्षों मे समाज के भौतिक साधनो को काफी मात्रा मे राज्य के नियन्त्रण मे लाया गया है। जीवन बीमा तथा बैंक-राष्ट्रीयकरण इसके कतिपय उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त, बहुउद्देश्यीय नदी योजनाएँ, जैसे—भाखरा-नगल, दामोदर घाटी योजना, हीराकुण्ड बाध, भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर इस्पात कारखाने, विशाखापट्टनम का जहाज-निर्माण कारखाना, सिन्द्री खाद कारखाना, हिन्दुस्थान मशीन टूल्स, चितरंजन का रेलवे इंजिन का कारखाना, हिन्दुस्थान ऐयरक्राफ्ट, आदि द्वारा राष्ट्र के आर्थिक विकास मे सहायता मिलती है। राज्य ही इनके सचालन तथा प्रबन्ध के लिये उत्तरदायी है।

(ii) यद्यपि रोजगार की समस्या का समाधान नही हुआ है किन्तु राज्य द्वारा रोजगार के लिए विभिन्न क्षेत्रो मे कदम उठाये गये हैं।

(iii) राष्ट्र के कई हिस्सो मे, सामुदायिक विकास योजनाओ को ग्रामो की अर्थ व्यवस्था मे सुधार के लिए लागू किया गया है, इसका प्रभाव कृषि तथा पशुपालन के क्षेत्रो मे विशेष रूप से देखा जा सकता है।

(iv) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की दिशा मे भी प्रगति हुई है।

(v) आर्थिक क्षेत्र मे पिछड़े हुए वर्गो की सहायता के लिए कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया है।

(vi) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भारत ने पचशील के सिद्धान्त के प्रतिपादन मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

राज्य नीति-निर्देशक तत्वो के पीछे दूसरी शक्ति व्यवस्थापिका सभा है। व्यवस्थापिका सभा का कार्य, देश मे लोक कल्याणकारी राज्य को व्यावहारिक रूप देने के लिए राज्य नीति-निर्देशक तत्वो के आधार पर कानून निर्माण करना

१. द्वितीय पच वर्षीय योजना पृ०-२२।

है। इसके अतिरिक्त, चूंकि भारत में संसदात्मक पद्धति को अपनाया गया है, इन कानूनों के क्रियान्वयन के लिए कार्यपालिका को उत्तरदायी ठहराने का प्रयत्न अधिकार भी व्यवस्थापिका को प्राप्त है। संसदात्मक पद्धति में कार्यपालिका (मंत्रीमंडल) व्यवस्थापिका का एक हिस्सा होती है तथा उसके प्रति उत्तरदायी होती है। साधारणतया कार्यपालिका का निर्माण संसद के निचले सदन में बहुमत प्राप्त किये राजनीतिक दल में से किया जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप संसद के निचले सदन पर उक्त राजनीतिक दल का आधिपत्य तथा नियंत्रण रहता है। चूंकि संविधान के अनुच्छेद ३७ के अनुसार राज्य नीति-निर्देशक तत्वों को देश के प्रशासन में आधार स्वरूप माना गया है, जिस दल को सत्ता की बागडोर प्राप्त है, उसका यह विशेष उत्तरदायित्व है कि इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करें। अब, यहां पर प्रश्न यह पैदा होता है कि संसद में बहुमत दल को, इन सिद्धान्तों के प्रति अपनी जिम्मेदारी महसूस कराने के लिए कौन सी शक्ति है? यह स्पष्ट है कि यह अधिकार प्रतिपक्षीय दल या दलों का है।

"यह प्रतिपक्ष के हाथों में एक शक्तिशाली हथियार होगा कि वह सरकार की निन्दा इस आधार पर करे कि उसका कार्यपालिका या व्यवस्थापन संबंधी कोई कार्य राज्य नीति-निर्देशक तत्व के विरुद्ध है।'[1]

व्यवहारतः संसद में प्रतिपक्षीय दलों ने राज्य नीति-निर्देशक तत्वों के आधार पर सरकार की समय-समय पर कड़ी आलोचना की है। उदाहरण स्वरूप इन सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के लिए सरकार के उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से १९५८ में लोकसभा में श्री तुषार चटर्जी (साम्यवादी दल के सदस्य) द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव में पन्द्रह सदस्यों की एक समिति नियुक्त करने का सुझाव दिया गया, जो यह जांच करती कि किस हद तक, राज्य नीति निर्देशक तत्वों का सरकार ने क्रियान्वयन किया। परन्तु ३१ अगस्त १९५८ को लोकसभा ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। इस प्रस्ताव को सदन में रखते हुए श्री तुषार चटर्जी ने कहा कि सामान्य नागरिक के लिए समस्याओं का, जैसे-खाद्य, शिक्षा और स्वास्थ्य, समाधान नहीं हुआ है और साधारण जनता का जीवन और भारपूर्ण व कठिन हो गया है और वे ऐसा महसूस करने लगे हैं कि संविधान में नीति-निर्देशक तत्व एक गंभीर घोषणा नहीं बल्कि केवल सजावट मात्र ही हैं।[2] इस आलोचना का उत्तर देते हुए गृह मंत्रालय के श्री बी० एन० दातार ने कहा कि नीति निर्देशक तत्व एक "उद्देश्यों की संहिता" के सदृश हैं और इनकी तत्काल प्राप्ति होना संभव

---

१ डी० डी० बसु—कमेन्ट्री आन द कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया भाग—२ १९६५ पृ० ३१२।

२. ट्रिब्यून, सितम्बर १, १९५८।

नहीं है, किन्तु सरकार ने सदैव अपनी नीतियों में इन सिद्धान्तों को समावेशित करने का प्रयत्न किया है और इन सिद्धान्तों के प्रभावों को योजना आयोग व कार्यों तथा निर्णयों में स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

निस्सन्देह न तो सरकार इन सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कार्य करेगी न ही इन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ रहकर प्रशासन का सचालन कर सकती है। ससद में प्रत्येक सामने पर जो राज्य नीति-निर्देशक तत्वों से सबधित है, सरकार को अपने कार्यों तथा नीतियों का औचित्य बतलाना होगा, अन्यथा सरकार के विरुद्ध ससद में अविश्वास प्रस्ताव पारित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, सरकार को मतदाताओं का आम चुनाव के समय समर्थन उस स्थिति में ही मिल सकेगा, यदि सरकार ने अपने कार्यकाल में जनता के हितों को ध्यान में रख कर कार्य किये।

सक्षेप में, मतदाता तथा व्यवस्थापिका सभा राज्य नीति-निर्देशक तत्वों के पीछे आवश्यक शक्ति हैं। अत, इनके पीछे कानूनी नहीं किन्तु राजनीतिक शक्ति है। भारत के संविधान के अन्तर्गत नागरिकों के मूल अधिकारों तथा राज्य नीति-निर्देशक तत्वों में भिन्नता केवल यह है कि मूल अधिकारों का उल्लंघन होने पर न्यायालय की शरण ली जा सकती है, परन्तु राज्य नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लंघन होने या पालन न किये जाने की स्थिति में न्यायालय की शरण नहीं ली जा सकती है। तथापि नीति-निर्देशक तत्वों को संविधान में रखे जाने के कारण न्यायपालिका इनके अस्तित्व से अनभिज्ञ रहकर अपने निर्णय नहीं दे सकती है। भारतीय संविधान में, मूल अधिकारों के विशेषकर स्वतन्त्रता के मूल अधिकार तथा सम्पत्ति के अधिकारों पर सीमाएँ लगाई गई हैं।

स्वतन्त्रता के मूल अधिकार के सबध में संविधान में 'युक्तियुक्त' सीमाओं शब्दों का उपयोग किया गया है, सम्पत्ति के अधिकार के सबध में यह प्रावधान किया गया है कि सम्पत्ति का अधिग्रहण राज्य केवल 'सार्वजनिक उद्देश्य' से ही कर सकता है। इस बात को निर्धारित करने के लिए कि 'युक्तियुक्त सीमाओं' तथा 'सार्वजनिक उद्देश्य' से क्या तात्पर्य है न्यायपालिका का निर्णय अन्तिम होगा। इस सन्दर्भ में न्यायपालिका को राज्य नीति निर्देशक तत्वों का सहारा लेना पड़ेगा। वास्तव में, पिछले वर्षों में जब कानूनों द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर सीमाएँ लगाई गई, न्यायपालिका ने यह जाँचने के लिए कि ये सीमाएँ युक्तियुक्त थी या नहीं, राज्यनीति-निर्देशक तत्वों का मार्ग दर्शन लिया। न्यायपालिका की यह धारणा रही है, कि जिन सिद्धान्तों को संविधान द्वारा मान्यता प्रदत्त है वे युक्तिरहित नहीं हो सकते हैं। निस्सदेह मूल अधिकारों तथा राज्य नीति-निर्देशक तत्वों के मार्गदर्शन में, आधुनिक भारत में संविधान को लागू होने के समय से ही न्यायपालिका को एक अत्यन्त गभीर तथा महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त हुई है, जिससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं लोक कल्याणकारी राज्य के मध्य पैदा हुए विरोधों को दूर कर इन दोनों में

समन्वय स्थापित किया जा सके। दूसरे शब्दो मे व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के अतिरिक्त, सविधान द्वारा भारत मे राजनीतिक लोकतन्त्र तथा आर्थिक लोकतन्त्र को, व्यवहार मे एक दूसरे के पूरक बनाने की महत्वपूर्ण भूमिका न्यायपालिका को भी सौंपी गई है। मुख्यत न्यायपालिका ने इस कार्य को नागरिको के मूल अधिकारो तथा नीति-निर्देशक तत्वो के सदर्भ म किया है। नागरिको के मूल अधिकारो द्वारा एक ऐसे क्षेत्र का निर्धारण किया गया है, जिसम राज्य हस्तक्षेप कर नागरिको के अधिकारो का उल्लघन नही कर सकता है। अत यदि अत्यधिक उत्साह म सरकार ने लोक कल्याणकारी राज्य के आदर्श की प्राप्ति के लिए ऐसा कानून पारित किया जिससे किसी मूल अधिकार या अधिकारो का अतिक्रमण हुआ तो न्यायपालिका ने ऐसे कानून को अवैध घोषित किया। इसी प्रकार न्यायपालिका ने सविधान द्वारा लोक कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य को ध्यान म रखते हुए जब किसी कानून की जाँच मूल अधिकारो के सन्दर्भ मे इस आधार पर की कि क्या कानून द्वारा अनुच्छेद ३१ (२) के अनुसार सम्पत्ति का अधिग्रहण राज्य द्वारा सार्वजनिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किया गया था या नही, तो न्यायपालिका ने सविधान मे उल्लिखित नीति-निर्देशक तत्वो का मार्गदर्शन लिया। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी कानून को न्यायालय के समक्ष इस तर्क पर चुनौती दी गई है कि इसमे अनुच्छेद १९ द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार के विरुद्ध युक्तिरहित सीमाएँ लगाई गई हैं, तो न्यायपालिका उक्त तर्क को स्वीकार नही करेगी, यदि ये सीमाएँ राज्य नीति-निर्देशक तत्वो के आधार पर हैं क्योकि यह मानना स्वाभाविक है, कि जिन सिद्धान्तो को सविधान मे रखा गया है वे युक्ति रहित नही हो सकते हैं। इस दृष्टिकोण से कई कानूनो को, जिनको न्यायालय के समक्ष चुनौती दी गई थी न्यायपालिका ने सवैधानिक ठहराया है। उदाहरण स्वरूप, अनुच्छेद ४७ मे निहित नशाबन्दी निर्देशक तत्व के आधार पर ऐसे कानून को न्यायपालिका द्वारा वैध घोषित किया गया जिसके द्वारा मादक द्रव्यो के रखने तथा क्रय करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। अनुच्छेद ४८ मे निहित निर्देशक सिद्धान्त के अनुसार गो-वध निषेध के सिद्धान्त पर आधारित कानून का न्यायपालिका ने वैध माना।[1]

इसी प्रकार सम्पत्ति के मूल अधिकार के सन्दर्भ मे अनुच्छेद ३१ (२) के अनुसार यदि राज्य निजी सम्पत्ति का सार्वजनिक उद्देश्य के लिए कानून द्वारा अधिग्रहण, अनुच्छेद ३९ (ब) एव (स) मे निहित राज्य नीति-निर्देशक तत्वो (३९ (ब) समाज के भौतिक साधनो का स्वामित्व तथा वितरण इस प्रकार का

---

१ मोहम्मद हनीफ और अन्य बनाम बिहार राज्य और अन्य—ए० आई० आर० १९५८ एस० सी० ७३१।

हो कि जिससे सामान्य रूप से जनहित हो; ३९ (स) देश की आर्थिक व्यवस्था का सचालन इस प्रकार न हो जिससे धन का केन्द्रीयकरण होते हुए सामान्य हित को हानि पहुँचे) की प्राप्ति के लिए करता है तो ऐसे कानून को अवैध नही मानना चाहिये। इस सिद्धान्त को सविधान सशोधन पच्चीसवें अधिनियम मे अपनाया गया जो दिसम्बर १९७१ मे पारित किया गया। इस सशोधन के अनुसार यदि किसी कानून मे यह उल्लिखित कर दिया जाता है कि उक्त कानून का उद्देश्य किस राज्य नीति-निर्देशक तत्व को लागू करना है तो इसके बावजूद कि वह कानून किसी मूल अधिकार के विरुद्ध है उक्त कानून को अवैध घोषित नहीं किया जा सकेगा। पच्चीसवां सशोधन, राज्य नीति-निर्देशक तत्वो के, विशेषकर अनुच्छेद ३९ मे निहित निर्देशक तत्वो के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सशोधन के अनुसार साधारण कानून द्वारा व्यवस्थापिका सभा ऐसे नीति-निर्देशक तत्व को जिसका उल्लेख उक्त कानून मे है, मूल अधिकारो से उच्च स्थान प्रदान कर सकती है जो २५वें सशोधन लागू होने की नीति निर्देशक-तत्वो की पूर्वक स्थिति से बिल्कुल भिन्न है। पच्चीसवें सशोधन लागू होने के पूर्व कानूनी दृष्टि से नीति निर्देशक तत्व मूल अधिकारो के अधीन थे।

न्यायपालिका की इस विशेष भूमिका का महत्व दिसम्बर १९७१ तक रहा जबकि सविधान मे पच्चीसवां सशोधन लागू किया गया। सक्षेप मे तब तक राज्य नीति-निर्देशक तत्वो के सबध मे न्यायपालिका के दो प्रकार के अधिकार थे, सर्वप्रथम, यदि राज्य नीति निर्देशक तत्व पर आधारित किसी कानून तथा नागरिको के किसी मूल अधिकार मे सघर्ष होता, तो ऐसे कानून को अवैध ठहराना, क्योकि मूल अधिकार न्याय्य है, राज्य नीति-निर्देशक तत्व न्याय्य नही है, और द्वितीय, कई मूल अधिकार 'युक्तियुक्त सीमाओ' द्वारा सीमित हैं तथा सम्पत्ति के मूल अधिकार के अन्तर्गत सम्पति का अधिग्रहण, 'सार्वजनिक उद्देश्य' के लिए ही किया जा सकता है। मूल-अधिकारो से सबधित 'युक्तियुक्त सीमाओ,' तथा 'सार्वजनिक उद्देश्य' की व्याख्या करने का अधिकार न्यायपालिका को है और इस कार्य मे कि 'युक्तियुक्त सीमाओ' तथा 'सार्वजनिक उद्देश्य' से क्या तात्पर्य है, न्यायपालिका का नीति-निर्देशक तत्वो द्वारा पथ प्रदर्शन किया गया, जैसा कि कतिपय महत्वपूर्ण प्रकरणो से ज्ञात होता है। बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह नामक प्रकरण मे सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री दास ने कहा कि 'सार्वजनिक उद्देश्य' से तात्पर्य उस लोक-कल्याण से है, जिसका उल्लेख राज्य नीति-निर्देशक तत्वो मे है। इसी प्रकार हनीफ कुरेशी बनाम बिहार राज्य के प्रकरण मे यह निर्णय दिया गया कि अनुच्छेद ४८ मे उल्लेखित गोवध सबधी राज्य नीति-निर्देशक तत्व के प्रकाश मे गाय तथा बैल, जो दुधारू तथा उपयोगी हैं के वध का पूर्ण निषेध युक्तियुक्त है। सक्षेप मे कानून द्वारा सरकार ने नागरिको के अधिकार पर जो सीमाएँ

लगाई, तो यह विदित करने के लिए कि ये सीमाएँ युक्तियुक्त थी या नहीं, न्यायपालिका ने राज्य नीति-निर्देशक तत्वों का सहारा लिया।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि भारत के संविधान में राज्य नीति-निर्देशक तत्वों का आर्थिक लोकतन्त्र के साधनों के रूप में अत्याधिक महत्व है। संविधान के पच्चीसवें संशोधन (१९७१) से इनका महत्व और अधिक हो गया है क्योंकि इसके परिणाम स्वरूप सरकार का उत्तरदायित्व आर्थिक लोकतन्त्र की प्राप्ति के लिए स्पष्ट रूप से सामने उभर आता है। राज्य नीति-निर्देशक तत्वों द्वारा संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों का विस्तार पूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है। "ये एक कसौटी के सदृश हैं जो मतदाताओं द्वारा सत्तारूढ दल सरकार पर लागू की जा सकती है। इनके द्वारा यह कसौटी प्रदत्त की जाती है जिससे एक राजनीतिक दल की सफलता या असफलता ज्ञात की जा सकेगी।[1]

---

१. एस० पी० अय्यर—'कान्स्टीट्यूशनलिज्म इन इण्डिया' इन स्ट्डीज इन इण्डियन डेमोक्रेसी १९६५, पृ० ७९८।

५

भारत में संसदात्मक प्रणाली

आधुनिक युग में सरकारों के वर्गीकरण का मुख्य आधार सरकार के दो अंग, व्यवस्थापिका सभा एवं कार्यपालिका-सभा, के संबंधों के स्वरूप पर आधारित है। इस दृष्टिकोण से जनतांत्रिक सरकारों को दो वर्गों में रखा जा सकता है।

सर्वप्रथम, संसदात्मक सरकार, जिसमें कार्यपालिका (मंत्रीमण्डल) का उत्तरदायित्व संसद के निम्न-सदन के प्रति होता है।

द्वितीय, अध्यक्षात्मक सरकार जिसमें कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका-सभा सरकार के दो अलग-अलग और स्वतंत्र अंग हैं। अतएव इस पद्धति में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में कोई घनिष्ठ संबंध नहीं होता है, जबकि संसदात्मक पद्धति में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका का एक दूसरे से इतना घनिष्ठ संबंध होता है कि कार्यपालिका केवल व्यवस्थापिका के विश्वासपर्यन्त ही पदासीन रह सकती है। साथ ही, कार्यपालिका (मंत्रीमण्डल) का कार्यकाल व्यवस्थापिका में बहुमत पर निर्भर रहता है।

संसदात्मक सरकार को 'उत्तरदायी सरकार' की संज्ञा भी दी जाती है। संसदात्मक सरकार के मूल सिद्धान्त को हम वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रीमण्डल) एवं व्यवस्थापिका के संबंधों में निहित देखते हैं क्योंकि वास्तविक कार्यपालिका का कार्यकाल व्यवस्थापिका में बहुमत पर ही आधारित रहता है। अतः संसदात्मक सरकार के अन्तर्गत यदि व्यवस्थापिका, वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रीमण्डल) के कार्यों एवं नीतियों के प्रति बहुमत से अपना अविश्वास व्यक्त करती है तो कार्यपालिका (मंत्रीमण्डल) को अपना त्यागपत्र देना आवश्यक होगा।

प्रो० गेटेल ने संसदात्मक सरकार की परिभाषा इस प्रकार की है—"मंत्रीमण्डलात्मक सरकार, वह सरकार है जिसमें वास्तविक कार्यपालिका, जिसमें एक प्रधान मंत्री एवं मंत्रीमण्डल का समावेश होता है अपने कार्यों के लिए विधिवत रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है।"[१]

---

१. आर० जी० गेटेल—'पोलिटिकल साइन्स' १९५४, पृ० २१।

डा० गार्नर ने ससदात्मक सरकार की परिभाषा देते हुए कहा है—"मन्त्री-मण्डलात्मक सरकार वह प्रणाली है जिसमे वास्तविक कार्यपालिका (केबिनेट या मन्त्रीमण्डल) प्रत्यक्ष एव विधिवतरूप से व्यवस्थापिका या उसके एक सदन के प्रति (साधारणतया प्रतिनिधि सदन) और अप्रत्यक्ष या अन्तिम रूप से निर्वाचकों के प्रति अपने राजनीतिक नीतियो एव कार्यों के लिए जिम्मेदार है, जबकि ध्वजमात्र या नाममात्र की कार्यपालिका (राज्याध्यक्ष) की स्थिति उत्तरदायित्वहीन होती है।"[1]

ससदात्मक सरकार की आवश्यक शर्ते

उपर्युक्त परिभाषाओ से यह विदित होता है कि ससदात्मक सरकार मे अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व होना—इस सरकार का मूल सिद्धान्त है। व्यावहारिक रूप से इस सिद्धान्त के दो पक्ष है।

प्रथम—वास्तविक कार्यपालिका विधिवत् एव प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

द्वितीय—अप्रत्यक्ष एव अन्तिमरूप से कार्यपालिका का उत्तरदायित्व मतदाताओ के प्रति है।

इन दोनो पहलुओ की व्यावहारिक सफलता के लिए न केवल व्यवस्थापिका एव मतदाताओ को अपने राजनीतिक कर्तव्यो एव दायित्वो के प्रति सतत सजग और सक्षम होना आवश्यक है, परन्तु यह भी आवश्यक है कि व्यवस्थापिका सभा और निर्वाचको मे (मतदाताओ मे) वह क्षमता हो, जिसके द्वारा वे कार्यपालिका (सरकार) को उत्तरदायित्व की भावना से प्रेरित कर सके। वास्तव मे ससदात्मक प्रणाली मे व्यवस्थापिका एव मतदातागणो का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि इन दोनो मे ऐसी शक्तियाँ निहित हैं, जो आवश्यक जनतान्त्रिक अवरोधो के रूप मे कार्यपालिका की शक्तियो को वैधानिक दायरे मे सीमित रखते हुए, उसकी निरकुश प्रवृत्तियो पर रोक लगाती है तथा मतदातागण, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य मे, ससदीय प्रणाली की आवश्यकतानुसार सतुलन की स्थिति स्थापित करती है। इसमे सदेह नही कि कार्यपालिका पर यदि कुछ निश्चित और आवश्यक अवरोध न हों तो कार्यपालिका निरकुशता की ओर अग्रसर होगी। ससदात्मक प्रणाली मे व्यवस्थापिका और मतदातागण को अपने राजनीतिक कार्यों के प्रति सजग होना अत्यावश्यक है।

---

1. जे० डब्लू गार्नर—पॉलिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेंट १९३२ पृ०—३२३।

भारत मे ससदात्मक सरकार

भारतीय सविधान के अन्तर्गत केन्द्र और विभिन्न राज्यों में ससदात्मक प्रणाली की स्थापना की गई है। "शासन का स्वरूप केन्द्र और राज्यो मे ब्रिटिश प्रणाली के सदृश ससदात्मक उत्तरदायी सरकार है। सघीय और राज्यो की कार्यपालिका ब्रिटिश पद्धति के अनुसार सामूहिक रूप से उत्तरदायी रखी गई है। यह भारतीय परिस्थितियो मे स्वाभाविक था, क्योकि भारत जिस जनतात्रिक शासन से परिचित था वह—ब्रिटिश ससदात्मक प्रणाली का ही था। इस प्रणाली के अन्तर्गत जनता कार्यपालिका के कार्यों को प्रभावपूर्वक निरन्तर नियन्त्रित कर सकती है। इसके अन्तर्गत सरकार के उत्तरदायित्व की दैनिक और सामयिक समीक्षा होती है।"[१]

ब्रिटिश ससदीय प्रणाली के विपरीत जिसका विकास ऐतिहासिक आधार पर शनै -शनै, मुख्यत अभिसमयो के आधार पर हुआ, भारत मे ससदात्मक सरकार की उत्पत्ति लिखित सविधान के विशिष्ट प्रावधानो पर आधारित है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि जबकि इगलैण्ड मे ससदात्मक सरकार मुख्यत. सवैधानिक अभिसमयो पर आधारित है, भारतवर्ष मे ससदात्मक सरकार सवैधानिक कानूनो पर आधारित है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि भारत मे ससदात्मक प्रणाली के विकास मे अभिसमयो के लिए कोई स्थान नही है। तथ्य तो यह है कि भारतीय राजनीतिक प्रणाली मे ससदीय सरकार के विकास के लिए विभिन्न विषयो के सबध मे, अभिसमयो को मान्यता देने की अत्यधिक आवश्यकता है। उदाहरण स्वरूप, सविधान मे यह नही लिखा है कि राष्ट्रपति मत्रीमण्डल की सलाह मानने के लिए बाध्य है। यहाँ, निश्चित रूप से, एक अभिसमय की आवश्यकता महसूस होती है। 'हमारे सविधान ने ब्रिटिश सविधान का अनुकरण किया है और हमारी ससदीय पद्धति और परम्पराएँ ब्रिटिश ससदीय पद्धति एव परम्पराओ पर आधारित हैं।"[२]

यह निर्धारित करने के लिए कि भारतीय सविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार का क्या स्वरूप है हमे सविधान के कुछ विशिष्ट प्रावधानो का अध्ययन करना होगा।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद ५२ के अनुसार केन्द्र मे एक राष्ट्रपति के पद की स्थापना की गई है। अनुच्छेद ५३ (१) के अनुसार सघ की कार्यपालिका सबधित समस्त शक्तियाँ राष्ट्रपति मे निहित की गई हैं और इन शक्तियो को

---

१. एन० श्रीनिवासन—'डेमोक्रेटिक गवर्नमेण्ट इन इण्डिया', १९५४, पृ० १४४।

२ एच० एम० पटेल—'कैबिनेट गवर्नमेण्ट इन इण्डिया' (स्टडीज इन इण्डियन डेमोक्रैसी मे,) सम्पादित ए० अय्यर व० र० निवासन द्वारा १९६५, पृ० १९७।

राष्ट्रपति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, सविधान के अनुसार अपने अधीन कर्मचारियो की सहायता से उपयोग मे लायेगा। अनुच्छेद ७४ (१) के अनुसार प्रधान मत्री की अध्यक्षता मे एक मत्रीमण्डल होगा जो राष्ट्रपति को उसके कार्यो के लिए सहायता एव सलाह देगा। अनुच्छेद ७५ (३) के द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि मत्रीमण्डल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगा। अनुच्छेद ७६ के अनुसार सघ के लिए एक ससद होगी जिसमे राष्ट्रपति व दो सदन होगे—राज्यसभा और लोकसभा। अनुच्छेद ७५ (५) के अनुसार यदि कोई मत्री लगातार ६ माह तक ससद के किसी एक सदन का सदस्य नही बनता है तो इस समय के पश्चात् वह मत्री पद पर नही रह सकता है।

भारतीय सविधान के उपर्युक्त प्रावधानो का ससदात्मक सरकार की परिभाषा और आवश्यकताओ के सदर्भ मे अध्ययन करते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारतीय सविधान द्वारा ससदात्मक सरकार की स्थापना की गई है। ससदात्मक सरकार की परिभाषा से ज्ञात होता है कि इस सरकार मे दो प्रकार की कार्यपालिकाओ का होना आवश्यक है। सर्वप्रथम—नाममात्र या ध्वजमात्र की कार्यपालिका, जिसका मूर्तरूप राज्याध्यक्ष होता है। भारतीय स विधान के ५३ (१) के अनुसार कार्यपालिका से सबधित शक्तियाँ राष्ट्रपति मे निहित होती हैं और इन शक्तियो का उपयोग राष्ट्रपति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से करेगा। परन्तु इस अनुच्छेद के आधार पर यह कहना गलत होगा कि राष्ट्रपति स्वविवेक के अनुसार साधारण स्थिति मे कार्यपालिका—सबधित शक्तियो को प्रयोग मे ला सकता है। अनुच्छेद ५३ (१) के अवैधानिक अर्थ को सही सदर्भ मे समझने के लिए, इसका अध्ययन अनुच्छेद ७४ (१) और अनुच्छेद ७५ (३) के साथ करना उचित ही नही अपितु अत्यावश्यक है। यह कहना भी कोई अतिशयोक्ति नही है कि वस्तुत उपर्युक्त मे तीन अनुच्छेद भारतीय ससदीय प्रणाली के जीवन-आधार हैं। अनुच्छेद ७४ (१) के आधार पर सघीय मत्री मण्डल का निर्माण होता है जो प्रधान मत्री की अध्यक्षता मे राष्ट्रपति को सहायता एव सलाह प्रदान करेगा। परन्तु भारतीय ससदीय ढाँचे का रीढरूपी सहारा अनुच्छेद ७५ (३) मे पाया जाता है, जिसके अनुसार मत्रीमण्डल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। इस सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुसार यदि लोकसभा द्वारा बहुमत से, मत्रीमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित किया गया है तो मत्रीमण्डल को त्यागपत्र देना आवश्यक है। देश की सरकार और प्रशासन को दक्षतापूर्वक चलाने का सारा उत्तरदायित्व मत्रीमण्डल का प्रत्यक्षरूप से ससद के प्रति और अप्रत्यक्षरूप से मतदातागण के प्रति है। सविधान द्वारा सरकार की नीतियो और कार्यो का उत्तरदायित्व मत्रीमण्डल के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति या सस्था को नही सौंपा गया है। अत. सरकारी एव प्रशासकीय त्रुटियो के लिए

दोष केवल मंत्रीमण्डल का ही होगा। अतः यह तर्कसंगत बात है कि चूँकि सरकार की नीतियों एवं कार्यों के सम्बन्ध में सारी जवाबदारी मंत्रीमण्डल की ही है, राष्ट्रपति साधारण परिस्थितियों में केवल नाममात्र का राज्याध्यक्ष ही रहेगा।

द्वितीय, संसदात्मक सरकार के अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका मंत्रीमण्डल के रूप में होता है। वास्तविक कार्यपालिका की संज्ञा मंत्रीमण्डल को दी जाती है क्योंकि व्यावहारिकता में सरकार की नीतियों एवं कार्यों के लिए, इसका उत्तरदायित्व वास्तविक है। यह सत्य है कि अनुच्छेद ७५ (१) के अन्तर्गत प्रधान मंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती है, और अन्य मंत्रीगण राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के परामर्शानुसार नियुक्त होते हैं। परन्तु यह केवल एक औपचारिकता है क्योंकि साधारणतया राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त करता है, जो लोकसभा में बहुमत दल का नेता है। इसके अतिरिक्त, मंत्री पद के लिए प्रधानमंत्री द्वारा मनोनीत व्यक्ति को राष्ट्रपति अस्वीकृत नहीं कर सकता है। सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त जो भारतीय संसदीय प्रणाली की धुरी है, दो मूल आधारों पर, व्यावहारिकता की दृष्टि से निर्भर है।

(क) केवल उन्हीं व्यक्तियों की नियुक्ति मंत्री पद पर हो, जिन्हें प्रधानमंत्री मनोनीत करता है।

(ख) उन व्यक्तियों को मंत्रीपद से पदच्युत किया जाये, जिन्हें प्रधानमंत्री मंत्रीमण्डल में नहीं रखना चाहता है।

उपर्युक्त आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रपति, संविधान के अनुसार साधारणतया प्रधानमंत्री के परामर्शानुसार, एक संवैधानिक राज्याध्यक्ष के रूप में ही कार्य करेगा। अतः ब्रिटिश राजा की तरह राष्ट्रपति केवल एक नाममात्र का ही शासक है और भारतीय मंत्रीमण्डल, ब्रिटिश केबीनेट के सदृश संसद के निचले सदन के प्रति उत्तरदायित्व रखते हुए, वास्तविक कार्यपालिका है। मंत्रीमण्डल के वास्तविक कार्यपालिका के स्वरूप को संसदात्मक सरकार के अन्तर्गत स्पष्ट करते हुए प्रो० गेटल का कथन है— "चूँकि अधिकतम आधुनिक राज्यों में व्यवस्थापिका सभा द्विसदनात्मक होती है, मंत्रीमण्डल विशेषकर उस सदन के नियन्त्रण में कार्य करता है, जिसका वित्त सम्बन्धी मामलों पर अधिक अधिकार है—प्रायः वह सदन, जो प्रत्यक्ष रूप से मतदातागण का प्रतिनिधित्व करता है। यदि मंत्रीमण्डल को व्यवस्थापिका द्वारा अपनी नीतियों का समर्थन प्राप्त नहीं होता है तो उसे त्यागपत्र देना चाहिये या व्यवस्थापिका को भंग कर अपने अस्तित्व को नये चुनाव के नतीजे पर छोड़ देना चाहिये। मंत्रीमण्डल का कार्यकाल, व्यवस्थापिका, बहुमत दल के नेताओं या उसे संयुक्त संगठन पर निर्भर है, जिसके द्वारा बहुमत दल का निर्माण होता है।—व्यक्तिगत रूप से मंत्रीमण्डल के सदस्य प्रशासन के विभिन्न

विभागो के अध्यक्ष रहकर कार्य करते हैं। एक सस्था के रूप मे वे राज्य की विधि-निर्माण एव वित्त सबधी नीति का निर्देशन करते हैं।"[१]

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने 'रायसाहब राम जव्वाया कपूर एव अन्य बनाम पजाब राज्य' के प्रकरण मे १२ अप्रैल १९५५ मे निर्णय देते हुए निम्नलिखित शब्दो मे भारतीय सरकार के ससदात्मक स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

"भारतीय सविधान के अन्तर्गत कार्यपालिका को जिन सीमाओ के दायरे मे कार्य करना है, उनका निर्धारण उस सरकार के स्वरूप के सदर्भ मे किया जा सकता है जिसकी स्थापना सविधान द्वारा की गई है। हमारा सविधान सगठनात्मक दृष्टि से सघीय होने के बावजूद ब्रिटिश ससदात्मक प्रणाली के आधार पर निर्मित है जिसमे यह माना गया है कि कार्यपालिका का प्राथमिक उत्तरदायित्व नीति-निर्माण करना तथा उसको कानूनी व्यावहारिकता देना है परन्तु इस शर्त पर कि वह राज्य की व्यवस्थापिका की विश्वास-पात्र बनी रहे। कार्य-पालिका का कार्य नीति निर्धा-रण एव उसको कार्यान्वित करना है।"[२]

यह सिद्ध करने के पश्चात् कि भारतीय ससदीय प्रणाली की स्थापना सविधान द्वारा की गई है, जिसके अन्तर्गत राष्ट्रपति साधारणतया नाममात्र का शासक है और वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रीमण्डल है यह आवश्यक है कि हम इस ससदीय जनतत्र मे मतदातागण की भूमिका पर प्रकाश डालें, क्योकि किसी भी जनतत्र का मूल आधार उसके मतदातागण हैं। विशेषकर ससदीय प्रणाली मे मतदातागण का महत्व अत्याधिक है क्योकि ससदीय प्रणाली का मूल सिद्धान्त कार्यपालिका के सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त—एक निरन्तर जीवित—सिद्धान्त है और इस सामूहिक उत्तरदायित्व की सिद्धान्तरूपी श्रृखला मे तीन मुख्य कडियाँ जुडी हुई हैं, मन्त्री-मण्डल (वास्तविक कार्यपालिका) शिखर पर, व्यवस्थापिका मध्य मे और सबसे नीचे किन्तु सबसे महत्वपूर्ण भूमिका, मतदातागण की है। यदि इन तीनो मे से कोई भी एक सस्था जनतत्र के प्रति उदासीन हो जाती है तो जनतत्र अवश्य ही खतरे मे पड जायेगा। यह सत्य है कि किसी भी जनता को ऐसी ही सरकार प्राप्त होती है, जिसके योग्य जनता है। यदि मतदातागण अपने कर्तव्यो के प्रति सजग हैं तो सरकार अपने उत्तरदायित्व के प्रति अधिक सचेत रहेगी, पर यदि मतदाता अपने कर्तव्यो के प्रति उदासीन हैं, तो ऐसी दशा मे सरकार पर से वह अकुश निकल जाता है, जिससे वह अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग रखी जा सकती है। यह

---

१ आर० जी० गेटेल—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २१८

२ मुकर्जी मुख्य न्यायाधीश—सुप्रीम कोर्ट रिपोर्टस १९५५, भाग—१ जुलाई अगस्त १९५५ पृ०—२३०-२३७।

एव मतदातागण को कार्यपालिका के नियन्त्रण के लिए दैनिक तथा सामयिक शक्तियाँ प्रदत्त हैं।

भारत मे मतदाताओ का विशेष महत्व है। वास्तव म यह कहा जा सकता है कि भारत मे ससदीय प्रजातत्र की सफलता मतदाताओ की निष्ठा, क्षमता और सजगता पर ही निर्भर है। यह भूमिका, विशेषकर आम चुनावो के समय म महत्वपूर्ण है, जब देश के कानून-निर्माताओ और शासको के निर्वाचन का प्रश्न जनता के समक्ष आता है। मतदातागण अपने राजनीतिक कार्यो को किस हद तक सफलतापूर्वक करते हैं, यह इस बात पर निर्भर करती है कि वे किस हद तक निष्ठावान्, सजग तथा सक्रिय हैं। मतदातागण यदि अकर्मण्यता, निरक्षरता, उदासीनता और आर्थिक विपन्नता (विषमता) के शिकार हैं तो जनतत्र को विफल कर देते हैं। इन दोषो और त्रुटियो के कारण वे अपने प्रतिनिधियों और शासको का चुनाव सही रूप से नही कर सकेंगे। भारत मे सविधान द्वारा ससदात्मक प्रणाली की स्थापना की गई है, इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ पर मतदाताओं का शिक्षित, सजग और ईमानदार होना नितान्त आवश्यक है। भारतीय सविधान के अनुच्छेद ३२४-३२९ निर्वाचन सबधी मामलो पर प्रकाश डालते हैं। सविधान द्वारा नागरिको को वयस्क मताधिकार दिया गया है। भारत के प्रत्येक नागरिक को जो २१ वर्ष की आयु का है मत देने का अधिकार है। परन्तु उसको पागल तथा अपराधी नही होना चाहिए। इस तरह, स्वय सविधान द्वारा भारतीय मतदाताओ के लिए प्रावधान किया गया है। सविधान द्वारा नागरिको को प्रदत्त मताधिकार, किसी भी राष्ट्रीय प्रान्तीय, तथा स्थानीय कानून द्वारा, सिवाय सविधान द्वारा निर्धारित प्रणाली के, अपहृत नहीं किया जा सकता है। सविधान द्वारा जनता को प्रदत्त वयस्क मताधिकार, सविधान निर्माताओ के उस विश्वास का द्योतक है, जिसके आधार पर भारत मे ससदीय प्रणाली की नीव डाली गई है।

स्वतत्रता के पश्चात् भारत मे अभी तक पाँच आम चुनाव (१९५१-५२, १९५७, १९६२, १९६७ एव १९७१) सम्पन्न हुए हैं। इन चुनावो मे पूर्व जनतान्त्रिक सरकार की कार्यप्रणाली का भारतीयो को कोई अनुभव नही था। अत प्रथम आम चुनाव के समय यह अनुभव किया गया कि भारतीय जनता को न केवल जनतान्त्रिक प्रणाली का कम अनुभव था, परन्तु यह भी देखा गया कि अधिकाश मतदाता निरक्षर थे और कई विभिन्न मामलो मे अपने विभिन्न राजनीतिक अधिकारो के सच्चे जनतान्त्रिक तरीको के अनुसार प्रयुक्त करने मे असमर्थ रहे। इसके बावजूद, यह कहना गलत होगा कि इन सब कठिनाइयो के रहते हुए भी भारत मे जनतत्र की स्थापना तथा दृढ़ता के लिए आवश्यक कदम एक सही दिशा मे नही उठाये गये। वास्तविकता तो यह है कि प्रथम आम चुनाव और इसके बाद अन्य चुनावो के नतीजे इस बात के प्रतीक हैं कि भारत मे जनतत्र का

आरम्भ सही दिशा मे हुआ। डा० नार्मन पामर कहते हैं—"जबकि बहुत से उदाहरण, मतदान के उद्देश्यो तथा प्रणाली के न समझने के और इनके उल्लघन के पाये गये, प्रथम दो आम चुनाव अधिकाश निरक्षर जनता के बुद्धिपूर्ण मतदान करने की क्षमता के प्रभावशाली प्रदर्शन थे।"[१]

परन्तु इस मे कोई सदेह नही है कि चार आम चुनावो के अनुभव के आधार पर भारतीय निर्वाचको की भूमिका मे कुछ गंभीर त्रुटियाँ उभर कर सामने आयी, जिनको जनतत्र के हित मे दूर करना आवश्यक है। इन विभिन्न त्रुटियो को निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है।

सर्वप्रथम—एक प्रमुख त्रुटि का यह अनुभव किया गया कि एक औसत निर्वाचक भारत मे राजनैतिक परिस्थितियो के दृष्टिकोण से, वास्तविकता से अधिक दूर रहता आया है। यह भारतीय जनतत्र प्रणाली का एक गभीर दोष है। इसका केवल यह तात्पर्य नही है कि कितने नागरिक मत देते हैं, पर यह कि वे मत कैसे देते हैं। यदि मतदान किसी प्रलोभन या दबाव या व्यक्ति-विशेष या सम्प्रदाय के हित पर आधारित हैं तो निश्चय ही यह राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकताओ की वास्तविकताओ से दूर है और इसके प्रभाव राष्ट्र के लिए वास्तव मे मताधिकार को प्रयोग मे नही लाने के प्रभाव से अधिक हानिकारक सिद्ध होंगे। जानरोच इस सदर्भ मे कहते हैं—"भारतीय राजनीति मे एक तरह से वास्तविकता की कमी इसलिए है कि जनता की रुचि किसी मूल बात मे बहुत कम है।"[२] यद्यपि यह सत्य है कि सविधान के लागू होने के कई वर्ष पश्चात् तक अधिकाश भारतीय निर्वाचको का रुख राजनीतिक मामलो के प्रति उदासीन रहा है, किन्तु पिछले वर्षों के राजनीतिक अनुभवो के कारण निर्वाचको की राजनीति मे दिलचस्पी अधिक बढी है। किन्तु यह विदित रहे कि यह दिलचस्पी प्राय उन मूल मुद्दो से ही सबधित नही रही है जिन पर राष्ट्रीय हित आधारित हैं, परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यदि कुछ निर्वाचक राजनीतिक जीवन के प्रति उदासीन हैं तो कुछ निर्वाचक ऐसे भी हैं जिनमे अपने राजनीतिक अधिकारो तथा कर्तव्यो के प्रति स्वस्थ चेतना की जागृति हुई है। "यही कारण है कि अब ससदात्मक जनतत्र के भविष्य के प्रति आशा की जा सकती है।"[३] इसमे सदेह नही है कि यह आशा अधिकाश निर्वाचको के अपने अधिकार एव कर्तव्यो के प्रति जागरुक होने पर निर्भर है।

---

१ एन० पामर—'इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम,' पृ०२१७, स० १९६१।

२ जे० रोच—'इण्डियाज १९५७ इलेक्शन्स' फार ईस्टर्न सर्वे, २६ मई, ५७।

३. आर० बर्नहेम—'पार्लियामेण्ट इन इण्डियन डेमोक्रेसी' स्टडीज इन इण्डियन डेमोक्रेसी-अय्यर और श्रीनिवासन १९६५ पृ० १७०–७१।

द्वितीय-राजनीतिक जागरूकता के लिए निरक्षरता एव अनभिज्ञता का दूर करना अत्यावश्यक है। निरक्षरता एव अनभिज्ञता, भारतीय जनतत्र म उन बुराइयो के रूप म हैं जिनसे भारतीय निर्वाचको के जनतत्र के प्रति स्वस्थ रुख के निर्माण म बाधा पहुँचती है। मतदान के अधिकार का उपयोग निर्वाचक की उस कार्यकुशलता एव क्षमता पर निर्भर है, जिससे वह अपने दायित्वा को समझ सकता है। निर्वाचक की इस योग्यता का विकास शिक्षा एव ज्ञान के माध्यम से ही किया जा सकता है। चूंकि भारत की अधिकांश जनता आज भी निरक्षर और अशिक्षित है, परिणाम स्वरूप अधिकाश निर्वाचकगण अपने मताधिकार का सदुपयोग नही कर सकते हैं। इस कारण, भारत के विभिन्न आम-चुनावो म कठिनाइयो को दूर करने के लिए, निर्वाचन अधिकारियो ने कुछ विशेष चिन्हा और प्रतीको को, निर्वाचको की सहायता के लिए प्रयुक्त किया है। डा० पामर का कथन है—"करीब अस्सी प्रतिशत निर्वाचका की निरक्षरता द्वारा उत्पन्न हुई कुछ समस्याओ को दूर करने के लिए चिन्हो एव बहु मतदान पेटियो को रखा गया है। कुछ राजनीतिक दलो को उन्ह प्रदत्त किये हुए चिन्हो से अधिक लाभ हुआ। उदाहरणार्थ काग्रेस दल को, बैल जोडी का चिन्ह प्राप्त हुआ जिसके अनेक प्रकार के लाभपूर्ण अर्थ लगाये जा सकते है। कई भारतीयो को यह समझाया गया कि वे बैलो के विरुद्ध मतदान न करें क्योकि बैल उनकी जीविका, शक्ति, यातायात और कदाचित उनके धार्मिक विश्वास के द्योतक थे। साम्यवादियो को हथोडा और हसिया के लिए सहमति प्राप्त नही हुई, उनको हसिया और गेहूँ की बाली चिन्ह के लिए सहमति मिली जो भारतीय किसान के लिए एक बहुत आकर्षक चिन्ह है।"[1] इन त्रुटियो के बावजूद भी पाँच आम चुनावो के आधार पर, यह निश्चियपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत मे जनतत्र सबधी जो परीक्षण हुआ, वह पर्याप्त मात्रा मे सफल रहा। परन्तु पूर्ण सफलता के लिए वर्तमान त्रुटियो को दूर करना आवश्यक है। "वयस्क मताधिकार की कार्य सबधी उपयुक्तता को स्वतत्र एव गुप्त मतदान प्रणाली के अन्तर्गत जाँचने के लिये अर्द्ध शिक्षित या अर्द्ध प्रगतिशील देशो के दृष्टिकोण से, जिनकी जनता अधिकतर अनपढ रीति-रिवाज से दबी और मतदान के विचार तथा व्यावहारिकता और जनतत्र के तरीको एव सिद्धान्ता से अपरिचित हो, भारत एक महत्वपूर्ण प्रयोग शाला है।[2]"

तृतीय—राजनीति-विज्ञान का यह एक सत्य है कि आर्थिक अधिकारो की अनुपस्थिति म, राजनीतिक अधिकार अर्थहीन हो जाते हैं। यह सत्य है कि सरकार

---

१ एन० पामर—'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० २१८।
२ एन० पामर—वही पृ० २१६।

के प्रयत्नों के बावजूद भी, एक औसत नागरिक की आर्थिक स्थिति भारत मे दयनीय है।

आर्थिक विपन्नता के कारण नागरिक अपने राजनीतिक अधिकारों का सही उपयोग नहीं कर सकता है। आर्थिक विषमता एव असमानता के चगुल मे जकडे होने से निर्वाचक को इतना भी समय नही मिलता कि वह अपने प्राप्त राजनीतिक अधिकारों को स्वस्थ तथा सतुलित निर्णय लेने मे प्रयुक्त कर सके। इसके परिणाम स्वरूप मतदान के समय वह घूस आदि बुराइयो का शिकार हो जाता है। आम चुनाव के दौरान अक्सर यह देखा गया है कि निर्वाचक घूस से प्रभावित होकर मतदान करते हैं। मतदाता की स्वतन्त्रता की भावना को दृढ बनाने के लिए उपर्युक्त दो बुराइयो को दूर करना आवश्यक है। सक्षेप मे ये दो बुराइयाँ हैं—(क) आर्थिक असमानता तथा (ख) मत देने के लिये घूस देने और लेने की प्रवृत्ति।

श्री सन्थानम का कहना है—"सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि निर्वाचकों को घूस देने पर रोक लगाई जाये। घूस के अपराधो को ज्ञात करने और अपराधियो को सजा देने के लिए विशेष सी० आई० डी० जत्थो का गठन किया जाना चाहिये। यह भी प्रावधान होना चाहिये कि चुनाव-प्रत्याशी द्वारा या निर्वाचको की न्यून सख्या, उदाहरण के लिए एक हजार निर्वाचको, की माँग करने पर निष्पक्ष जाँच की जाय। जब तक इस दिशा मे कडे कदम न लिये जायेंगे, चुनाव जुआ के रूप मे बिगड जायेंगे, जिसमे केवल धनी और उनके अभिकर्ता ही भाग ले सकेंगे।"[१]

उपर्युक्त मुख्य त्रुटियो के अतिरिक्त, अन्य अनेक त्रुटियाँ भी आम चुनावो के समय दृष्टिगोचर हुई। उदाहरण स्वरूप, विचारो की सकीर्णता, भाषा, क्षेत्र, जाति, धर्म, प्रान्तीयता की भावना आदि। कुछ कठिनाइयाँ नामकरण-सबधी भी देखने मे आई थी। आरम्भ मे नामाक सूची मे करीब ४०,००,००० स्त्रियो के नाम केवल इस तरह लिखे गये—'किसी की पत्नी' या 'किसी की पुत्री' और जब नामकरण अधिकारियो ने श्री सुकुमारसेन के निर्देशानुसार इन स्त्रियो के सही नाम जानने चाहे, इनमे से २८,००,००० ने अपने नाम बताने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप, इनके नाम नामाकरण सूची मे से निकाल दिये गये। कुछ कठिनाइयो का सामना, विस्थापित व्यक्तियो के वास्तविक स्तर को निर्धारित करने मे करना पडा। यहाँ यह कहना गलत होगा कि केवल शिक्षा और आर्थिक प्रगति द्वारा ही निर्वाचको की क्षमता के स्तर, और उनके दायित्व-सबधी भावना मे वृद्धि होगी। व्यक्तिगत बुद्धिमता, सही और गलत बातो मे अन्तर जानकर सही बातो का

१. एन० सन्थानम, 'ट्रानजीशन इन इण्डिया', १९६४ पृ० ६१-६२।

स्वतन्त्रता पूर्वक अनुसरण करने की क्षमता, तथा हिंसा के बजाय अहिंसा तथा जनतांत्रिक सिद्धान्तों और प्रणालियों में असीम विश्वास आदि आवश्यकताओं पर भारतीय जनतन्त्र का भविष्य और सफलता आधारित है।

संक्षेप में, संसदात्मक पद्धति की सफलता के लिए भारत में निर्वाचकों को अपने राजनीतिक अधिकारों एवं कर्तव्यों को ईमानदारी और निष्ठापूर्वक प्रयुक्त करना अत्यावश्यक है। विशेषकर, जब देश में आम चुनाव का समय आता है, निर्वाचकों के केवल मतदान के अधिकार का ही प्रश्न नहीं है, परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उनके इस कर्तव्य का प्रश्न है कि पिछले पाँच वर्ष देश के राजनीतिक अधिकारियों ने राजसत्ता अपने हाथ में रखते हुए जो कार्य किये हैं, उनकी निष्पक्ष रूप से समीक्षा करते हुए मतदान करें। मतदान का प्रयोग, इस रूप में निर्वाचक के हाथ में एक अंकुश के समान होगा, जिससे देश के शासकों के राजनीतिक आचरण को नियन्त्रित किया जा सकेगा। अतः मतदान का अधिकार जनतन्त्र में एक जातांत्रिक अवरोध के रूप में है, जिससे व्यवस्थापिका, और व्यवस्थापिका के माध्यम से कार्यपालिका पर, जनता का नियन्त्रण वास्तविक और निरन्तर रखा जा सकता है। "वुडरो-विल्सन कहा करते थे, जनतन्त्र एक अति कठिन प्रणाली है। यह विदित है कि इसके लिए कुछ राजनीतिक परिपक्वता की आवश्यकता है, पर यह बात प्राय विकास-उन्मुख देशों में नहीं पाई जाती है। इसके अतिरिक्त, कुछ अंश में शिक्षा, कुछ मात्रा में आर्थिक सुदृढ़ता, उत्तरदायित्वपूर्ण नेतृत्व और पर्याप्त नागरिकता की भावना जिसमें जनता लोक कार्यों में अधिक हिस्सा ले सके और घूस को कम कर सके। ये कोई असम्भव बातें नहीं हैं। यह सही है कि बहुत से नये उभरते हुए देशों को जनतन्त्र की कुछ या सभी मूल आवश्यकताओं की प्राप्ति नहीं है। पर यह विदित है कि इनमें से अधिक को (यहाँ उदाहरण के लिए मलेशिया, भारतवर्ष और फिलिपीन का उल्लेख किया जा सकता है) जनतन्त्र की मुख्य आवश्यकताएँ उपलब्ध हैं। इनको प्रेरित किया जाना अधिक आवश्यक है।"[1]

अन्त में यह कहना उचित होगा कि भारत में जनतन्त्र के सफल संचालन के लिए विभिन्न आवश्यकताएँ उपलब्ध हैं, पर भारत की जनता और राजनीतिक नेतृत्व को यह चुनौती है कि इन आवश्यकताओं का उपयुक्त प्रयोग करें अन्यथा यह सम्भव है कि जनतन्त्र की मूल आवश्यकताएँ चाहे वे अभी अविकसित रूप में ही क्यों न हों एक के पश्चात एक समाप्त होती चली जायेंगी।

---

१. एस० पेडोवर—'द अमेरिकन रिपोर्टर' अगस्त १८, १९६५।

भारत में संघवाद और संसदीय प्रजातंत्र

सघवाद वह यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य की सारी शक्तियो का विभाजन दो प्रकार की सरकारो के मध्य हो जाता है। ये दो प्रकार की सरकारें—केन्द्रीय और राज्यो की (सघ की इकाइयो) सरकारो के रूप मे होती हैं। प्रो० डायसी ने सघवाद पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"यह वह राजनीतिक यन्त्र है, जिसके द्वारा राष्ट्रीय एकता और राज्यो (इकाइयो) के अधिकारो मे सामजस्य स्थापित किया जाता है।"[१]

सघवाद राष्ट्रीय सार्वभौमिकता और राज्यो (इकाइयो) के अधिकारो की पृथक मागो मे जिस साधन द्वारा समन्वय और एकता स्थापित करता है—वह है लिखित सविधान, जिसके अन्तर्गत सार्वभौमिकता सबधी शक्तियो का विभाजन केन्द्रीय एव राज्यो की सरकारो के मध्य किया जाता है। वास्तव मे, सघवाद का सिद्धान्त सीमित सरकार के सिद्धान्त मे सबधित है। सीमित सरकार से तात्पर्य है कि सरकारो (केन्द्रीय तथा राज्यो) की विभिन्न शक्तियो की सीमाओ को स्पष्ट रूप से लिखित सविधान के द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है। इन सीमाओ से निकलकर शक्तियों का प्रयोग करना अवैधानिक होगा। "विशिष्ट रूप से सीमित सार्वभौमिकता प्राप्त राज्य ही सघ राज्य है, जिसमें सीमाओ का निर्धारण इसकी इकाइयो की सुरक्षित सार्वभौमिकता के द्वारा ही किया जा सकता है। सघीय राज्य की सार्वभौमिकता सीमित होने के बावजूद भी वास्तविक होती है।"[२]

इस तरह सघवाद के अन्तर्गत सरकारो के सीमित होने का मूल कारण शक्ति के विभाजन का सिद्धान्त है। डा० विहियर के अनुसार—"सघीय सिद्धान्त से मेरा तात्पर्य शक्ति के विभाजन के तरीके से है जिससे सामान्य (सघीय) एव क्षेत्राधिकारी (राज्यों) सरकारें अपने क्षेत्र म समान एव पृथक होती हैं।"[३]

---

१. प्रो० ए० वी० डायसी—'ला आफ द कान्स्टीट्युशन', १६३८ पृ० १३८।
२ आर० मैकाइवर—'मार्डन स्टेट' १६२६ पृ० ३६०।
३. डा० विहियर—फेडरल गर्वमेन्ट, १६५१ पृ० ११।

"सघ सरकार वह है जिसमे सार्वभौमिकता या राजसत्ता का विभाजन केन्द्रीय एव स्थानीय सरकारो के मध्य मे हुआ हो, जिससे इनमे से प्रत्येक एक दूसरे से अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र हो।"[1]

यह स्पष्ट है कि सघवाद द्वारा लिखित सविधान के दायरे मे विभिन्न सरकारो पर सवैधानिक सीमाओ का निर्धारण होता है। सघवाद द्वारा निर्मित ये सीमाएँ केन्द्रीय एव राज्यो की सरकारो के सघीय सबधो मे एक आवश्यक सतुलन एव समन्वय स्थापित करती है, जिसके बिना सारा सघीय ढाँचा एक पक्षीय हो सकता है। साधारणतया केन्द्रीय सरकार-सबधित सीमाओ का उल्लेख निम्नलिखित है।

१—केवल सघीय व्यवस्थापिका सविधान का सशोधन नही कर सकती है।

२—सघीय व्यवस्थापिका को केवल सविधान द्वारा निर्धारित क्षेत्र मे ही कानून बनाने की क्षमता है।

३—सघीय कार्यपालिका को भी केवल सविधान द्वारा सीमित दायरे मे आदेश तथा डिक्री घोषित करने का अधिकार है।

उपर्युक्त सीमाएँ राज्यो की विधान सभाओ और कार्यपालिकाओ पर भी लागू होती है। इस सदर्भ मे न्याय विभाग की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। वास्तव मे सघीय राज्य मे न्यायपालिका को सविधान के सरक्षण का अधिकार होता है। न्यायिक पुनरवलोकन का अधिकार इस उद्देश्य से प्रयोग मे लाते हुए, न्यायपालिका, व्यवस्थापिका या कार्यपालिका द्वारा पारित कानूनो या आदेशो को अवैधानिक ठहरा सकती है। किसी भी सघीय व्यवस्था का अस्तित्व, वहाँ के लिखित सविधान की सर्वोच्चता और सवैधानिक पवित्रता को बनाये रखने के लिए न्यायपालिका के सरक्षण की आवश्यकता होती है। इसका कारण प्रो० डायसी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'एक सघीय राज्य अपना अस्तित्व उस लेख-पत्र से प्राप्त करता है जिसके द्वारा उस की स्थापना हुई है। अत प्रत्येक शक्ति जो कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एव न्यायपालिका से सबधित है, चाहे वह सम्पूर्ण राष्ट्र की हो या किसी एक राज्य की, सविधान के अधीन नियन्त्रित है।"[2] सघीय राज्य मे लिखित सविधान सर्वोच्च कानून है। सविधान की सर्वोच्चता निम्न लिखित तत्वो पर आधारित है।

सर्वप्रथम—*सविधान का लिखित स्वरूप होना आवश्यक* है, जिससे इसमे स्पष्टता रहे और सघीय मामलो मे मतभेद होने की सभावना बहुत कम हो जाये।

---

१ आर० गेरेन—द रिपोर्ट आफ द रायल कमीशन आन आस्ट्रेलियन कान्स्टीट्यूशन।

२ प्रो० ए० वी० डायसी—'पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १४०।

संघीय संविधान वास्तव में एक अनुबंध के रूप में है, जिसमे कुछ आवश्यक शर्तों को, विभिन्न संघीय इकाइयो की सहमति से, केन्द्रीय एवं राज्यो की सरकारो की शक्तियो को उल्लिखित एवं परिभाषित करने के लिए वर्णित किया गया है। लिखित संविधान का महत्व संघीय प्रणाली मे इस दृष्टिकोण से पाया जाता है कि इसके अन्तर्गत संघ और राज्यो के संबंधो मे गडबडी और सन्देह की संभावना नही रहती है। साधारण कानूनो की तुलना म लिखित संविधान स्थायी है। इसके द्वारा सरकारो के संगठन और कार्यो का कानूनी और संवैधानिक आधार तथा संघ और राज्यो के संबंध और क्षेत्राधिकार निर्धारित किये जाते हैं।

द्वितीय चूकि लिखित संविधान संघ और राज्यो के संवैधानिक समझौते के सदृश है अत इसे बार-बार संशोधित नही करना चाहिये। संविधान को निरन्तर संशोधनो की बाढ मे यदि ढकेला गया तो निश्चय ही संघीय ढांचे के नष्ट होने की संभावना पैदा हो सकती है। अत, प्राय यह देखा गया है कि जिन राज्यो ने संघ व्यवस्था को अपनाया है उनके संविधान संशोधन के दृष्टिकोण से कठोर हैं। इन राज्यों मे संविधान का संशोधन साधारण कानून निर्माण प्रणाली से नही बल्कि एक विशेष संशोधन प्रणाली से किया जाता है। प्रो० डायसी का कथन है—"संविधान को कठोर या अनमनीय होना चाहिये। संविधान के कानून को या तो अपरिवर्तनशील होना चाहिये या उसे केवल ऐसी सत्ता से संशोधित किया जा सके जो साधारण व्यवस्थापिका सभाओ (संघीय या राज्यो) से सर्वथा भिन्न हो।"[१]

आधुनिक युग मे लोक कल्याणकारी राज्य को मूर्त रूप देने के लिए प्राय यह आवश्यक हो जाता है कि संविधान का संशोधन, सामाजिक और आर्थिक न्याय के आधार पर राष्ट्र की आवश्यकतानुसार किया जाये। परन्तु यह ध्यान म रहे कि संघीय राज्यो मे संविधान का संशोधन केवल संविधान मे दी हुई संशोधन प्रणाली के अनुसार ही हो सकेगा। "यह निश्चित है कि जहां कही भी संघ सरकार है, वहां सरकारो के निर्माता संघीय प्रणाली को विद्यमान रहने देने को प्राथमिक महत्व देते हैं। सम्पूर्ण सार्वभौम व्यवस्थापन सत्ता संविधान के अन्तर्गत सुरक्षित रूप से किसी साधारण व्यवस्थापिका सभा म निहित नहीं की जा सकती है, क्योकि इस तरह से सार्वभौमिक व्यवस्थापन सत्ता का निहित करना, राष्ट्रीय और राज्यो की सरकारो के मध्य शक्ति विभाजन के, जो संघवाद का उद्देश्य है, प्रतिकूल होगा।"[२]

संघीय राज्य म प्रत्येक व्यवस्थापिका सभा, संघीय संविधान के अन्तर्गत एक अप्रधान विधि निर्माणात्मक संस्था है, जिसके द्वारा निर्मित कानून, उपनियमो, के

१ प्रो० डायसी—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १४२।
२ वही पृ० १४३।

का संगठन एवं शक्तियों, और नागरिकों और सरकार के अन्तर्निहित संबंधों को निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित तीन मुख्य आवश्यकताएँ होनी चाहिये—(क) संविधान का लिखित होना, (ख) संविधान का अपरिवर्तनीय या कठोर होना, और (ग) स्वतंत्र एवं शक्तिशाली संघीय न्यायपालिका का होना।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमारे समक्ष दो महत्वपूर्ण प्रश्न आते हैं। सर्वप्रथम—भारत के संविधान के अन्तर्गत संघीय व्यवस्था किस हद तक स्थापित की गई है, और, द्वितीय, क्या भारत का संविधान अमेरिका के संविधान के तुल्य देश का सर्वोच्च कानून समझा जा सकता है।

भारत में संघवाद की आवश्यकताएँ—प्रथम प्रश्न के संदर्भ में यदि भारत के संविधान के विभिन्न प्रावधानों की समीक्षा की जाये, तो उसके आधार पर यह निश्चितपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत में संघ राज्य की व्यवस्था की गई है। परन्तु संविधान में, विशिष्ट रूप से संघ (फेडरेशन) शब्द का उपयोग कहीं नहीं किया गया है, अनुच्छेद १ के अनुसार भारत राज्यों का एक 'यूनियन' माना गया [redacted]। डा० अम्बेडकर ने, जो प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे, 'फेडरेशन' शब्द की अपेक्षा 'यूनियन' का ही उपयोग किया। उन्होंने कहा—"किसी नाम को उपयोग में लेने से कोई अन्तर नहीं होता है। समिति ने ब्रिटिश नार्थ अमेरिका एक्ट १८६७ की भाषा का अनुसरण करना ही पसन्द किया है, और यह निर्णय लिया है कि भारत को 'यूनियन' की संज्ञा देने में कुछ लाभ है, परन्तु भारत का संविधान स्वरूप में संघात्मक है।"[1]

व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से यहाँ मूल प्रश्न यह है कि चूँकि भारत को संविधान द्वारा 'यूनियन', न कि 'फेडरेशन' की संज्ञा दी गई है, तो क्या संविधान में संघीय प्रणाली की बुनियादी आवश्यकताएँ निहित हैं? संघीय प्रणाली के परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार संघीय संविधान को लिखित होना आवश्यक है, संविधान में संघ और राज्यों की सरकारों के मध्य स्पष्ट रूप से शक्तियों का बँटवारा होना चाहिये, और अन्त में, संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय के लिए प्रावधान होना चाहिये, जिसके कारण संविधान का संरक्षण किया जा सकेगा। भारत के संविधान में इन तीनों आवश्यकताओं को मान्यता दी गई है। अतः यह कहना सत्य होगा कि भारतीय संविधान में संघवाद के सिद्धान्त को अपनाया गया है। उपर्युक्त तीनों विशेषताओं की दृष्टि से, निम्नलिखित रूप में भारत के संविधान का विश्लेषण किया जा सकता है, जिससे इसके संघीय स्वरूप पर प्रकाश डाला जा सके।

---

१ बी० आर० अम्बेडकर—ड्राफ्ट कान्स्टीट्यूशन, भाग ४।

भारतीय सघीय सविधान व्यवस्था की प्रथम आवश्यकता, लिखित सविधान के रूप मे विद्यमान है। लिखित सविधान मे न केवल सघ सरकार और राज्यो की सरकारो के लिए प्रावधान किया गया है, परन्तु इनके मध्य म शक्ति का विभाजन भी स्पष्ट रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त, राज्य और नागरिको के सबधों के मूल सिद्धान्तो का उल्लेख, विशेषतया भाग तीन म अनुच्छेद १२-३५, मूल अधिकारो एव भाग चार मे अनुच्छेद ३६-५१ तक राज्य नीति-निदेशक तत्वो के रूप म किया गया है। अन्य नागरिको के अधिकार, सविधान मे इधर-उधर समावेशित हैं। उदाहरण स्वरूप, नागरिको का वयस्क मताधिकार तथा सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक न्याय के अधिकार, जिनका उल्लेख सविधान की प्रस्तावना म किया गया है। सघीय प्रणाली के सिद्धान्त के अनुरूप भारतीय सविधान म जिस सशोधन प्रणाली का उल्लेख है, वह दृढ एव कठोर है, जिससे सविधान की कठोरता या अनमनीयता प्राप्त होती है। यह सघवाद के लिए आवश्यक है। सक्षेप मे भारत का सविधान लिखित है, जिसमे ३६५ अनुच्छेद एव ९ अनुसूचियाँ हैं।

भारत मे सघीय प्रणाली की द्वितीय आवश्यकता सघ एव [illegible] शक्तियो का स्पष्ट और विस्तृत विभाजन है। सविधान के अनुच्छेद २४५-२६३ सघ और राज्यो के मध्य शक्तियो के विभाजन पर प्रकाश डालते हैं। "भारत के सविधान मे सघ और राज्यो के मध्य सत्ता-विभाजन से दो विशिष्ट परन्तु पृथक् सत्तायुक्त शक्ति केन्द्रो का निर्माण हुआ है।"[1]

सविधान की सातवी अनुसूची के द्वारा विस्तारपूर्वक शक्तियो के विभाजन का उल्लेख किया गया है। शक्ति-विभाजन के जिस नमूने का सविधान मे उपयोग किया है, वह भारत सरकार अधिनियम १९३५ के अन्तर्गत सघ एव इकाइयो के क्षेत्राधिकारो के विभाजन के सदृश है जो तीन सूचियो द्वारा निर्धारित किया गया था। ये तीन सूचियाँ, इस प्रकार थी।

क सघीय सूचि, ख राज्य सूचि, और ग. समवर्ती सूची। इसी नमूने के आधार पर भारतीय सविधान की सातवी अनुसूची द्वारा सघराज्य व्यवस्थापन सबधी विषयो का उल्लेख करने के लिए निम्नलिखित तीन सूचियो को रखा गया है।

(क) सघीय सूची—इसके अन्तर्गत ९७ विषय हैं। सविधान, केवल सघ ससद को, इस सूची मे उल्लेखित विषयो पर विधि-निर्माण करने का अधिकार देता है।

(ख) राज्य सूची—इसमे ६६ विषय हैं। साधारणतया इस सूची मे वर्णित विषयों पर राज्य-विधान सभाओ के क्षेत्राधिकार के होते हुए भी, सविधान मे कुछ

---

१ ग्रास्टरगार्ड—डेमोक्रेसी इन इण्डिया 'इन डायलाग्स आफ डेमोक्रेटिक पालिटिक्स इन इण्डिया'—सम्पादित जी० हलप्पा द्वारा १९६६ पृ० २१७।

अपवादो को मान्यता प्रदान की गई है, जिनका वर्णन विस्तृत रूप मे, आगे किया जायेगा।

(ग) समवर्ती सूची—इस सूची मे ४७ विषय हैं, समवर्ती सूची मे उल्लिखित विषयो पर ससद और राज्यो की विधान सभाओ को समवर्ती क्षेत्राधिकार प्रदत्त हैं। अनुच्छेद २५४ क अनुसार यदि सघीय कानून और किसी राज्य कानून मे समवर्ती सूची मे उल्लिखित किसी विषय पर मतभेद या सघर्ष होता है तो ऐसी दशा मे सघीय कानून को, राज्य कानून की अपेक्षा मान्यता प्राप्त होगी, परन्तु यदि राज्य कानून को पूर्ववत, राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त हो गई है तो ऐसी स्थिति मे राज्य कानून को ही मान्यता प्राप्त होगी।

भारतीय सविधान मे अवशिष्ट शक्तियो के लिए भी उचित प्रावधान किया गया है। अवशिष्ट शक्तियो से तात्पर्य उन शक्तियों से है, जो शक्ति-विभाजन सबधी सूचियो मे उल्लिखित नही है। यह मानव बुद्धि के लिए सभव नही है कि भविष्य मे उत्पन्न होने वाली प्रत्येक समस्या या विषय का सही रूप से अनुमान लगाकर, सविधान मे उसके लिए प्रावधान कर सके। इस सभावना का सामना करने के लिए प्रत्येक सघीय सविधान मे अवशिष्ट शक्तियो के लिए कुछ न कुछ प्रावधान अवश्य ही किया जाता है। भारत के सविधान मे भी अवशिष्ट शक्तियो के लिए उचित प्रावधान किया गया है। यदि कोई ऐसा विषय निकल आता है, जिसका उल्लेख तीनो सूचियो मे से किसी मे भी नही किया गया है उक्त विषय पर सघ ससद को अनुच्छेद २४८ के अनुसार कानून निर्माण करने का अधिकार होगा। इसमे कोई सदेह नही कि भारत के सविधान के अन्तर्गत शक्तियो का विभाजन सघ और राज्यो के मध्य इस प्रकार से हुआ है कि सघीय सरकार को इसके परिणाम स्वरूप राज्यो की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। इस कारण भारतीय सघीय सरकार में एकात्मक सरकार की धारणा की झलक पाई जाती है।

भारतीय सविधान मे सशोधन प्रणाली—सघीय सविधान की स्थिरता के लिए विशेषतया सविधान के शक्ति-विभाजन सबधी प्रावधानो की स्थिरता के लिए, सविधान मे कठोरता या अनमनीयता वास्तव म अति आवश्यक है। यह सत्य है कि यह अनमनीयता वास्तव मे सघ और राज्यो के क्षेत्राधिकार से, जिनका निर्धारण शक्ति विभाजन द्वारा होता है सबधित होना चाहिये। भारतीय सविधान के कुछ हिस्से जिन पर भारतीय सघवाद का अस्तित्व निर्भर करता है कठोर या अनमनीय हैं। भारत के सविधान को कुछ हद तक नमनीय और कुछ हद तक अनमनीय या कठोर माना जा सकता है। यह ज्ञात करने के लिए कि भारत का सविधान कहाँ तक नमनीय है और कहाँ तक कठोर है, हमे उसकी सशोधन प्रणाली का अध्ययन करना होगा।

भारतीय सविधान के सशोधन के दृष्टिकोण से इसके विभिन्न प्रावधानो को निम्नलिखित तीन श्रेणियो मे रखा गया है। प्रत्येक श्रेणी मे रखे गये सविधान के प्राव-

धान संविधान के अनुच्छेद ३६८ में उल्लिखित एक विशिष्ट प्रणाली के अनुसार संशोधित किये जा सकते हैं।

वस्तुत भारत के संविधान के अन्तर्गत तीन पृथक् प्रकार की संशोधन प्रणाली हैं। संविधान संशोधन की इन प्रणालियों को सम्बन्धित प्रावधानों के अनुसार इस प्रकार दर्शाया गया है।

(क) भारतीय संविधान के कुछ प्रावधानों को केवल संसद में साधारण विधि-निर्माण प्रणाली के उपयोग द्वारा संशोधित किया जा सकता है। इसका यह तात्पर्य है कि संसद के द्वारा ऐसे प्रावधानों के संशोधन के लिए केवल साधारण बहुमत से विधेयक पारित करना ही पर्याप्त रहेगा। यह संशोधन प्रणाली ब्रिटिश संविधान की संशोधन प्रणाली से मिलती-जुलती है, क्योंकि इंगलैण्ड में संविधान का संशोधन केवल संसद द्वारा साधारण बहुमत द्वारा पारित कानून से किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, संविधान के अनुच्छेद ३ के अनुसार संघ के नये राज्य की स्थापना और राज्यों के नाम या सीमाओं में परिवर्तन संसद द्वारा पारित किये कानून से किया जा सकता है। इसी तरह अनुच्छेद १६९ के अनुसार संघ के उन राज्यों में जहाँ द्वितीय सदन नहीं है, वहाँ उनकी स्थापना और जिन राज्यों में द्वितीय सदन है, परन्तु अनावश्यकता के कारण, उनका समापन केवल संसदीय कानून के माध्यम से किया जा सकता है। संविधान के नागरिक सम्बन्धी प्रावधान एवं अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जातियों सम्बन्धी प्रावधान संसद के कानून के द्वारा ही संशोधित किये जा सकते हैं। भारतीय संविधान के ये प्रावधान संविधान में नमनीयता की झलक प्रदर्शित करते हैं क्योंकि इनके अनुसार संशोधन सरलतापूर्वक संसद में साधारण बहुमत द्वारा किया जा सकता है। संघवाद के दृष्टिकोण से जो महत्वपूर्ण विषय हैं, उनके संशोधन की अन्य विधि है।

(ख) संशोधन की दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रावधानों को रखा गया है जिनका संवैधानिक एवं राजनीतिक महत्व इनके संघीय स्वरूप से प्रदर्शित होता है। वास्तव में संविधान के ये प्रावधान भारत में संघवाद के जीवन-रक्त के तुल्य हैं। इनमें निम्नलिखित प्रावधान विचारणीय हैं।

१—अनुच्छेद ५४ एवं ५५ जिनके आधार पर राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में हिस्सा ले सकते हैं, अनुच्छेद ७३ एवं १६२, राज्यों की कार्यपालिकाओं के सम्बन्ध में, और अनुच्छेद २४१, संघीय भू-भाग पर स्थापित उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध में।

२—संविधान के चौथे अध्याय का पाँचवाँ भाग, संघीय न्यायपालिका के सम्बन्ध में। संविधान के ११वें भाग का पहला अध्याय, संघ और राज्य के व्यवस्थापन सम्बन्धी मामलों के सम्बन्ध में।

३—संविधान के वे प्रावधान जिनके आधार पर राज्यों को संसद में प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

४—संविधान का अनुच्छेद ३६८, संशोधन प्रणाली के संबंध में।

चूंकि उपरोक्त प्रावधान, भारत के संविधान के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रावधान हैं, जिन पर भारतीय संघ का सम्पूर्ण ढाँचा आधारित है, इनके संशोधन के लिए एक विशेष कठोर पद्धति को अपनाया गया है। यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतीय संविधान के इन प्रावधानों की संशोधन प्रणाली अमरीकी संविधान की संशोधन प्रणाली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, क्योंकि अमरीकी संविधान में भी संघवाद के सिद्धान्तों को समाविष्ट किया गया है। अमरीकी संविधान के अनुच्छेद ५ के अनुसार कांग्रेस (संघीय व्यवस्थापिका) अपने दो-तिहाई बहुमत के आधार पर संशोधन प्रस्तावित कर सकेगी या विभिन्न राज्यों के दो तिहाई राज्यों के विधायकों की मांग पर, संविधान में संशोधन के लिए, एक सम्मेलन बुलाया जायेगा। यह विदित रहे कि उपर्युक्त दोनों ही तरीकों में से किसी भी एक के अनुसार अमरीकी संविधान में संशोधन प्रस्तावित किया जा सकता है। परन्तु यह अमरीकी संविधान की संशोधन का प्रथम चरण ही है। द्वितीय या अन्तिम चरण संविधान में संशोधन को पारित करता है। जब उपर्युक्त दोनों में से किसी एक तरीके के द्वारा संशोधन प्रस्तावित किया गया है, निम्नलिखित दो में से किसी एक तरीके के अनुसार प्रस्तावित संशोधन पारित किया जा सकता है। प्रस्तावित संशोधन तीन-चौथाई राज्यों के विधायकों द्वारा या तीन-चौथाई राज्यों में तथा संवैधानिक सम्मेलनों द्वारा पारित किया जा सकेगा।

इसी प्रकार भारतीय संविधान के उपर्युक्त प्रावधान, जिनका वर्णन द्वितीय श्रेणी में किया जा चुका है, एक विशेष एवं जटिल प्रणाली द्वारा ही संशोधित हो सकते हैं। इस संशोधन प्रणाली के अनुसार संशोधन विधेयक को संसद के दोनों सदनों के समस्त सदस्यों के बहुमत से एवं उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाना आवश्यक है। इसके पश्चात् यह भी आवश्यक है कि संसद द्वारा पारित उक्त संशोधन विधेयक को संघ के कम से कम आधे राज्यों की विधान सभाओं की सहमति प्राप्त हो। "भारत में संविधान के उन विषयों के संबंध में जो राज्यों (इकाइयों) के विभिन्न अधिकारों और शक्तियों से संबंधित नहीं हैं, केवल संसद के एक पक्षीय कार्य द्वारा संशोधन किया जा सकता है। और जहाँ राज्यों के अधिकार एवं शक्तियाँ हैं, वहाँ संघ और राज्यों के द्विपक्षीय कार्य द्वारा ही संशोधन किया जा सकेगा।"[1] परिणाम स्वरूप, संविधान

१. एम० पी० शर्मा—द गवर्नमेंट आफ दी इण्डियन रिपब्लिक, १९६० पृ० ।

में संघात्मक विषयों से संबंधित प्रावधानों में संविधान की सर्वोच्चता की झलक विशेष रूप से पाई जाती है। संविधान की इस विशेषता के संदर्भ में श्री जी० एन० जोशी का कथन है कि 'यह प्रावधान संघात्मक सिद्धान्त के अनुकूल है कि प्रस्तावित संशोधन यदि संघीय प्रणाली के मूल सिद्धान्तों को जिनको मूल संघीय समझौते में मान्यता दी गई है, प्रभावित करता है, राज्यों की विधान सभाओं की सहमति आवश्यक है।"[1]

(ग) संविधान के संशोधन के दृष्टिकोण से हमने उपर्युक्त दो श्रेणियों में निहित संविधान के प्रावधानों तथा उनके संशोधन के लिए दो संबंधित संशोधन प्रणालियों का अध्ययन किया। इन दो श्रेणियों से संबंधित प्रावधानों के अतिरिक्त भारत के संविधान में कुछ अन्य प्रावधान शेष रह जाते हैं। वस्तुतः इन प्रावधानों को तृतीय श्रेणी में रखकर हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि इन प्रावधानों को जिनको हमने तृतीय श्रेणी में रखा है किस विशिष्ट प्रणाली द्वारा संशोधित किया जा सकेगा। संविधान में इन प्रावधानों के संशोधन के लिए जिस प्रणाली का उल्लेख किया गया है वह इस प्रकार है कि संसद के किसी एक सदन में प्रस्तावित संशोधन के लिए विधेयक प्रस्तुत किया जा सकता है और यदि इसका उक्त सदन में सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत से एवं उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई अंशों के बहुमत से पारित कर दिया जाता है तो उक्त विधेयक को दूसरे सदन में विचार विमर्श के लिए भेज दिया जायेगा, जहाँ पहले सदन द्वारा अपनाये उपर्युक्त तरीके के अनुसार पारित होने और राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त करने के पश्चात् इसको संवैधानिक कानून का रूप प्राप्त हो जायेगा, जिससे संविधान में आवश्यक संशोधन लागू हो सकेगा। यह संशोधन प्रक्रिया थोड़ी जटिल है, क्योंकि यह कानून निर्माण करने की सरल प्रक्रिया से थोड़ी भिन्न है, जिसके लिए संसद में साधारण बहुमत ही आवश्यक होता है।

भारत के संविधान में संशोधन के दृष्टिकोण से उसे उपर्युक्त तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है, जिसके परिणाम स्वरूप प्रथम श्रेणी में उल्लिखित संविधान के प्रावधानों का संशोधन सरल संशोधन प्रणाली द्वारा किया जाता है। सामान्यतः यदि किसी संविधान की संशोधन प्रणाली साधारणतः सरल है तो यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि संविधान को अवश्य ही नमनीय या लचीला होना चाहिये। चूँकि भारत के संविधान के कुछ प्रावधान, जिनका उल्लेख उपर्युक्त प्रथम श्रेणी में किया गया है, सरल प्रणाली द्वारा संशोधित किये जा सकते हैं, अतः हम यह कह सकते हैं कि संविधान कुछ हद तक लचीला है।

---

१. जी० एन० जोशी—द कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया, १९५२ पृ० ३७४।

संविधान के प्रावधानो की द्वितीय श्रेणी मे दिये गये प्रावधानो का संशोधन एक जटिल प्रणाली के द्वारा ही हो सकता है, जिसके अनुसार संघ संसद और कम से कम आधे राज्यो की विधान सभाओ की सहमति आवश्यक है। किसी संविधान को अनमनीय या कठोर संविधान इसलिए कहा जाता है क्योकि इसकी संशोधन प्रणाली जटिल है, और साधारण कानून निर्माण प्रणाली से सर्वथा भिन्न हैं। इस कारण भारत के संविधान के कुछ अंश, जिनका संशोधन की जटिल प्रणाली से होता है, संविधान की अनमनीयता या कठोरपन के द्योतक हैं। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि भारत का संविधान कुछ हद तक नमनीय है और कुछ हद तक कठोर है। कुछ हद तक कठोर या अनमनीय होने के कारण भारत के संविधान मे संघवाद की यह आवश्यकता विद्यमान हो जाती है, जिससे संविधान को सर्वोच्च कानून के रूप मे कायम रहने मे सहायता होती है। भारत मे संघ और राज्यों के मध्य मे शक्तियो के विभाजन के अध्ययन के पश्चात्, यह कहना गलत न होगा कि शक्ति विभाजन की प्रणाली, भारतीय संविधान मे संघवाद की नींव है।

अब हमे यह देखना है कि भारतीय संविधान मे संघवाद की तीसरी और अंतिम आवश्यकता के लिए क्या प्रावधान किया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद १२४ के अनुसार एक सर्वोच्च न्यायालय होगा, जिसका एक मुख्य न्यायाधीश होगा और, जब तक संसद कानून द्वारा नहीं निर्धारित करती है, सात अन्य न्यायाधीश होंगे। सुप्रीम कोर्ट अधिनियम १६५६ द्वारा, मुख्य न्यायधीश के अतिरिक्त दस अन्य न्यायाधीशो के लिए प्रावधान किया गया है। संविधान के संरक्षक के रूप मे भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के शक्तियो का आधार संविधान मे निम्नलिखित दो स्रोतो के रूप मे पाया जाता है।

(क) अनुच्छेद १३१–१३३ के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय राज्य सूची मे उल्लेखित विषय पर संसद द्वारा निर्मित कानून को अवैध घोषित कर सकता है। यदि इस कानून का निर्माण संसद ने संविधान के अनुसार न किया है तो सर्वोच्च न्यायालय, व्यवस्थापन संबंधी क्षेत्राधिकार की आवश्यकता के कारण उक्त कानून की अवैधानिकता पर अपना निर्णय दे सकता है।

(ख) अनुच्छेद ३२ (२) के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को न केवल यह अधिकार है किन्तु उसका उत्तरदायित्व भी है कि नागरिको के मूल अधिकारो की रक्षा करें।

इसमे संदेह नही कि उपर्युक्त दो अधिकारो के कारण सर्वोच्च न्यायालय भारत मे संविधान की सर्वोच्चता को सुदृढ बनाये रखने के लिए, एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। अत. मुख्यत भारतीय संघवाद का अस्तित्व इस न्यायालय की महत्वपूर्ण संघीय भूमिका पर ही आधारित है। इस अध्ययन के आधार पर यह

निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत मे संघवाद की तीनो आवश्यक्ताएँ विद्यमान हैं, जो निम्नलिखित है ।

(क) लिखित सविधान,

(ख) सघ एव राज्यो मे शक्तियो का विभाजन, और

(ग) सर्वोच्च सघीय न्यायालय

"भारत का गणराज्य एक सघ हैं, परन्तु इसके कुछ विशिष्ट गुण है जिनके द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य के शुद्ध सघीय स्वरूप मे कुछ परिवर्तन-सा हुआ है ।"[1]

भारत मे संघवाद एव ससदीय सार्वभौमिकता

सघवाद और नागरिको के मूल अधिकारो को सविधान मे समावेशित करने के फलस्वरूप सविधान देश के सर्वोच्च कानून का रूप धारण कर लेता है । लिखित रूप मे सविधान मे, सविधान की सर्वोच्चता का कही भी उल्लेख नही किया गया है । कदाचित् सविधान निर्माताओ द्वारा सविधान मे विशिष्ट रूप मे सविधान की सर्वोच्चता के लिए प्रावधान करना इसलिए अनावश्यक समझा कि सविधान ही सघ एव राज्यो की सरकारो के विभिन्न अगो की शक्तियो एव अधिकारो का स्रोत है और सघवाद के सिद्धान्त के अनुकूल सविधान का सशोधन केवल एक विशिष्ट जटिल सशोधन प्रणाली से ही किया जा सकेगा । अर्थात् सविधान को साधारण विधि निर्माण करने की प्रक्रिया से सशोधित नही किया जा सकता । यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतीय सविधान मे लिखित प्रावधान के न होने पर भी, सविधान देश का सर्वोच्च कानून है और जनता की सार्वभौमिकता का दर्पण है ।

भारत मे सघवाद की मान्यता का महत्वपूर्ण प्रभाव सघ और राज्य की सरकारो के सीमित सरकारो के रूप मे कार्य करता है । सघवाद द्वारा राज्य-सत्ता का विभाजन होता है और विभाजित राज्य-सत्ता उन सरकारो एव उनके विभिन्न अगो को सीमित रूप से ही प्रदत्त की जाती है, जिनकी उत्पत्ति का स्रोत स्वय सविधान है । इस दृष्टिकोण से भारतीय ससद को शक्तियो का सीमित होना आवश्यक है । अतः भारतीय ससद की सार्वभौमिकता और ब्रिटिश ससद की सार्वभौमिकता मे मूल भिन्नता है । इगलैंड मे ब्रिटिश ससद की सार्वभौमिकता न कि ब्रिटिश सविधान की सर्वोच्चता ब्रिटिश राजनीतिक प्रणाली का महत्वपूर्ण विषय है, जबकि भारत मे सविधान की सर्वोच्चता न की भारत की ससद की सार्वभौमिकता महत्वपूर्ण विषय है । ब्रिटिश ससद के द्वारा समयानुसार पारित

---

१. एन० पामर—इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम, १९६१ पृ० ९४ ।

सवैधानिक कानूनो को आज ब्रिटिश सविधान का एक हिस्सा माना जाता है। इसलिये ब्रिटिश ससद नई सवैधानिक कानून की स्रोत है। वास्तव मे ब्रिटिश ससद व्यवस्थापिका सभा होने के साथ सविधान सभा भी मानी जा सकती है। यह एक निरन्तर अस्थायी सविधान सभा है। परन्तु भारतीय संसद भारतीय सविधान की शिशु है। और इसको केवल वही शक्तियाँ प्राप्त हैं जो सविधान द्वारा दी गई हैं। सविधान द्वारा निर्धारित सीमाओ का उल्लघन करके भारतीय ससद के लिये कानून निर्माण करना अवैधानिक होगा। ब्रिटिश सविधान का सशोधन ब्रिटिश ससद सरलता पूर्वक साधारण कानून निर्माण प्रणाली के अनुसार कर सकती है, जब की भारतीय ससद को सम्पूर्ण सविधान के सशोधन के लिए एक पक्षीय अधिकार नहीं है। भारतीय ससद के अधिकार एव शक्तियाँ ब्रिटिश ससद के अधिकार एव शक्तियो की तुलना मे सीमित हैं क्योकि भारत मे ससदात्मक प्रणाली और सघवाद लिखित सविधान की, जो कि देश का सर्वोच्च कानून है। सघवाद भारत मे ससद की सार्वभौमिकता पर अवरोध है जिसकी अभिव्यक्ति लिखित सविधान के अनुसार होती है।

भारतीय सविधान के अन्तर्गत एकात्मक तत्व

भारत मे सघवाद की स्थापना के साथ ही सविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को कुछ विशेष शक्तियाँ प्राप्त हैं, जिसके कारण यह कहा जाता है कि भारत के सविधान का ढाँचा सघात्मक है, किन्तु आत्मा एकात्मक है। भारत के राजनीतिक इतिहास को सविधान निर्माताओ ने अपनी दृष्टि मे रखते हुए और इतिहास द्वारा यह सबक सीखते हुए कि जब कभी भी भारत मे केन्द्रीय सरकार निर्बल रही भारतीय सुरक्षा एव एकता को आघात पहुँचा सविधान के अन्तर्गत सघीय व्यवस्था के लिए प्रावधान करते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि केन्द्रीय सरकार को हर प्रकार की परिस्थिति का सामना करने के लिए पर्याप्त शक्तियाँ देना आवश्यक था। साधारणतया यह देखा गया है कि ससार के मुख्य सघ राज्यो म किसी न किसी तरीके द्वारा सघीय सरकार ने राज्यो की सरकारो की अपेक्षा स्वय को शक्तिशाली बनाने मे अत्यधिक सफलता प्राप्त की है। अमरीका का उदाहरण इस सदर्भ मे उचित है। मूलभूत रूप से सविधान के अनुसार अमरीकी सघ सरकार को केवल १८ शक्तियाँ और अन्य समस्त शक्तियाँ राज्यो की सरकारो को प्रदान की गई है परन्तु यह सर्व विदित है कि आधुनिक युग मे अमरीकी सघ सरकार ने अपने व्यवस्थापन क्षेत्राधिकार मे अधिक वृद्धि करने मे सफलता प्राप्त की है। इस दिशा म अपने प्रयत्नो मे काग्रेस (सघीय व्यवस्थापिका) को अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय से महत्वपूर्ण सहायता मिली है। सक्षेप मे सर्वोच्च न्यायालय ने अमरीका म निहित शक्तियो के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए, यह निर्णय दिया कि काग्रेस को १८ मूल शक्तियो

के अन्तर्गत संविधान के अनुकूल कुछ निहित शक्तियाँ प्राप्त हैं, जो संविधान के दायरे में हैं। कांग्रेस को इन शक्तियों के आधार पर विधि निर्माण करने का पूर्ण अधिकार होगा। फलस्वरूप आज अमरीकी कांग्रेस का विधि-निर्माण करने के क्षेत्र में संविधान द्वारा, १८ मूल शक्तियों के निर्धारित क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हो गई है। इसी तरह, *आधुनिक समय में संघ राज्यों में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों की*, जनकल्याण, सुरक्षा आदि महत्वपूर्ण मामलों के दृष्टिकोण से, अधिक वृद्धि हुई है। "सारे संघ राज्यों के आधुनिक संविधानों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है।"[१]

संविधान निर्माताओं पर भारतीय इतिहास का प्रभाव केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाने के पक्ष में एक महत्वपूर्ण निर्णायक तत्व था, क्योंकि भारतीयों के लिए इतिहास से जो अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षा प्राप्त हुई, वह यह है कि विघटनकारी एवं पृथकता प्रवृत्तियों ने देश को प्रारम्भ से ही फूट और दासता की खाई में धकेला। विभिन्न विघटनकारी प्रवृत्तियों, उदाहरण के लिए—साम्प्रदायिकता, जातिवाद, प्रान्तीयता, भाषावाद, ने न केवल ब्रिटिश राज के समय भारत की एकता को नष्ट किया वरन आज भी इन तत्वों ने अपना सिर इतना ऊँचा उठा लिया है कि यदि इनको सरकार विशेषकर संघीय सरकार कुलचने में हिचकिचाहट दर्शाती है तो ये तत्व देश की स्वतंत्रता, और एकता के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली रखने के पक्ष में श्री के० एम० मुंशी ने संविधान सभा में एक ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश डालते समय कहा था .—"भारत के लिए केवल वे ही गौरवपूर्ण दिन थे जब कि देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार स्थापित *रहती थी और सर्वाधिक दुखमय दिन वे थे, जब देश में एक केन्द्रीय सरकार प्रान्तों* के विरोध के कारण नष्ट हो जाती थी।"[२]

इन मुख्य कारणों के आधार पर संविधान सभा में वाद-विवाद का मुख्य प्रवाह केन्द्र को शक्तिशाली बनाने के पक्ष में ही था। डा० अम्बेदकर स्वयं शक्तिशाली केन्द्र स्थापित करने के पक्ष में थे। उन्होंने कहा—"मैं एक शक्तिशाली एकता सम्पन्न केन्द्र चाहता हूँ, जो १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत निर्मित केन्द्र से अत्यधिक शक्तिशाली होगा।"[३]

भारत के संविधान के अन्तर्गत निम्नलिखित तत्वों ने एकात्मक प्रवृत्तियों को, और उनके फलस्वरूप एक शक्तिशाली केन्द्र को जन्म दिया है।

---

१. एन० पामर—पूर्वोक्त पृ० ९५।

२ के० एम० मुंशी—कान्स्टीट्युशन असेम्बली डिबेट्स भाग ८ पृ० ६२७।

३. डा० अम्बेदकर—कान्स्टीट्युशन असेम्बली डिबेट्स भाग १ पृ० ९९।

सर्वप्रथम—संघ एवं राज्यों के मध्य शक्तियों का बँटवारा इस तरह किया गया है कि संघ सरकार को राज्य सरकार की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं। निम्नलिखित-विश्लेषण से यह और अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

(क) संविधान के २४३ से २६५ तक के अनुच्छेदों में और सातवीं अनुसूची में, संघ एवं राज्यों के मध्य में शक्तियों का विभाजन तीन सूचियों द्वारा किया गया है।

(१) संघ सूची—जिसके अनुसार संघ को ९७ विषयों के अधिकार दिये गये हैं।

(२) राज्यसूची—जिसके अनुसार राज्यों को ६६ विषयों के अधिकार दिये गये हैं।

(३) समवर्ती सूची—जिसके अनुसार संघ व राज्यों, दोनों को ४७ विषयों के समवर्ती अधिकार दिये गये हैं। अनुच्छेद २५४ के अनुसार यदि किसी राज्य विधान सभा द्वारा निर्मित कानून का कोई भाग संघ संसद द्वारा निर्मित कानून से संघर्ष में है, राज्य विधान सभा द्वारा उक्त निर्मित कानून को उस हद तक अवैध माना जायेगा, जिस हद तक वह संघीय कानून से संघर्ष में है। संक्षेप में, संघ सरकार के अधिकार समवर्ती सूची के संबंध में, राज्यों की सरकारों [redacted] अपेक्षा सार्वभौम हैं, इससे यह भी तात्पर्य है कि जब संघ संसद ९७+४७=१४४ विषयों पर सार्वभौम रूप से कानून निर्माण कर सकती है, राज्य सरकारों का क्षेत्राधिकार स्वतन्त्रतापूर्वक केवल राज्य सूची में उल्लिखित, ६६ विषयों तक ही उपयोग में लाये जा सकते हैं। राज्य सरकारों के अधिकार समवर्ती सूची में उल्लिखित ४७ विषयों पर इस बात पर निर्भर रहेंगे कि इनका संघर्ष संघीय कानूनों से नहीं होना चाहिये। इसके अतिरिक्त, अवशिष्ट शक्तियों पर, अनुच्छेद २४८ (१) के अनुसार केवल संघ सरकार को ही कानून बनाने का अधिकार है।

(ख) संघवाद की कसौटी मुख्यतः केन्द्र एवं राज्यों में शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को लागू करना है। जहाँ संघ एवं राज्यों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन स्वयं लिखित संविधान द्वारा कर दिया गया है, राज्यों को उनके क्षेत्र में कानून निर्माण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है और साधारणतया राज्यों के क्षेत्र में संघ सरकार का हस्तक्षेप नहीं होता है। परन्तु भारतीय संविधान के अन्तर्गत शक्ति विभाजन सिद्धान्त के संदर्भ में ही कतिपय परिस्थितियों के लिए विशेष रूप [redacted] प्रावधान किये गये हैं, जो शक्ति विभाजन सिद्धान्त के अपवाद माने जा सकते हैं, और जिनके अनुसार संघ सरकार को राज्यों के क्षेत्राधिकार (राज्य सूची) में हस्तक्षेप करना वैध है। यह अपवाद निम्नानुसार है।

(१) अनुच्छेद २४९ के अनुसार यदि राज्य सभा के दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पारित हो जाये कि राज्य सूची में अंकित किसी विषय का राष्ट्रीय महत्व

हो गया है तो सघ ससद को उक्त विषय पर कानून निर्माण करने का अधिकार प्राप्त हो जायेगा । इस प्रकार के प्रस्ताव की अवधि एक वर्ष से अधिक नहीं होगी परन्तु राज्य सभा द्वारा प्रस्ताव पारित करके प्रस्ताव की अवधि में एक वर्ष के लिए और वृद्धि की जा सकती है ।

(२) अनुच्छेद २५० (१) के अनुसार सघ ससद को जब देश म सकटकालीन स्थिति की घोषणा राष्ट्रपति के द्वारा की गई है, सम्पूर्ण देश के लिए कानून निर्माण करने का अधिकार प्राप्त है । सघीय ससद तीनो सूचियो म लिखित किसी भी विषय पर कानून बना सकती है । चूकि सकटकालीन स्थिति के दौरान सघीय ससद को समस्त विषयो पर कानून निर्माण करने के अधिकार प्राप्त होगे यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार का स्वरूप सघात्मक से एकात्मक म परिवर्तित हो जायेगा । राष्ट्रपति द्वारा सविधान के अनुच्छेद ३५२ के अन्तगत सकटकालीन स्थिति के घोषणा द्वारा सघ ससद राज्यो के लिए अनुच्छेद २५० के अनुसार विस्तृत शक्तियो को उपयोग मे ला सकती हैं जिसके परिणाम स्वरूप केन्द्रीय सरकार का स्वरूप सघीय सरकार से एकात्मक सरकार मे सकटकालीन घोषणा के कायवान तक परिवर्तित रहेगा क्योकि ऐसी परिस्थिति म सघीय ससद को सविधान म उल्लिखित तीनो व्यवस्थापन सबधी सूचियो (सघ राज्य एव समवर्ती) पर कानून बनाने का अधिकार रहेगा । अनुच्छेद ३५३ ३५५ के अनुसार सघ कायपालिका को राज्य की काय पालिकाओ को उनके कायपालिका सबधी शक्तियो को उपयोग म लाने क लिए निर्देश दिये जा सकते हैं ।

इस तरह सकटकालीन घोषणा के दौरान ससद किसी भी विषय पर कानून बना सकती है चाहे वह विषय सघ-सूची के अतिरिक्त अन्य दोनो सूचियो म क्यो न उल्लिखित हो ।

(३) सविधान के अनुच्छेद ३५६ के अन्तगत यदि किसी राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को यह सूचना दी जाती है कि राज्य का सवैधानिक यन सविधान के अनुसार नही चलाया जा सकता है राष्ट्रपति उक्त राज्य मे सकटकालीन घोषणा द्वारा राष्ट्रपति का शासन लागू कर सकता है । ऐसी परिस्थिति म राष्ट्रपति के सकटकालीन घोषणा के दूरगामी कानूनी प्रभाव होगे क्योकि सघ के द्वारा राज्य की समस्त कायपालिका सबधित शक्तियो का ग्रहण किया जा सकता है और यह घोषणा की जा सकती है कि राज्य की विधान सभा की शक्तियाँ ससद द्वारा या ससद के अधीनस्थ उपयोग मे लाई जा सकती हैं ।'[1]

---

१ सी० एलेक्जेन्डरोविकज—कान्सटीट्युशन डवलमेन्ट इन इण्डिया, १९५७, पृ० ६२ ।

१९५० में संविधान के लागू होने के पश्चात् समय-समय पर भारत के कई राज्यों में राष्ट्रपति शासन अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत लागू किया जा चुका है परन्तु कुछ राज्यों में राष्ट्रपति शासन की तीव्र आलोचना की गई है। राष्ट्रपति शासन लागू करने के औचित्य का प्रश्न विशेषकर उस परिस्थिति में उत्पन्न होता है जब यह एक ऐसे राज्य में स्थापित किया गया है जहाँ सत्तारूढ़ दल केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल से भिन्न है। प्राय. ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रपति शासन की आलोचना का कारण यह होता है कि केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकार को गिराने के लिए ही राष्ट्रपति शासन लागू किया है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की स्थिति तब ही पैदा हो सकती है, जब केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार विभिन्न राजनीतिक दलों के नियन्त्रण में हो। आलोचकों का यह तर्क है कि संविधान के अनुच्छेद १५५ एवं १५६ के अन्तर्गत राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति केन्द्रीय मन्त्रीमण्डल के सलाहानुसार करता है और अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत यदि राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को यह सूचना दी गई है, कि राज्य की शासन व्यवस्था भंग हो चुकी है और इसको संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है, राष्ट्रपति उस राज्य में संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर राष्ट्रपति शासन स्थापित कर सकता है और चूँकि राज्यपाल प्राय केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल से सबन्धित रहे हैं, राष्ट्रपति शासन को लागू करवाने में उन्होंने केन्द्रीय सरकार को अपना सहयोग दिया है। श्री नम्बूद्रीपाद ने कहा है कि "वह व्यक्ति जो जीवन पर्यन्त कांग्रेस में रहा है, चाहे कितना भी निष्पक्ष होने का प्रयत्न करे परन्तु राज्यपाल के रूप में उसे राजनीतिक दबावों को सहन करना ही होगा।"[1]

१९५७ के आम चुनाव में केरल में, साम्यवादी दल को सबसे अधिक मत प्राप्त हुए। कुछ निर्दलीय सदस्यों के सहयोग से विधान सभा में बहुतम प्राप्त कर साम्यवादी दल ने केरल सरकार की स्थापना की। जब कांग्रेस को साम्यवादी सरकार को गिराने में २८ महीने तक सफलता नहीं मिली, तब उसने केरल की साम्यवादी सरकार को गिराने के उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रत्यक्ष कार्यवाही को उपयोग में लाने का निश्चय किया। इस प्रत्यक्ष कार्यवाही से कांग्रेस का तात्पर्य राज्य के विद्यालयों, यात्री-परिवाहनों एवं दफ्तरों का घेराव करना था। अगस्त ११,१९५९ को केरल की सरकार के विरोधी दलों ने कांग्रेस के नतृत्व में सरकार के विरुद्ध आन्दोलन को और अधिक उग्र बनाने का निर्णय लिया। राज्य के गवर्नर डॉ० रामकृष्ण रामाराव ने आन्तरिक अशान्ति होने की संभावना को देखते हुए। राष्ट्रपति को एक प्रतिवेदन भेजा कि राज्य में आन्दोलन की स्थिति इस

1. ई० एम० एस० नम्बूद्रीपाद—हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, अगस्त २२, १९५९।

स्थिति तक पहुँच चुकी थी कि राज्य में शासन तन्त्र सरकार का सुचारु रूप से चलाना सम्भव नहीं है।

इस प्रतिवेदन को भेजने के पूर्व केरल के मुख्यमन्त्री श्री नम्बूद्रीपाद ने मध्यावधि चुनाव कराने से इन्कार कर दिया था क्योंकि उनका कथन था कि उनकी सरकार को विधान सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त था। केरल में राजनीतिक स्थिति विचित्र एवं जटिल हो गई थी क्योंकि जहाँ एक ओर राज्यपाल रामकृष्ण रामाराव ने राष्ट्रपति को यह प्रतिवेदन भेजा था कि राज्य की सरकार का संविधान के अनुसार चलाना असम्भव हो गया है तो दूसरी ओर केरल के मुख्यमन्त्री का कहना था कि उनकी सरकार को विधान सभा में बहुमत प्राप्त था और उनके त्यागपत्र देने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

इस दृष्टिकोण से यहाँ यह देखना आवश्यक है कि किन परिस्थितियों में राज्य के क्षेत्र में संघीय हस्तक्षेप उचित माना जा सकता है। संविधान के अन्तर्गत, राज्यों के क्षेत्र में संघीय हस्तक्षेप केवल निम्नलिखित दो परिस्थितियों में ही उचित माना जा सकता है।

(1) अनुच्छेद ३५२ के अनुसार जब राष्ट्र में गम्भीर संकट पैदा हो जाये, जिससे राष्ट्र की सुरक्षा पर आघात पहुँचने का डर रहता है तो राष्ट्र की सुरक्षा के दृष्टिकोण से देश में संकटकालीन स्थिति की अर्थात् आपत्कालीन घोषणा की जा सकती है। संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय जीवन में यह गम्भीर संकटकालीन स्थिति तब ही मानी जा सकती है, जब देश पर वाह्य आक्रमण हुआ हो या आन्तरिक अशान्ति पैदा हो गई है या यदि राष्ट्रपति के मतानुसार ऐसी स्थिति के पैदा होने की सम्भावना है तो भी राष्ट्रपति संकटकालीन स्थिति की उद्घोषणा कर सकता है।

उपर्युक्त स्थिति में संघ सरकार का हस्तक्षेप राज्यों के क्षेत्र में वैध माना जा सकता है।

(ii) संघ के किसी राज्य में संघीय हस्तक्षेप अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत तभी उपयुक्त तथा वैध माना जा सकता है जब राज्य का संवैधानिक शासन-तन्त्र समाप्त हो चुका है। राज्य सरकार के शासन-तन्त्र के समाप्त होने से यह तात्पर्य है कि राज्य सरकार का बहुमत उक्त राज्य की विधान सभा में समाप्त हो चुका है और राज्यपाल इस बात से सन्तुष्ट है कि अन्य किसी राजनीतिक दल या दलों द्वारा विधान सभा में बहुमत पर आधारित सरकार नहीं बनाई जा सकती है। इससे यह भी तात्पर्य है कि यदि राज्य की सरकार ने विधान सभा में बहुमत प्राप्त है परन्तु कुछ राजनीतिक दल निजी स्वार्थों के कारण अशान्ति या उपद्रव भड़काने का प्रयत्न करते हैं, तो संविधान के अनुच्छेद ३५५ के अनुसार संघ शासन का यह

कर्तव्य है कि राज्य सरकार की सुरक्षा करे, जो बहुमत पर आधारित है और जिसकी स्थापना सवैधानिक रूप से हुई है। सक्षेप मे, सघ सरकार का यह कर्तव्य है कि अनुच्छेद ३५५ के अनुसार प्रत्येक राज्य सरकार का जो बहुमत पर आधारित है, बाह्य आक्रमण एव आन्तरिक अशान्ति से रक्षा करे, न कि ऐसी राज्य सरकार को राष्ट्रपति शासन के माध्यम से बर्खास्त करे।

वस्तुत उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि राज्यो के क्षेत्रो मे राष्ट्रपति-शासन स्थापित करने के लिए केन्द्रीय हस्तक्षेप केवल दो ही परिस्थितियो मे उचित माना जा सकता है। इस दृष्टिकोण से यह कहने मे कोई अतिश्योक्ति नही होगी कि १९५९ मे जब राज्यपाल रामकृष्ण रामाराव ने केरल के सबध मे राष्ट्रपति को यह प्रतिवेदन भेजा कि राज्य सरकार का शासन तत्र टूट चुका है तो वह केरल की वास्तविक सवैधानिक स्थिति के अनुकूल नहीं था क्योकि मुख्यमत्री नम्बूद्रीपाद की सरकार को बर्खास्त किये जाने के समय तक राज्य विधान सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त था।

प्रत्येक राज्यपाल को पद ग्रहण करने के समय यह शपथ दी जाती है कि 'मैं अपनी पूरी योग्यता से सविधान एव कानून के अस्तित्व को बनाये रखूगा एव उनका सरक्षण करूँगा।'

इसी प्रकार की शपथ राष्ट्रपति को भी पद ग्रहण करने के पूर्व लेना आवश्यक है। अत यह स्पष्ट है कि राज्यपाल एव राष्ट्रपति दोनो का श्री नम्बूद्रीपाद के मत्रीमण्डल की रक्षा करना सवैधानिक कर्तव्य था। नि सदेह यह कहा जा सकता है कि श्री नम्बूद्रीपाद के मत्रीमण्डल को सवैधानिक कारणो के बजाय राजनैतिक कारणो से बरखास्त किया गया था।

भारत मे किसी भी राज्य मे, राष्ट्रपति शासन घोषित करने के लिए राज्यपाल की भूमिका का अत्यधिक महत्व है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, अत इस शका से बचना कठिन होगा कि राज्यपाल पर केन्द्रीय सरकार का प्रभाव नहीं होगा। स्वस्थ जनमत तथा जनतत्र के लिए यह अत्यावश्यक है कि राज्यपाल की शक्तियो पर इस सदर्भ म कुछ वैधानिक अवरोध हो। वास्तव म, यह सवैधानिक अवरोध को एक परम्परा के रूप मे मान्यता प्राप्त हुई है, जिसका निरन्तर पालन करना आवश्यक है। परम्परा यह है कि राज्यपाल की नियुक्ति राज्य की सरकार, जिसको राज्य विधान सभा मे बहुमत है, की सलाहानुसार किया जाय।

४—सघवाद के सिद्धान्त का एव अपवाद और सविधान के अनुच्छेद २५२ (१) मे उल्लिखित है, जिसके अनुसार यदि सघ के दो या दो से अधिक राज्यो की विधान सभाओ के लिए यह वाछनीय प्रतीत होता है कि ऐसे विषयो पर जिन पर

सिवाय अनुच्छेद २४९ एव २५० के अन्तर्गत सघ ससद को कानून निर्माण करने का अधिकार नही है, यह अधिकार उक्त राज्यो के सबंध मे सघ ससद को प्रदत्त किया जाये और यदि इस उद्देश्य के लिए उक्त राज्यो की विधान सभाओ मे प्रस्ताव पारित किये जाते हैं, तो सघ-ससद को ऐसे विषयो के सबध मे कानून निर्माण करने का अधिकार प्राप्त होगा। सरल रूप मे यह कहा जा सकता है कि अनुच्छेद २५२ (१) के अन्तर्गत दो या दो से अधिक राज्यो की विधान सभाओ द्वारा यह प्रस्ताव पारित किया जाता है कि राज्य सूची मे उल्लिखित किसी विषय पर सघ-ससद उन राज्यो के लिए कानून निर्माण करे तो सघ ससद राज्य सूची मे उक्त विषय पर कानून बना सकेगी।

५—अप्रत्यक्ष रूप से अनुच्छेद २५३ मे अन्तर्गत सघवाद का एव अन्य अपवाद देखा जा सकता है। उक्त अनुच्छेद के अन्तर्गत सघ सरकार को किसी देश के साथ की गयी सधि, समझौते या उपसधि और किसी अन्तर्राष्ट्रीय सभा, सस्था या अन्य सगठन द्वारा लिये गये निर्णय को कार्यान्वित कराने के लिए कानून निर्माण करने का अधिकार है। इस अनुच्छेद २५३ मे उपयोग मे लाये गये शब्द 'अन्य सगठन' अस्पष्ट है और इस स्पष्टता के कारण इनकी व्याख्या एव उपयोग सघ सरकार द्वारा किसी सीमित और राष्ट्रविरोधी उद्देश्यो के लिए किया जा सकता है। डा० जैनिग्ज का कहना है कि "अन्तर्महाविद्यालयीन मण्डल, जो एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन है, जिसमे बर्मा तथा लका के महाविद्यालयो के प्रतिनिधि हैं, के निर्णय के सरल माध्यम द्वारा महाविद्यालयीन शिक्षा पर सघ सरकार अपना क्षेत्राधिकार स्थापित कर सकती है। 'कामिनफार्म एव फोर्म इण्टरनेशनल' भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन हैं। इस अनुच्छेद मे कतिपय शब्दो के रखे जाने से यह राज्यो के अधिकारो का, चौकानेवाला अतिक्रमण है कि इसकी उपयुक्तता सदेहप्रद लगती है।"[1]

६—अनुच्छेद २५६ के अनुसार सघ सरकार को राज्यो के सबध मे कुछ प्रशासकीय शक्तियाँ भी प्रदत्त की गई है। इस अनुच्छेद के अनुसार सघ सरकार राज्यो पर अपना नियन्त्रण रखती है।

इस अनुच्छेद के अनुसार राज्यो की कार्यपालिका शक्तियो का उपयोग इस तरह से किया जाना चाहिये कि सघ ससद के कानूनो को मान्यता मिल सके और सघ की कार्यपालिका शक्तियो का उपयोग इस दृष्टिकोण से, राज्यो को निर्देशन देने के लिए किया जा सकता है। अनुच्छेद २५७ के अनुसार सघ के किसी भी राज्य की कार्यपालिका शक्ति का उपयोग इस तरह से करना चाहिये कि जिससे

---

१. आई० जैनिग्ज—'सम केरेक्टरस्टिक्स आफ दी कान्स्टीट्युशन आफ इण्डिया, १९५२ पृ० ६६।

(ii) उन सिद्धान्तों का निर्धारण करने के सम्बन्ध में, जिनके आधार पर संघ सरकार राज्यों को अनुदान देगी।

(iii) संघ तथा किसी राज्य के मध्य किये गये किसी वित्तीय समझौते को कायम रखने या उसमें परिवर्तन करने के सम्बन्ध में।

(iv) राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित कोई भी विषय जो वित्त की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

(ग) अनुच्छेद ३६० के अनुसार राष्ट्रपति को वित्त संबंधी संकटकालीन स्थिति के लिए कुछ विशेष शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं। यदि राष्ट्रपति आश्वस्त हो जाता है कि राष्ट्र में परिस्थिति इस प्रकार की हो गई है कि जिससे भारत या भारत के किसी हिस्से की वित्तीय व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव पहुँचा है, वह भारत में वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की संकटकालीन स्थिति में संघ की कार्यपालिका शक्ति का उपयोग राज्यों को वित्तीय व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए निर्देश दिये जाने के लिए किया जा सकता है, जिनके अन्तर्गत राज्यों के कर्मचारियों के वेतन तथा भत्तों में कमी की जा सकती है। राष्ट्रपति राज्यों को यह निर्देशन भी दे सकता है कि राज्य विधान सभाओं से पारित वित्त विधेयक उसके (राष्ट्रपति) विचार के लिए भेजे जायें। वित्तीय संकटकालीन परिस्थिति के सबंध में श्री हृदयनाथ कुंजरू ने कहा था कि वित्तीय संकट संबंधी प्रावधान से राज्यों की स्वायत्तता को एक गंभीर खतरा है।

तृतीय—राज्यों की स्वायत्तता को एक अन्य कारण से भी हानि पहुँचने की संभावना है। राष्ट्रीय योजना आयोग की कार्यप्रणाली के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि इससे भी भारत में केन्द्रीयकरण की भावना तथा एकात्मक प्रवृत्तियों को शक्तिशाली होने में सहयोग मिला है। राष्ट्रीय योजना आयोग की स्थापना १९५० में हुई, जिसका उद्देश्य विभिन्न प्रकार के राष्ट्रीय साधनों का संतुलित उपयोग करते हुए राष्ट्र का विकास करना है। राष्ट्रीय योजना आयोग की भूमिका जो सामने उभर कर आई है उसका वर्णन श्री सन्थानम ने निम्नलिखित शब्दों में किया है, और जिससे यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि राज्यों को किस हद तक केन्द्रीय सरकार पर अपनी विकास योजनाओं को सफल बनाने के लिए निर्भर रहना पड़ता है। उनका कहना है—"कुछ समय पूर्व राज्य सभा में एक केन्द्रीय मंत्री के इस वक्तव्य को सुनकर मैं आश्चर्य-चकित हो गया कि यदि राष्ट्रीय योजना आयोग किसी योजना को स्वीकृत कर लेता है तो वह भी उक्त योजना को स्वीकृत कर लेंगे। योजना आयोग का संविधान में उल्लेख नहीं है और न ही इसकी स्थापना किसी संसदीय कानून से हुई है। तब भी इसे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की सारी योजनाओं को प्रारम्भ करने के लिए, निर्णय देने की शक्ति है। योजनाओं को वित्तीय अनुदान देने या न देने से कार्यान्वित किया या नहीं किया जा सकता

है। नि संदेह, राज्य सरकार किसी भी योजना को बगैर योजना आयोग के प्रेषित किये, आरम्भ कर सकती है, यदि वह केन्द्रीय सहायता के न प्राप्त होने के, न केवल उसी योजना के लिए, परन्तु अन्य योजनाओं के लिए भी, परिणामों का सामना करने को तैयार है।"[1]

चतुर्थ—संविधान के अन्तर्गत कुछ अतिरिक्त तत्व विद्यमान हैं, जिनसे भारतीय संघीय व्यवस्था में एकात्मक प्रवृत्तियों के दृढ़ होने में सहायता पहुँचती है।

उदाहरण स्वरूप (क) भारत में अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों की नियुक्तियाँ संघीय लोक सेवा आयोग के सुझावानुसार, गृहमंत्रालय को करने का अधिकार है। इन अधिकारियों की नियुक्ति, अखिल भारतीय स्तर पर होती है। इस विशेषता के कारण सम्पूर्ण भारत में, प्रशासन के क्षेत्र में समानता तथा एकता पाई जाती है, जिससे फलस्वरूप केन्द्रीय शासन को दृढ़ता प्राप्त होती है।

(ख) भारतीय न्यायपालिका का संगठन एवं कार्यों का निर्धारण संविधान के अन्तर्गत एक त्रिकोणात्मक आधार पर किया गया है, जिसके आधार पर इस त्रिकोण के शिखर पर भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद १२४ के द्वारा मान्यता दी गई है। संघ के प्रत्येक राज्य में संविधान के अनुच्छेद २१४ के अनुसार उच्च न्यायालय की राज्य में स्थापना की गई है। संविधान के अनुच्छेद १३२, १३३ व १३४ के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को राज्य के उच्च न्यायालय के आदेश या निर्णय से संवैधानिक दिवानी तथा फौजदारी मामलों में अपील की जा सकती है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि भारतीय न्यायपालिका के संगठन तथा कार्यों के दृष्टिकोण से, न्यायिक क्षेत्र में एकरूपता स्थापित की गई है।

(ग) भारत के संविधान में केवल एक नागरिकता (भारतीय नागरिकता) का प्रावधान किया गया है। निस्संदेह इस प्रावधान का उद्देश्य भारत की संघात्मक प्रणाली में, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण भारत के प्रति नागरिकों की आस्था को शक्तिशाली बनाते हुए एकात्मक प्रवृत्ति के आधारों को शक्तिशाली करना है। अमरीका में इसके विपरीत दो प्रकार की नागरिकता प्रदत्त हैं (एक संघ की नागरिकता तथा दूसरी संघ के उस राज्य की नागरिकता जहाँ पर व्यक्ति निवास करता है)।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संघ व्यवस्था में एकात्मक प्रवृत्तियाँ अत्यन्त शक्तिशाली हैं, परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि इन एकात्मक प्रवृत्तियों द्वारा भारतीय संघ व्यवस्था का संघीय स्वरूप लुप्त हो गया है, गलत होगा। वास्तव में भारतीय संविधान के अन्तर्गत एक संघ राज्य की स्थापना की गई है, जिसमें संघीय सरकार अत्यन्त शक्तिशाली है।

१. के० सन्थानम—यूनियन स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया, १९६४ पृ० २०।

संघीय कार्यपालिका

पूर्व अध्यायो के अध्ययन से यह ज्ञात हो चुका है कि भारत के सविधान के अनुच्छेद ५३ (१), ७४ (१) तथा ७५ (३) भारतीय ससदीय प्रणाली के मूल आधार हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय भारतीय नेताओ का उद्देश्य ब्रिटिश राज्य से स्वतत्रता प्राप्तकर भारत मे ससदात्मक प्रणाली स्थापित करना था। लोक सभा मे इस विषय पर १९५७ मे प० नेहरू न कहा था—"हमने इस ससदात्मक प्रणाली को सोच समझकर चुना है। हमने यह प्रणाली केवल इस लिए नही चुनी है कि पूर्व म हम प्राय इस विषय पर विचार करते रहे, परन्तु हमने यह सोचा कि यह हमारी प्राचीन परम्पराओ के अनुकूल है । हमने इसे चुना—जहाँ पर हमे श्रेय देना है, हम देना चाहिये—क्योकि हम इसकी कार्य प्रणाली से, जैसी दूसरे देशो मे, विशेषकर ब्रिटेन मे है, सहमत थे।"[1]

इसी के फलस्वरूप, भारत की ससदीय प्रणाली म सघीय कार्यपालिका के दो भाग हैं। (क) भारत का राष्ट्रपति-राष्ट्राध्यक्ष, और (ख) सघीय मत्री परिषद —एक उत्तरदायी मत्री मण्डल के रूप मे, जिसका सामूहिक उत्तरदायित्व अपनी नीतियो तथा कार्यों के लिए ससद के निचले सदन के प्रति है। भारत मे कार्यपालिका की शक्ति पर सबसे महत्वपूर्ण अवरोध भारतीय ससदीय प्रणाली के अन्तर्गत मत्री मण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है। इस अवरोध की विशेषकर अभिव्यक्ति कार्यपालिका एव व्यवस्थापिका (ससद) के सम्बन्धो मे प्रदर्शित होती है। यहाँ पर इस विषय को ध्यान म रखना अति आवश्यक है कि सघीय कार्यपालिका के दोनो हिस्सो (राष्ट्रपति व मत्रीपरिषद) के सम्बन्ध, सविधान की चार दीवारो मे, विभिन्न सवैधानिक प्रावधानो और अभिसमयो द्वारा निर्धारित तथा नियन्त्रित किये जाते हैं।

सघीय कार्यपालिका का अध्ययन निम्नलिखित तीन आधारो पर किया जा सकता है।

---

१. प० नेहरू-जवाहरलाल नेहरूज स्पीचेज खड ३, अगस्त १९५७, पबलिकेशन्स डिविजन मिनिस्ट्री आफ इन्फारमेशन एड ब्राडकास्टींग।

१—राष्ट्रपति एवं मंत्री परिषद की स्थिति तथा सम्बन्ध।
२—संघीय कार्यपालिका (राष्ट्रपति तथा मंत्री मण्डल) की शक्तियाँ।
३—मंत्रियों के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ५२ के अनुसार भारत में राष्ट्रपति का पद स्थापित किया गया है और अनुच्छेद ५४ के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से, एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होगा, जिसमे दो प्रकार के सदस्य होते हैं, (क) संघ के विभिन्न राज्यों के विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य, और (ख) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य। इस निर्वाचक मण्डल के सदस्यों को समान संख्या में मत प्राप्त नहीं हैं। यहाँ मतदान का सिद्धान्त 'एक व्यक्ति एक मत' का नहीं है, परन्तु यह है कि प्रत्येक मतदाता को उस अनुपात में मत प्राप्त हो, जिसमे कि वह एक विशिष्ट जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है।

चूंकि राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के दो प्रकार के सदस्य हैं अतः राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये इन दोनों प्रकार के सदस्यों में से प्रत्येक सदस्य को राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए कितने मत प्राप्त हैं, यह ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित दो सूत्रों को, संविधान के अन्तर्गत मान्यता दी गई है।[1]

(क) राज्य विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या =

$$\frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{राज्य विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या}} \div १०००$$

(ख) संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या =

$$\frac{\text{समस्त राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों को प्रदत्त मतों की संख्या}}{\text{संसद के सारे निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} \div$$

राष्ट्रपति का निर्वाचन, जैसा संविधान में उल्लिखित है, अनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के अनुसार गुप्त मतदान द्वारा किया जाता है।[2]

राष्ट्रपति के निर्वाचन सम्बन्धी नतीजों को मालूम करने के लिए निम्नलिखित आवश्यकताएँ हैं। सर्वप्रथम, सही मतों को प्रथम विकल्पों के आधार पर अलग-अलग करना और प्रत्येक प्रत्याशी के प्रथम वरीयता (विकल्प) के मतों की गणना करना।

---

१. भारतीय संविधान अनुच्छेद ५५।
२ भारतीय संविधान—अनुच्छेद ७१-७३।

द्वितीय, यह निर्धारित करना कि निर्वाचित होने की न्यूनतम मत सख्या क्या है ? इस न्यूनतम मत सख्या को निम्नलिखित सूत्र के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ जहाँ यदि सही मतो की सख्या २०,००० है तो निर्वाचन के लिए कोटा $\frac{२०,०००}{२}$ + १ के बराबर होगा। इसका अर्थ यह है कि किसी भी प्रत्याशी को १० ००१ मता के प्राप्त होने पर निर्वाचित घोषित किया जायेगा।

यह विदित रहे कि यदि केवल दो प्रत्याशी राष्ट्रपति पद के लिये हैं तो उपर्युक्त सूत्रानुसार, दोनों मे से किसी एक को न्यूनतम मत सख्या के रूप में बहुमत प्राप्त हो सकता है। परन्तु यदि प्रत्याशियो की सख्या दो से अधिक है तो यह समव हो सकता है कि उनमें से किसी को न्यूनतम कोटा न प्राप्त हो। उदाहरणार्थ, यदि चार प्रत्याशी हैं, मतो का विभाजन निम्नलिखित रूप से हो सकता है —

अ–	७,०००	मतो की पूरी सख्या २०,०००
ब–	६,४००	
स–	३,६००	
द–	३,०००	

यहाँ पर किसी भी प्रत्याशी को न्यूनतम मत सख्या या १०,००१ मत प्राप्त नही हुए हैं। ऐसी स्थिति मे जिस प्रत्याशी को सबसे कम मत प्राप्त हुए हैं, उसके मत उन पर उल्लिखित दूसरी वरीयता के आधार पर शेष प्रत्याशियो को हस्तातरित किये जायेंगे।

यदि मान लिया जाये कि दूसरी वरीयता के आधार पर यदि अ को ३००, ब–को २,६०० और स–को १०० मत, द–के ३,००० मतो मे से दूसरी वरीयता के अनुसार दिये गये हैं तो निम्नलिखित स्थिति हो जायेगी —

अ–	७,०००	+	३००	=	७,३००
ब–	६,४००	+	२,६००	=	९,०००
स–	३,६००	+	१००	=	३,७००

परन्तु अब भी किसी को न्यूनतम कोटा प्राप्त नही हुआ है, इसलिए पुन स के मत, क्योंकि इसको सबसे कम मत प्राप्त हुए है, अगली वरीयता के अनुसार, शेष प्रत्याशियो को हस्तातरित कर दिये जायेंगे। यदि स के ३,७०० मतो मे से २,४०० अ– को, और १,३०० ब– को अगली वरीयता के अनुसार हस्तांतरित कर दिये जाते है तो स्थिति निम्नलिखित होगी —

अ–	७,०००	+	३,००	+	२,४००	=	९,७००
ब–	६,४००	+	२,६००	+	१,३००	=	१० ३००
स–	हस्तातरित						
द–	हस्तातरित						

यहां द को स्पष्ट रूप से, निर्वाचन कोटा (१०,००१) से अधिक मत प्राप्त होने से उसका निर्वाचित घोषित कर दिया जायेगा, क्योंकि अ—को उक्त कोटे से कम मत प्राप्त हुए हैं।

डा० एम० पी० शर्मा ने इस निर्वाचन पद्धति की दो कठिनाइयों पर प्रकाश डाला है।[1]

सर्वप्रथम, पराजित प्रत्याशी को हटाने की प्रक्रिया में कभी ऐसा होना सम्भव है कि सबसे कम मत प्राप्त किये दो प्रत्याशी ऐसे हो, जिनके मतों की संख्या समान हो। ऐसी स्थिति म इन दोनों में से उस प्रत्याशी को पराजित घोषित किया जायगा, जिसे प्रथम वरीयता में सबसे कम मत मिले हों। यदि इन दोनों प्रत्याशियों को प्रथम वरीयता के भी समान मत मिले हों, तो इसका निर्णय लाट (चिट) डालकर किया जायेगा।

द्वितीय, यदि कुछ मत पत्रों म द्वितीय, तृतीय या अगली वरीयता का उल्लेख नहीं है, तो ऐसी स्थिति म शेष प्रत्याशियों को, मतों का हस्तान्तरण असंभव हो जायगा। जिन मत पत्रों पर द्वितीय, तृतीय या अगली वरीयता का उल्लेख नहीं किया गया है, उनको समाप्त माना जायेगा।

संविधान के अनुच्छेद ५८ के अनुसार किसी भी व्यक्ति को राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित तब तक ही किया जायेगा यदि (क) वह भारत का नागरिक हो, (ख) ३५ वर्ष की उम्र हो, (ग) जो लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो, और (घ) जो भारत सरकार या राज्य सरकार या किसी स्थानीय अधिकारी के अधीन किसी वैतनिक पद पर नियुक्त न हो। परन्तु कुछ पद ऐसे हैं जिन पर यह प्रतिबन्ध लागू नहीं होता है, जैसे उपराष्ट्रपति, राज्यपाल, केन्द्रीय एव राज्य सरकारों के मन्त्रियो के पद। राष्ट्रपति का कार्यकाल पांच साल का होता है।[2] यदि राष्ट्रपति का पद, राष्ट्रपति की मृत्यु, त्यागपत्र या महाभियोग द्वारा रिक्त हो जाता है तो अनुच्छेद ६२ (२) के अनुसार ६ महीने मे राष्ट्रपति का चुनाव हो जाना चाहिये। नये राष्ट्रपति के निर्वाचित होने तक उपराष्ट्रपति ही राष्ट्रपति क कार्य का करेगा। राष्ट्रपति का वेतन प्रतिमाह १०,००० रु० है। ससद को उसके वेतन, भत्तो तथा विशेषाधिकार के सबंध में निर्णय लेने का अधिकार है। अवकाश प्राप्ति के पश्चात् उसको प्रतिवर्ष १५,००० रु० पेन्शन एव १२,००० रु० भत्ते के रूप में मिलता है। अपने पद को ग्रहण करने के पूर्व राष्ट्-

---

१. एम० पी० शर्मा—'द गवर्नमेण्ट आफ द इण्डियन रिपब्लिक,' १९६१ पृ० १०८।

२ भारतीय संविधान—अनुच्छेद ५६ (१)

पति को यह शपथ ग्रहण करना आवश्यक है, "मैं श्रद्धापूर्वक
का पालन करूँगा तथा अपनी पूर्ण योग्यता से सविधान तथा
एव प्रतिरक्षण करूँगा तथा मैं भारत की जनता की सेवा तथा कल्याण
रहूँगा ।"[1]

इस दृष्टिकोण से, यदि राष्ट्रपति सविधान का उल्लघन करता है तो उस पर महाभियोग लगाकर उसे पदच्युत किया जा सकता है ।[2] ससद के किसी भी सदन में महाभियोग प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु ऐसे प्रस्ताव पर उक्त सदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहियें । इस प्रकार के प्रस्ताव को सदन के दो तिहाई के बहुमत से पारित होने पर महाभियोग की शर्तें पूरी मानी जाती है । इस प्रस्ताव के लिए लिखित नोटिस कम से कम चौदह दिनों के पूर्व दिया जाना चाहिये । यदि यह प्रस्ताव सदन के दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाता है तो इसका अर्थ है कि राष्ट्रपति पर अभियोग लगा दिया गया है और दूसरा सदन इन आरोपों की जाच करेगा । राष्ट्रपति स्वय सदन में उपस्थित होकर या अपने प्रतिनिधि द्वारा इस प्रक्रिया में हिस्सा ले सकता है । यदि दूसरे सदन में दो तिहाई बहुमत द्वारा राष्ट्रपति पर लगाये गये आरोप सिद्ध हो जाते हैं तो महाभियोग का प्रस्ताव सिद्ध माना जायेगा, और फलस्वरूप, राष्ट्रपति प्रस्ताव स्वीकृत होने की तिथि से पदच्युत हो जायेगा ।

राष्ट्रपति की सवैधानिक स्थिति और मत्री मण्डल से उसका सबध

सघीय कार्यपालिका की शक्तियाँ भारतीय सविधान के अनुच्छेद ५३ (१) के अनुसार राष्ट्रपति में निहित है । अनुच्छेद ७४ (१) के अनुसार एक मत्री मण्डल की स्थापना राष्ट्रपति को उसके कार्यपालिका संबंधी कार्यों में सहायता तथा सलाह देने के लिए की जायेगी । मत्री मण्डल का अध्यक्ष प्रधान मत्री होगा । परन्तु, भारत में ससदात्मक प्रणाली का मूल सिद्धान्त, सविधान के अनुच्छेद ७५ (३) में निहित है । इस सिद्धान्त के अनुसार मत्री मण्डल सामूहिक रूप से ससद के निचले सदन, लोकसभा, के प्रति उत्तरदायी है—जो ससद का प्रतिनिधि सदन है क्योंकि इसका निर्वाचन सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त के अनुसार होता है । राष्ट्रपति तथा मत्री मण्डल के सबधो की वस्तु स्थिति को ज्ञात करने के लिए अनुच्छेद ७५ (३) में निहित सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की भूमिका

---

१. भारतीय सविधान—अनुच्छेद ६०,
२. वही —अनुच्छेद ६१,

एवं महत्व को समझना अति आवश्यक है। सरकार की नीतियों तथा कार्यों के दृष्टिकोण से, मंत्री मण्डल प्रत्यक्षरूप से लोकसभा और अप्रत्यक्षरूप से या अंतिम रूप से मतदातागण के प्रति उत्तरदायी है। चूंकि संविधान मे स्पष्ट रूप से सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है, इसका केवल यह अर्थ ही नही है कि मंत्रीमण्डल को ससद (लोकसभा) में बहुमत की इच्छानुसार सरकार की नीतियो एवं कार्यों को चलाने का कर्तव्य है, परन्तु यह भी अधिकार है कि सरकार की नीतियो एवं कार्यों को अपने सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुसार उपयोग मे लाने के लिए इस सिद्धान्त की कार्य-प्रणाली में किसी का हस्तक्षेप तब तक न होने दे, जब तक उसे बहुमत प्राप्त है, अन्यथा संसदीय सरकार का कोई मूल्य ही नही रहेगा, क्योंकि वास्तव मे संसदीय सरकार की आत्मा सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है। यदि इस सिद्धान्त को नष्ट किया जाता है तो संसदीय पद्धति नष्ट हो जायेगी। साधारण परिस्थितियों में, जब मन्त्रीमण्डल को लोकसभा के बहुमत प्राप्त हैं राष्ट्रपति केवल नाम मात्र ध्वज मात्र का कार्यपालिका के रूप मे मंत्रीमण्डल कीसलाह के अनुसार कार्य करेगा, क्योंकि यदि राष्ट्रपति इसके विपरीत कार्य करता है तो मन्त्रीमण्डल के समक्ष सिवाय अपने स्तीफे देने के कोई विकल्प नहो रहेगा। यदि आम चुनाव मे पुनः पुराने मंत्रीमण्डल को बहुमत प्राप्त हो जाता है तो राष्ट्रपति को मन्त्रीमण्डल की सलाह मानने के लिए बाध्य होना होगा। सघीय मंत्रीमण्डल के लोकसभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व को संविधान द्वारा मान्यता देने का कोई अर्थ ही नहीं रहता, यदि मंत्रीमण्डल को लोक सभा मे बहुमत रहते हुए, सरकार के नीतियो एवं कार्यों के लिए अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार नही दिया जाता। सविधान निर्माताओं की आकांक्षाओं को सही रूप से मालूम करने के लिए, संविधान के अनुच्छेद ७८ उपबन्ध (अ) एव (स) जिनसे, मंत्रीमण्डल के निर्णय लेने के अधिकार पर प्रकाश डाला गया है, ध्यान में लेना आवश्यक है। अनुच्छेद ७८ (अ) के अनुसार प्रधान मंत्री के द्वारा राष्ट्रपति को मंत्री मण्डल के लिए गये सारे निर्णयों से अवगत कराना आवश्यक है। अनुच्छेद ७८ (स) के अनुसार यदि राष्ट्रपति यह चाहता है कि प्रधान मंत्री किसी मुद्दे को जिस पर केवल एक मंत्री द्वारा निर्णय लिया गया है, परन्तु जिस पर मंत्रीमण्डल द्वारा विचार-विमर्श नही किया गया है, सारे मंत्री-मण्डल के विचार के लिए प्रस्तुत करे, प्रधान मंत्री का यह कर्तव्य होगा कि उक्त मुद्दे को मंत्री मण्डल के समक्ष रखे। संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद ७८ उपबन्ध (अ) एवं (स) दोनों में 'निर्णय' शब्द का उपयोग किया है, जो इस बात का द्योतक है कि 'निर्णय' लेने का अधिकार मंत्रीमण्डल को ही सौंपा गया है। पं० नेहरू ने कहा है कि "हमारे संविधान द्वारा राष्ट्रपति को इंगलैंड के राजा या रानी के समान रखा गया है। यदि ऐसा नहीं हो, तो मंत्रीमण्डल

और संसद के उत्तरदायित्व के सारे प्रश्न पर आघात पहुँचेगा। संसद सार्वभौम है।"[1]

संविधान के प्रमुख निर्माता डा० अम्बेदकर ने इसी पक्ष पर बल देते हुए संविधान सभा में चार नवम्बर १९४८ को यह कहा— राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो, राजा की ब्रिटिश संविधान में है। वह राज्य का, न कि कार्यपालिका का अध्यक्ष है। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है न कि शासन करता है। वह राष्ट्र का प्रतीक है। शासन में उसका स्थान उस यन्त्र के मोहर के समान है जिससे राष्ट्र के निर्णय प्रदर्शित होते है।"[2]

अपने भाषण में डा० राजेन्द्र प्रसाद ने २६ नवम्बर, १९४९ को संविधान सभा में कहा—"स्वयं संविधान में ऐसे प्रावधान नहीं है जो राष्ट्रपति को मन्त्री-मण्डल की सलाह मानने के लिए बाध्य करते है, परन्तु यह मान्य है कि ब्रिटिश संविधान की यह परम्परा है कि राजा प्राय मन्त्री मण्डल के सलाह के अनुसार ही कार्य करता है, इस देश में भी स्थापित की जायेगी, और राष्ट्रपति सब मामलों में संवैधानिक राष्ट्रपति (अध्यक्ष) ही रहेगा।"[3]

इस दृष्टिकोण से यह कहना उचित है कि यदि भारत के राष्ट्रपति के पद के संवैधानिक स्वरूप को सही रूप से समझना है, तो यह आवश्यक है इस मामले को भारतीय संसदीय प्रणाली के मूल सिद्धान्त—मन्त्रीमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के संदर्भ में ही समझा जाना चाहिये। यदि राष्ट्रपति के पद के संवैधानिक स्वरूप की व्याख्या, इस तथ्य से पृथक् रहकर की जाती है कि संविधान द्वारा संसदात्मक प्रणाली स्थापित की गई है, तो राष्ट्रपति के पद के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में सही ज्ञान प्राप्त न हो सकेगा। अनुच्छेद ७४ (१) की कठोर तथा संकीर्ण व्याख्या करने से यह गलती हो सकती है कि संविधान द्वारा स्थापित संसदात्मक प्रणाली को ध्यान में न रखा जाये, और राष्ट्रपति की स्थिति तथा शक्तियों की केवल अपूर्ण या एक तरफी जानकारी प्राप्त हो। यह सत्य है कि राष्ट्रपति के लिए मन्त्री मण्डल की सलाह मानने के लिए संविधान में लिखित कोई बाध्यकारी प्रावधान नहीं है, जिसके अनुसार राष्ट्रपति को मन्त्रीमण्डल की सलाह मानना कानूनी दृष्टिकोण से आवश्यक होगा। जैसे प्रो० डी० एन० बैनर्जी का कहना है—"मुख्य विषय है कि राष्ट्रपति कानूनन अनुच्छेद ७४ (१) के अन्तर्गत अपने मन्त्रीमण्डल की सलाह, सारी परिस्थितियों में, स्वीकृत करने के लिए बाध्य है

१ पं० नेहरू—हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, ८ जुलाई १९५९।

२ बी० आर० अम्बेदकर—कान्स्टीट्युअनट असेम्बली डिबेट्स भाग ७ पृ० ३२।

३ डा० राजेन्द्र प्रसाद—कान्स्टीट्येन्ट असेम्बली डिबेट्स भाग १०, पृ० ९८८।

मंत्रीमण्डल की उत्पत्ति, संगठन, तथा कार्य प्रणाली, अमरीकी प्रतिनिधि सदन के स्पीकर (अध्यक्ष) की शक्तियों का विकास और राष्ट्रपति के निर्वाचन प्रणाली का अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में, परम्परागत परिवर्तन। भारत में भी संविधान के अन्तर्गत परम्पराओं के विकसित होने के दृष्टिकोण से कोई कठिनाई दृष्टिगोचर नहीं होती है। डा० राजेन्द्र प्रसाद, डा० राधाकृष्णन्, डा० जाकिर हुसैन और श्री वाराह गिरी वेंकट गिरी, जो वर्तमान राष्ट्रपति हैं सभी ने इस परम्परा को विकसित और पुष्ट किया है कि यदि मंत्रीमण्डल को लोकसभा में बहुमत प्राप्त है तो राष्ट्रपति मंत्रीमण्डल के परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।

पं० नेहरू ने संविधान सभा में कहा था कि संविधान निर्माताओं का उद्देश्य राष्ट्रपति को वास्तविक शक्ति नहीं देना था, परन्तु उसकी स्थिति को प्रतिष्ठापूर्ण बनाना था।[1]

कैनेडा के संविधान के अनुसार गवर्नर जनरल को कुछ शक्तियाँ स्व-विवेकानुसार उपयोग में लाने के लिए प्रदत्त हैं और अन्य शक्तियाँ वह मंत्रियों के परामर्श पर उपयोग में लाता है, परन्तु वास्तव में कैनेडा में एक परम्परा की स्थापना हो गई है, जिसके अन्तर्गत गवर्नर-जनरल सारे मामलों पर—उन मामलों पर भी जो उसके स्वविवेक के दायरे में है, मंत्रीमण्डल की सलाह अनुसार अपनी शक्तियों का उपयोग करता है। इंग्लैण्ड में ब्रिटिश राजा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से निरंकुश हैं, कई पर शताब्दियों से, कुछ विशिष्ट परम्पराओं के आधार पर उसने निरंकुश शक्तियों को त्याग कर मंत्रीमण्डल की सलाह अनुसार ही कार्य किये हैं। मुख्यत. ब्रिटिश संविधान की परम्पराओं से ही ब्रिटिश राजतंत्र का संवैधानिक परिवर्तन सीमित या संवैधानिक राजतंत्र में हो गया है, जिसके फलस्वरूप, वहाँ राजतंत्र के हानिकारक प्रभावों को दूर करके इसको आधुनिक युग में ब्रिटिश संसदात्मक प्रणाली में उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इसी तरह भारत में राष्ट्रपति तथा मंत्रीमण्डल के संबंधों के लिए भी विशिष्ट संवैधानिक प्रावधान के अभाव में, यह परम्परा स्थापित हो गई है कि यदि मंत्रीमण्डल को संसद के निचले सदन का बहुमत प्राप्त है, तो राष्ट्रपति को मंत्रीमण्डल के परामर्श के अनुसार ही अपनी शक्तियों का प्रयोग करना चाहिये।

तृतीय, संविधान में विशिष्ट बाध्यकारी प्रावधान, जिसके होने से राष्ट्रपति को मंत्रीमण्डल की सलाह के अनुसार समस्त परिस्थितियों में कार्य करना होगा, कदाचित् इसलिए नहीं रखा गया कि यदि किसी परिस्थिति में राष्ट्रपति को स्वतंत्रतापूर्वक कार्यवाही करने की आवश्यकता हुई तो वह संविधान के अनुकूल ही हो। संक्षेप में राष्ट्रपति के राष्ट्र के हित में स्वतंत्रतापूर्वक कार्यवाही करने के लिए संवि-

---

१ पं० नेहरू—'कान्स्टीटुएण्ट असेम्बली डिबेट्स भाग ४ पृ० ७३४।

-धान निर्माताओं ने किसी संवैधानिक रुकावट को संविधान में नहीं रखा। परन्तु ऐसी परिस्थितियाँ बहुत कम होगी और राष्ट्रपति को ऐसी परिस्थिति में इस बात से आश्वासित होना चाहिये कि संसद एवं राष्ट्र दोनों उसके साथ हैं, और जिसको ज्ञात करने के लिये तत्काल आम चुनाव करवाना आवश्यक होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे संविधान निर्माता इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं थे कि हमारी संघात्मक प्रणाली के स्वरूप के कारण कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जहाँ राष्ट्रपति के लिए मंत्रीमण्डल को सलाह न मानना आवश्यक हो। ऐसी परिस्थिति की कल्पना करना कठिन नहीं है, जहाँ संघीय मंत्रीमण्डल का मत किसी राज्य की संवैधानिक यंत्र के समाप्त होने के कारण राजनीतिक हो, और जिसके आधार पर वह ऐसा निर्णय ले जो उसके राजनीतिक हित में हो, पर राष्ट्र के हित में न हो। ऐसे मामले में राष्ट्रपति का भारत संघ के अध्यक्ष के रूप में यह कर्तव्य हो जाता है कि वह यह देखे कि राज्यों के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार किया जाये और केन्द्रीय सरकार का निर्णय, ऐसे मामले के संबंध में राजनीतिक प्रसंग में न लिया जाये। कुछ ऐसी परिस्थितियों के दृष्टिकोण से ही संविधान में कोई बाध्यकारी प्रावधान नहीं रखा गया, जिससे राष्ट्रपति को सदा मंत्रीमण्डल की सलाह के अनुसार चलना होगा। परन्तु यह निश्चित है कि इस तरह के मौके बहुत कम ही होंगे। साधारणतया राष्ट्रपति मंत्रीमण्डल की सलाह के अनुसार ही अपने कार्य करेगा। इस विषय के संदर्भ में प्रिंसिपल टोपे ने कहा है—'यह संभावना समाप्त नहीं की जा सकती है कि राष्ट्रपति संविधान के अन्तर्गत अत्यन्त शक्तिशाली बन सके, न ही कि राष्ट्रपति निरंकुश हो सके। लोक सभा के प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात् भंग करने का प्रावधान, राष्ट्रपति पर संसद द्वारा महाभियोग लगाने का प्रावधान, मंत्रीमण्डल का लोकसभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के लिए प्रावधान, इन सारे प्रावधानों से यह निष्कर्ष—निकाला जा सकता है कि राष्ट्रपति कठिनता से ही निरंकुश हो सकेगा। इस तरह भारत के संविधान में राष्ट्रपति के निरंकुश न होने हेतु न तो उसे अधिक शक्तिशाली बनाया है न ही, प्रधान मंत्री एवं मंत्रीमण्डल को देश का प्रशासन उनके राजनीतिक दल के हितों में न चलाने देने के लिए राष्ट्रपति को कमजोर बनाया है।"[१]

राष्ट्रपति एवं संघीय मंत्रीमण्डल के संबंधों के दृष्टिकोण से, अन्त में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के राय साहब 'राम जवाया कपूर और अन्य बनाम पंजाब राज्य' के प्रकरण में दिए गए निर्णय को प्रस्तुत किया जा सकता है, 'भारत में इंग्लैण्ड के तुल्य कार्यपालिका को अपने कार्य, व्यवस्थापिका के नियन्त्रण में रहकर करना है। हमारे संविधान के अनुच्छेद ५३ (१) के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्तियाँ

१ टी० के० टोपे—द कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया, १९६३ पृ० २४१।

राष्ट्रपति में निहित हैं, परन्तु अनुच्छेद ७५ के अन्तर्गत (इसको अनुच्छेद ७४ (१) के साथ पढा जाना चाहिये) एक मत्रीमण्डल, जिसका अध्यक्ष प्रधानमत्री होगा, राष्ट्रपति को सहायता तथा सलाह देने के लिए होना चाहिए। राष्ट्रपति इस तरह कार्यपालिका का औपचारिक या सवैधानिक अध्यक्ष है, वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ मत्रीमण्डल या मत्री परिषद में निहित हैं। इसलिए भारत में सविधान मे इगलैंड के समान ससदात्मक कार्यपालिका है, जिसमें व्यवस्थापिका सभा के सदस्य हैं, जिससे ब्रिटिश मत्रीमण्डल के समान एक हाइफन और एक बक्सुए के रूप में राज्य की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को जोडा और बाँध जाता है।"[१]

सघीय—कार्यपालिका की शक्तियाँ

भारतीय सघीय कार्यपालिका के ससदात्मक स्वरूप से यह विदित होता है कि इसकी शक्तियो तथा कार्यों का विश्लेषण इसके दो हिस्सो के आधार पर ही किया जाना चाहिए। ये दो हिस्से निम्नलिखित हैं :—

(क) राष्ट्रपति—जो औपचारिक कार्यपालिका है, और

(ख) मत्रीमण्डल—जो वास्तविक कार्यपालिका है।

(क) राष्ट्रपति की शक्तियाँ—ब्रिटिश सविधान के अन्तर्गत सिद्धान्त कि राजा कोई 'गलती नही कर सकता है', इस प्रसग मे उपयोग मे लिया जाता है कि राजा कानून से परे है और अपने आचरण के स्पष्टीकरण के लिए, किसी न्यायालय मे उपस्थित होने के लिए उसे बाध्य नही किया जा सकता है। वास्तव मे इस सिद्धान्त का अर्थ सवैधानिक दृष्टिकोण से यह है कि सिवाय मत्रीमण्डल के सलाहानुसार राजा अपने स्व-विवेकानुसार न तो कोई सार्वजनिक कार्य कर सकता है, न ही किसी शक्ति का उपयोग कर सकता है, क्योकि प्रत्येक कृत्य के लिये, जो राजा के नाम मे किया जाता है, मत्रीमण्डल उत्तरदायी हैं। भारत के सविधान के अनुच्छेद ७८ (ख) के अनुसार मत्रीमण्डल को 'निर्णय' लेने का अधिकार है, जिससे साधारणतया, राष्ट्रपति बाध्य माना जायेगा। इस तरह भारतीय राष्ट्रपति ब्रिटिश राजा के समान सिवाय मत्रीमण्डल के सलाहानुसार कोई ऐसा सार्वजनिक कार्य नहीं करेगा, जिसमे उसका स्व-विवेक निहित है। श्री अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर (सविधान रूपरेखा समिति के सदस्य) ने यह सही ही कहा था कि मत्रीमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है, और यदि कोई राष्ट्रपति, मत्रीमण्डल के दायित्वो को लोकसभा के प्रति निभाने के पथ मे रुकावट के रूप मे आता है तो

---

२. डॉ० एन० बैनर्जी—'सम आस्पेक्ट्स आफ द इण्डियन कान्स्टीट्युशन' १९६२, पृ० ६९।

वह संविधान का उल्लंघन करने का दोषी होगा और उस पर महाभियोग भी लगाया जा सकता है। राष्ट्रपति को जो विभिन्न शक्तियाँ संविधान द्वारा प्रदत्त की गई हैं, उनका उपयोग वह मंत्रीमण्डल के परामर्शानुसार करेगा। निम्नलिखित श्रेणियों के अन्तर्गत इन शक्तियों का अध्ययन किया जा सकता है।

१—कार्यपालिका शक्तियाँ

भारत का राष्ट्रपति एक ऐसे राज्य का अध्यक्ष है, जहाँ पर संसदात्मक सरकार की स्थापना की गई है। फलस्वरूप राष्ट्रपति के नाम से ही औपचारिक रूप से, सरकार तथा शासन के कार्य सम्पन्न किये जायेंगे। संविधान के अनुच्छेद ७७ के अनुसार भारत सरकार के कार्यपालिका संबंधी कार्य राष्ट्रपति के नाम से सम्पादित किये जायेंगे। अनुच्छेद ५३ के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। अनुच्छेद ७४ के अनुसार संघीय मंत्रीमण्डल, जिसका अध्यक्ष प्रधान मंत्री होगा, राष्ट्रपति को उसकी कार्यपालिका शक्तियों को उपयोग में लेने के लिये, सलाह तथा सहायता देगा। अनुच्छेद ७८ के अनुसार प्रधान मंत्री का यह कर्तव्य है कि राष्ट्रपति को मंत्रीमण्डल के सब प्रशासन एवं व्यवस्थापन संबंधी प्रस्तावों की सूचना दे, यदि राष्ट्रपति यह चाहता है। राष्ट्रपति की इच्छानुसार प्रधान मंत्री द्वारा ऐसे मामले को जिस पर केवल किसी मंत्री ने निर्णय लिया, मंत्रीमण्डल के विचार के लिए रखा जा सकता है। कभी-कभी अनुच्छेद ७८ की व्याख्या करते हुए, यह गलतफहमी हो सकती है कि राष्ट्रपति सरकार के कार्यों के क्षेत्रों में अपना स्व-विवेक उपयोग में ला सकता है। प्रो० एलेक्जेण्ड्रोविक्ज का कहना है—"अनुच्छेद ७८ की व्याख्या इस रूप में करने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि राष्ट्रपति को अपने स्व-विवेक को उपयोग में लाने दिया जाये, वह (राष्ट्रपति) इस अनुच्छेद के अन्तर्गत प्रधानमंत्री से किसी भी प्रकार की जानकारी हासिल करने के लिए और बगैर मंत्रीमण्डल की सलाह के कोई भी कदम उठाने के लिए पूर्णतया स्वतंत्र हैं।"[1] परन्तु यह याद रहना चाहिये कि बिना गम्भीर परिणामों के अनुच्छेद ७८ की व्याख्या संसदात्मक प्रणाली के मूल सिद्धान्तों के विरोध में नहीं की जा सकती है। अतः यह परम्परा, जो इंग्लैण्ड में स्थापित है कि साधारणतया राष्ट्राध्यक्ष मंत्रीमण्डल की सलाह के अनुसार ही कार्य करेगा, भारत में भी बिना किसी संदेह और मतभेद के स्थापित की जाना चाहिये, क्योंकि इस परम्परा के न होने से जो जननात्रिक संतुलन संसदात्मक प्रणाली

---

१. एलेक्जेन्ड्रोविक्ज—कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेन्ट्स इन इण्डिया, १९५७ पृ० १३४।

मे औपचारिक एव वास्तविक कार्यपालिका के मध्य होना चाहिये, वह नहीं रह सकेगा। कार्यपालिका सम्बन्धी राष्ट्रपति की शक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

१—सघ की निम्नलिखित मुख्य नियुक्तियाँ राष्ट्रपति करता है।

(क) अनुच्छेद ७५ (१) के अनुसार आम चुनाव म विजयी राजनीतिक दल के नेता की नियुक्ति प्रधान मत्री के पद पर करता है।

(ख) अनुच्छेद ७६ (१) के अन्तर्गत महान्यायाधिवक्ता (एटर्नी जनरल) की नियुक्ति करता है।

(ग) भारत के नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक की नियुक्ति अनुच्छेद १४८ (१) के अन्तर्गत करता है।

(घ) सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यो के उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो की नियुक्ति अनुच्छेद १२४ एव अनुच्छेद २१७ के अन्तर्गत करता है।

(ङ) अनुच्छेद २६३ के अन्तर्गत, एक अन्तर्राज्यीय परिषद (इन्टर स्टेट कौन्सिल) की नियुक्ति करता है।

(च) अनुच्छेद ३१६ के अन्तर्गत सघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यो की नियुक्त करता है। राष्ट्रपति कुछ राज्यो के एक समूह के लिए एक सयुक्त आयोग की भी नियुक्ति कर सकता है।

(छ) वित्त आयोग की नियुक्ति अनुच्छेद २८० के अन्तर्गत करता है।

(ज) चुनाव आयोग की नियुक्ति ३२४ (२) के अन्तर्गत करता है।

(झ) अनुसूचित प्रदेशो पर प्रतिवेदन देने के लिए अनुच्छेद ३३६ (१) के अन्तर्गत आयोग की नियुक्ति कर सकता है।

(ञ) अनुच्छेद ३३८ (१) के अनुसार अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन-जातियो के लिए एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति कर सकता है।

(ट) अनुच्छेद ३४० के अन्तर्गत पिछड़े वर्गों की दशा को जाँचने के लिए एक आयोग की नियुक्ति करता है।

(ठ) ३४४ (१) के अनुसार भाषा आयोग नियुक्ति करने का अधिकार रखता है।

भारत म ससदात्मक सरकार के प्रसग म यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि य सारी नियुक्तियाँ राष्ट्रपति मत्रीमण्डल के परामर्श पर ही करेगा।

२—राष्ट्रपति को सघ के निम्नलिखित अधिकारी गण के पदच्युत करने का अधिकार है —

क—अनुच्छेद ७५ (२) के अन्तर्गत मत्रियो को।

ख—अनुच्छेद ७६ (४) के अन्तर्गत भारत के महाधिवक्ता को।

ग—अनुच्छेद १५६ (१) के अन्तर्गत राज्यपाल को।

घ—अनुच्छेद १२४ (४) व २१७ (१) बी के अन्तर्गत सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों को।

ङ—संविधान में उल्लेखित प्रक्रिया से अनुच्छेद ३१७ (३) तथा (४) के अन्तर्गत संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों को, संविधान में उल्लेखित प्रक्रियानुसार।

२—सैनिक शक्तियाँ

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ५३ (२) के अनुसार राष्ट्रपति को देश की विभिन्न सेनाओं (जल,थल और नभ) का सर्वोच्च अधिकारी माना गया है। राष्ट्रपति के द्वारा इस शक्ति का उपयोग विधिवत् किया जाना चाहिये। संसद को ही (अनुसूची सात, सूची एक विषय क्रमांक १, २, १५ के अन्तर्गत) सेना, युद्ध तथा शान्ति के लिये विधि निर्माण करने का अधिकार है। अतः राष्ट्रपति को उपर्युक्त विषयों पर जो शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं, उनका उपयोग वह संसद द्वारा निर्मित विधि के अनुसार करेगा। संसद की अनुमति बिना, राष्ट्रपति न तो युद्ध की घोषणा कर सकता है, न ही भारतीय सेनाओं का प्रयोग कर सकता है। औपचारिक रूप से युद्ध की घोषणा का अधिकार संसद में ही निहित है। अमरीका में राष्ट्रपति की शक्तियाँ भारत के राष्ट्रपति की तरह विधि द्वारा नियन्त्रित नहीं हैं। यद्यपि अमरीकी संविधान में यह उल्लिखित है कि युद्ध की घोषणा अमरीकी कांग्रेस ही करेगी, तथापि अमरीकी राष्ट्रपति विदेशी मामलों के क्षेत्र में कार्यों का सम्पादन इस रूप से कर सकता है कि कांग्रेस के समक्ष, सिवाय युद्ध की घोषणा करने के कोई विकल्प ही नहीं रहे। आरम्भ में, जब राष्ट्रपति जानसन ने वियतनाम में अमरीकी सैन्य शक्ति में वृद्धि करने की आवश्यकता महसूस की तब कांग्रेस की अनुमति प्राप्त करने के लिए उन्होंने वियतनाम की टोंकिन की खाड़ी के मामले को, जिसमें अमरीकी जहाज पर साम्यवादियों द्वारा आक्रमण के आरोप लगाये गये थे, कांग्रेस के समक्ष रखा। इस तरह उन्हें प्रत्यक्ष रूप से वियतनाम युद्ध में अमरीकी सैन्य शक्ति के उपयोग के लिये, कांग्रेस की अनुमति लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

भारत में यद्यपि युद्ध तथा शान्ति सम्बन्धी विषयों के लिए अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार संसद को है फिर भी भारतीय संघीय कार्यपालिका (संघीय मन्त्रीमण्डल) के हाथ में अत्यधिक शक्तियाँ हैं। अपनी शक्तियों को उपयोग में लाने में मन्त्रीमण्डल ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पैदा कर सकता है, जिसमें संसद के समक्ष युद्ध

की घोषणा करने के अलावा कोई विकल्प ही नही रहे। अतः युद्ध एव शान्ति के सम्बन्ध मे ससद द्वारा अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार एक औपचारिकता मात्र है। परन्तु यह विदित रहे कि वास्तविक रूप मे इन शक्तियो का उपयोग राष्ट्रपति नही, बल्कि प्रधान मत्री (मत्रीमण्डल के अध्यक्ष के नाते) करेगा।

३—राष्ट्रपति की वैदेशिक शक्तियाँ

राष्ट्रपति के नाम से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भारत के वैदेशिक मामलो का सचालन होता है। उसी के नाम से समस्त अधिकारो का प्रयोग होता है। राष्ट्राध्यक्ष होने के नाते राष्ट्रपति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे देश का प्रतिनिधित्व करता है। विदेशो के राजदूत, कूटनीतिज्ञो तथा वाणिज्य दूतो को औपचारिक समारोह मे उनके प्रमाण-पत्र स्वीकृत कर राष्ट्रपति ही उन्हें मान्यता देता है। विदेशो मे राजदूतो, वाणिज्य दूतो तथा प्रतिनिधियो की नियुक्ति राष्ट्रपति के नाम मे ही की जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय सधियो तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो के लिये वार्ताएँ राष्ट्रपति के के नाम से ही सचालित की जाती है। इस प्रकार की सधियो तथा समझौतो के लिये अनुच्छेद ७३ के अनुसार ससदीय अनुसमर्थन आवश्यक है। इगलैण्ड मे ससदीय अनुमर्थन उन सधियो या समझौतो के लिए आवश्यक है, जिनसे राज्य की भूमि का हस्तान्तरण होता है या जिनके द्वारा धनराशि का दिया जाना आवश्यक है।

अमरीका मे सिनेट (काग्रेस का उच्च सदन) मे, उन संधियो को दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृति होना चाहिये जिनके लिए राष्ट्रपति ने अन्य देशो से वार्ता की है, अन्यथा वे अवैधानिक मानी जायेंगी।

४—राष्ट्रपति की व्यवस्थापन शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद ७९ के अनुसार भारतीय सघ के लिए सघ ससद की स्थापना का प्रावधान किया गया है, जिसमे राष्ट्रपति तथा दो सदन हैं। उच्च सदन, राज्य सभा है, तथा निम्न सदन, लोक सभा है। ससद के एक महत्वपूर्ण हिस्से के रूप मे और राष्ट्राध्यक्ष होने के नाते राष्ट्रपति को भारतीय व्यवस्थापन प्रणाली मे व्यवस्थापन सम्बन्धी निम्नलिखित शक्तियाँ प्रदत्त हैं।

(क) राष्ट्रपति को, अनुच्छेद ८५ (१) (२) (अ) एव (ब) के अन्तर्गत ससद को आमन्त्रित एव स्थगित करने और लोकसभा को भग करने का अधिकार है। परन्तु ससद आमन्त्रित करने सम्बन्धी राष्ट्रपति की शक्ति का नियन्त्रण इस शर्त से,

की घोषणा करने के अलावा कोई विकल्प ही नहीं रहे। अतः युद्ध एवं शान्ति के सम्बन्ध में संसद द्वारा अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार एक औपचारिकता मात्र है। परन्तु यह विदित रहे कि वास्तविक रूप में इन शक्तियों का उपयोग राष्ट्रपति नहीं, बल्कि प्रधान मंत्री (मंत्रीमण्डल के अध्यक्ष के नाते) करेगा।

३—राष्ट्रपति की वैदेशिक शक्तियाँ

राष्ट्रपति के नाम से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत के वैदेशिक मामलों का संचालन होता है। उसी के नाम से सम्बन्ध अधिकारों का प्रयोग होता है। राष्ट्राध्यक्ष होने के नाते राष्ट्रपति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश का प्रतिनिधित्व करता है। विदेशों के राजदूत, कूटनीतिज्ञों तथा वाणिज्य दूतों को औपचारिक समारोह में उनके प्रमाण-पत्र स्वीकृत कर राष्ट्रपति ही उन्हें मान्यता देता है। विदेशों में राजदूतों, वाणिज्य दूतों तथा प्रतिनिधियों की नियुक्ति राष्ट्रपति के नाम से ही की जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के लिये वार्ताएँ राष्ट्रपति के के नाम से ही संचालित की जाती है। इस प्रकार की सन्धियों तथा समझौतों के लिये अनुच्छेद ७३ के अनुसार संसदीय अनुसमर्थन आवश्यक है। इंगलैण्ड में संसदीय अनुसमर्थन उन सन्धियों या समझौतों के लिए आवश्यक है, जिनसे राज्य की भूमि का हस्तान्तरण होता है या जिनके द्वारा धनराशि का दिया जाना आवश्यक है।

अमरीका में सिनेट (काँग्रेस का उच्च सदन) में, उन सन्धियों को दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृति होना चाहिये जिनके लिए राष्ट्रपति ने अन्य देशों से वार्ता की है, अन्यथा वे अवैधानिक मानी जायेंगी।

४—राष्ट्रपति की व्यवस्थापन शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद ७९ के अनुसार भारतीय संघ के लिए संघ संसद की स्थापना का प्रावधान किया गया है, जिसमें राष्ट्रपति तथा दो सदन हैं। उच्च सदन, राज्य सभा है, तथा निम्न सदन, लोक सभा है। संसद के एक महत्वपूर्ण हिस्से के रूप में और राष्ट्राध्यक्ष होने के नाते राष्ट्रपति को भारतीय व्यवस्थापन प्रणाली में व्यवस्थापन सम्बन्धी निम्नलिखित शक्तियाँ प्रदत्त हैं।

(क) राष्ट्रपति को, अनुच्छेद ८५ (१) (२) (अ) एवं (ब) के अन्तर्गत संसद को आमंत्रित एवं स्थगित करने और लोकसभा को भंग करने का अधिकार है। परन्तु संसद आमंत्रित करने सम्बन्धी राष्ट्रपति की शक्ति का नियंत्रण इस शर्त से,

एज़ पासीबल) का अर्थ अनुच्छेद १११ के अन्तर्गत यह हो सकता है कि जितने अधिक समय तक राष्ट्रपति चाहता है। (एस लाग एज़ दि प्रेसिडेण्ट चूजेज)"[१] राष्ट्रपति के अवलम्बन के निषेधाधिकार का वास्तव मे, भारतीय ससदात्मक प्रणाली मे विशिष्ट महत्व है। यह एक सवैधानिक, अवरोध न कि रोडे (ब्रेक) के रूप मे है। इस निषेधाधिकार को राष्ट्रपति को देते हुए सविधान निर्माताओ का कदाचित यह विचार था कि *ससद-जैसी व्यस्त सस्थाएँ यदि राजनीतिक तत्वो से* प्रभावित होकर किसी विधेयक पर पूर्णतया विचार राष्ट्रहित मे नही कर सकी हैं तो राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रतिनिधियो द्वारा निर्वाचित राष्ट्राध्यक्ष होने के नाते अपने अनुभव ज्ञान तथा परिपक्वता के आधार पर विधेयक पर गहराई से विचार करने के उपरान्त उपयुक्त सुझाव दे सकेगा।

अमरीकी सविधान के अन्तर्गत जब कांग्रेस से विधेयक पारित होकर राष्ट्रपति के समक्ष आता है तब राष्ट्रपति दस दिन मे अपने विचारो सहित विधेयक को कांग्रेस के पास वापिस लौटा देता है। यदि राष्ट्रपति अपनी सहमति दे देता है, तो विधेयक अधिनियम या कानून बन जायेगा। परन्तु यदि राष्ट्रपति ने कुछ आपत्तियाँ प्रकट की हैं, और यदि विधेयक कांग्रेस द्वारा पुन पारित किया जाता है, (सशोधन या बिना सशोधन के) तो उक्त विधेयक को अधिनियम माना जायेगा। भारत के राष्ट्रपति के समान अमरीका के राष्ट्रपति का यह अधिकार अवलम्बन का निषेधाधिकार माना जा सकता है। सविधान के अनुसार अमरीकी राष्ट्रपति, *कांग्रेस द्वारा पारित विधेयक को दस दिन तक अपने विचार के लिए रख सकता है* अत यह सम्भव है कि कांग्रेस ने किसी विधेयक को अपने अधिवेशन के अन्तिम दिनो मे—जो कि दस दिन से कम है, पारित किया हो, ऐसी स्थिति मे यदि राष्ट्रपति को उक्त विधेयक पर कोई आपत्ति है, तो उसके द्वारा कोई कार्यवाही करने के बिना ही विधेयक स्वत समाप्त हो जायेगा, क्योकि दस दिन समाप्त होने के पूर्व ही कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो चुका होगा। अत अमरीकी राष्ट्रपति के इस अधिकार को 'पाकिट निषेधाधिकार' (पाकेट वीटो) की सज्ञा दी गई है।

(घ) भारत के राष्ट्रपति को व्यवस्थापन के क्षेत्र मे एक अत्यन्त ही व्यापक *शक्ति प्रदत्त की गई है। सविधान के* अनुच्छेद १२३ (१) के अनुसार *जब* ससद का अधिवेशन न हो रहा हो, राष्ट्रपति अध्यादेश लागू कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा लागू किये गये अध्यादेश की शक्ति ससद द्वारा निर्मित विधि के समान होगी। परन्तु ससद के अधिवेशन के आरम्भ होने पर तत्काल अध्यादेश को ससद के दोनो सदनो के समक्ष रखना आवश्यक है। यदि ससद उस अध्यादेश से असहमत है तो अध्यादेश

---

१. डा० के० वी० राव—'पार्लियामेन्ट्री डेमोक्रेसी इन इण्डिया'। १९६१ पृ० ४६।

समाप्त हो जायेगा, परन्तु यदि संसद अध्यादेश से असहमत नही है तो अध्यादेश को, संसद की बैठक के ६ सप्ताह पश्चात् समाप्त माना जायेगा।

(ङ) राष्ट्रपति को अनुच्छेद ८० (३) के अन्तर्गत राज्य सभा के १२ सदस्यो को मनोनीत करने का अधिकार है। राष्ट्रपति इन १२ सदस्यो को उन व्यक्तियों मे से मनोनीत करेगा, जिनको साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा के क्षेत्र मे विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है। राष्ट्रपति एंग्लो-इण्डियन सम्प्रदाय म दो व्यक्तियो को लोक सभा के लिए मनोनीत कर सकता है यदि लोकसभा मे उक्त सम्प्रदाय में से कोई सदस्य निर्वाचित नही हुआ है।

(क) संघ के राज्यो से सबंधित राष्ट्रपति की व्यवस्थापन सबंधी शक्तियाँ

(i) संविधान के अनुच्छेद ३ के अन्तर्गत राष्ट्रपति की अनुमति के बिना, किसी नये राज्य का निर्माण या वर्तमान राज्यो की सीमाओ, क्षेत्र या नामो मे परिवर्तन करने के लिए किसी भी विधेयक को संसद मे प्रस्तुत नही किया जा सकता है, उसकी अनुमति के बाद ही उक्त विधेयक पर विचार किया जा सकता है। इस संबंध मे राष्ट्रपति के लिए संबंधित राज्यो की विधान सभाओ के विचार ज्ञात करना आवश्यक है परन्तु यह राष्ट्रपति पर निर्भर है कि उन विचारो का पालन करे या न करे।

(ii) राज्यो की विधान सभाओ मे राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के पश्चात् ही कुछ विधेयक प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जैसे—अनुच्छेद ३०४ के अन्तर्गत यदि कोई विधेयक जो व्यापार, वाणिज्य या अन्तर्राज्यीय सम्पर्कों पर प्रतिबन्ध लगाता है।

(iii) राज्य विधान सभाओ द्वारा पारित ऐसा विधेयक जिसका संबंध अनुच्छेद ३१ के दृष्टिकोण से सम्पत्ति के अधिग्रहण से हो, उसको राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही कानून का रूप दिया जा सकता है।

(iv) राज्य विधान सभाओ द्वारा पारित ऐसे विधेयक जिनके द्वारा उन वस्तुओं पर कर लगाया गया है, जो संसद द्वारा, अनुच्छेद २८६ के अन्तर्गत पारित विधि के अनुसार सार्वजनिक जीवन के लिए आवश्यक घोषित कर दी गई है।

(v) राज्य विधान सभा द्वारा, समवर्ती सूची मे दिये गये किसी विषय पर पारित विधेयक—जिसका संघर्ष संसद द्वारा पारित किसी विधि से है, अनुच्छेद २५४ के अन्तर्गत राष्ट्रपति के विचारार्थ रखा जाना चाहिये।

(ग) जब किसी राज्य का संवैधानिक तंत्र असफल हो जाता है तब राष्ट्रपति उक्त राज्य मे संकटकालीन स्थिति, अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत, घोषित कर राज्य सरकार के किसी भी अंग की, सिवाय उच्च न्यायालय की, शक्तियो को अपने हाथ

(क) जहाँ दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया है।

(ख) जहाँ दण्ड उस कानून के विरुद्ध अपराध के लिए है, जो सघ की कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार मे है।

(ग) जहाँ दण्ड मृत्यु दण्ड के रूप मे हो।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ, इस दृष्टिकोण से सघ-सूची तक ही सीमित हैं। इन शक्तियो को समवर्ती सूची मे उल्लिखित विषय के सबध मे उपयोग म नही लाया जा सकता है सिवाय उन मामलो के जिनको ससद ने स्पष्ट रूप से राज्य की कार्यपालिका शक्ति के क्षेत्राधिकार से अलग रख दिया है।

अनुच्छेद १४३ के अन्तगत राष्ट्रपति किसी भी सार्वजनिक महत्व के मामले पर सर्वोच्च न्यायालय की राय मालूम कर सकता है। एक विशिष्ट दृष्टिकोण से, राष्ट्रपति का यह अधिकार व्यवस्थापिका सभा पर एक सवैधानिक अवरोध के रूप मे है, क्योकि इस अधिकार के उपयोग द्वारा राष्ट्रपति किसी विधेयक को, जिसके सवैधानिक स्वरूप के सबध मे शका है, सर्वोच्च न्यायालय की राय लेने के लिए भेजकर यह मालूम कर सकता है कि विधेयक वास्तव म सविधान के अनुकूल है या नही है।

इसी प्रकार, राष्ट्रपति व्यवस्थापिका के किसी कार्य के सबध मे यह मालूम करने के लिए कि वह सवैधानिक है या नही है, सर्वोच्च न्यायालय की राय ले सकता है। उदाहरण स्वरूप, उत्तर प्रदेश की व्यवस्थापिका सभा तथा न्यायपालिका का मामला १९६४ मे राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय के पास उसकी राय प्राप्त करने के लिए भेजा था। मुख्य न्यायाधिपति श्री गजेन्द्र-गडकर ने सर्वोच्च न्यायालय की बहुमत की राय की अभिव्यक्ति करते हुए, एक महत्वपूर्ण सवैधानिक सिद्धान्त पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा यदि उत्तरप्रदेश विधान सभा के दावे को, कि विधान सभा को किसी न्यायाधीश के विरुद्ध वारन्ट जारी करने का अधिकार है और न्यायालय को इस कार्यवाही की वैधता को ज्ञात करने का अधिकार नही है, मान्यता दी जाती है, तो इससे न्यायालय की स्वतत्रता के मूल सिद्धान्त पर आघात पहुँचेगा।

अत. यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति अपने इस अधिकार का सविधान के सरक्षण हेतु उपयोग कर सकता है।

५—राष्ट्रपति की आपत्तिकालीन शक्तियाँ

सविधान के अन्तर्गत, (अनुच्छेद ३५२, ३५६ एव ३६०) राष्ट्रपति को, तीन प्रकार की आपत्तिकालीन स्थितियो का सामना करने के लिए आपत्तिकालीन शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं। प्रत्येक राज्य मे सकटकाल मे उसके अस्तित्व को

बनाये रखने के लिए किसी ऐसे शक्ति-सम्पन्न अधिकारी का होना आवश्यक है, जिसको सकटकालीन परिस्थिति का सामना करने के लिए सत्ता आवश्यक रूप दी जा सके।

'सघीय देश म यह सत्ता आवश्यक रूप से, राष्ट्रीय सरकार मे निहित की जाती है—यहाँ यह भी उल्लेखित किया जा सकता है कि सकटकालीन परिस्थिति का सामना करने के लिए मुख्य उत्तरदायित्व राष्ट्रीय कार्यपालिका का ही होता है।"[1]

राष्ट्रीय कार्यपालिका मे सकटकालीन परिस्थिति के दौरान अत्यधिक शक्तियाँ निहित कर दी जाती है अब यह सभव है कि कार्यपालिका निरकुश रूप धारण करने का प्रयत्न करे। सविधान मे इस सदर्भ मे प्राय कुछ विशेष 'रक्षक-प्रावधान' समावेशित किए जाते हैं, जो कार्यपालिका के निरकुश बनने की प्रवृति पर अवरोध के रूप म कार्य करेगे। सामान्य रूप से इन रक्षक प्रावधानो का उद्देश्य यह होता है कि सकटकाल मे राज्य का हस्तक्षेप नागरिको के अधिकार मे न्यून हो और सीमितकाल के लिए हो। परन्तु इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि जनता अपने अधिकारो के प्रति सजग हो। सक्षेप मे, जनतान्त्रिक सविधान मे राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए यदि सकटकाल मे जब एक ओर यह आवश्यकता होती है कि राष्ट्रीय कार्यपालिका को सकटकालीन परिस्थितियो का सामना करने के लिए शक्तिशाली किया जाये, तथा नागरिको के अधिकारो मे सीमित समय के लिए सीमाएँ लगाई जायें, तो दूसरी ओर यह स्वीकार करना भी अत्यावश्यक है कि ये सब बाते उन साधनो के रूप मे हैं; जिनका लक्ष्य यह है कि जनतान्त्रिक मूल्यो का अस्तित्व बना रहे।

भारत के सविधान मे निम्नलिखित तीन प्रकार की सकटकालीन परिस्थितियो का उल्लेख किया गया है —

सर्वप्रथम अनुच्छेद ३५२ के अन्तर्गत, यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाये कि राष्ट्र पर सुरक्षा को बाह्य आक्रमण, युद्धावस्था, या आन्तरिक अशान्ति का सकट है तो वह सकटकालीन स्थिति की उद्घोषणा कर सकता है। यह उद्घोषणा राष्ट्रपति उपर्युक्त सकट की सभावना मे भी कर सकता है। इस प्रकार की उद्घोषणा का अन्त, यदि जिन कारणो से यह की गई थी वे समाप्त हो चके है, राष्ट्रपति दूसरी उद्घोषणा द्वारा कर सकता है। इस आपत्तिकालीन उद्घोषणा को ससद के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक है। उद्घोषणा करने के दो माह पश्चात्, यदि इसके पूर्व ससद के दोनो सदनो द्वारा इसे सहमति नही दी गई हो,

१. एन० श्रीनिवासन—डेमोक्रेटिक गवर्नमेन्ट इन इण्डिया, १९५४ पृ० ३६६।

यह उद्घोषणा समाप्त मानी जायेगी। यदि उद्घोषणा के पूर्व लोक सभा भग हो जाये या दो माह की अवधि मे भग होती है, तो केवल राज्य सभा की स्वीकृति ही आवश्यक है। परन्तु राज्य सभा की स्वीकृति मिल जाने के पश्चात् आपातिकालीन उद्घोषणा को नई लोक सभा की प्रथम बैठक के तीस दिन के अन्दर स्वीकृति मिल जानी चाहिये, अन्यथा उद्घोषणा समाप्त हो जायेगी।

राष्ट्रपति के, अनुच्छेद ३५२ के अन्तर्गत, उद्घोषणा करने के प्रभाव

क—सघ ससद को सम्पूर्ण भारत या भारत के किसी भी हिस्से के लिए किसी भी विषय पर उन विषयो पर भी जिनका उल्लेख राज्य सूची मे है, विधि निर्माण करने का अधिकार होगा। ससद को यह अधिकार अनुच्छेद २५० (१) के अनुसार है, अनुच्छेद २५० (२) के अनुसार आपातिकालीन उद्घोषणा के समाप्त होने के ६ माह पश्चात् ससद द्वारा इस तरह निर्मित विधि को समाप्त माना जायेगा। अनुच्छेद २५१ के अन्तर्गत यदि राज्य विधान सभा द्वारा निर्मित कोई कानून ससद द्वारा निर्मित कानून से सघर्ष मे है तो राज्य का कानून अवैध माना जायेगा। यदि सकटकाल मे ससद का अधिवेशन नही हो रहा है तो राष्ट्रपति राज्यसूची मे उल्लिखित विषयो के सबध मे अध्यादेश लागू कर सकते है। सघ-ससद अनुच्छेद ८३ (२) के अनसार अपने कार्यकाल मे एक समय मे एक वर्ष तक की वृद्धि कर सकती है। इस प्रकार की वृद्धि आपातिकालीन उद्घोषणा के समाप्त होने की तिथि से ६ महीने से अधिक समय तक नही की जा सकती है। ससद अनुच्छेद २५३ (ब) के अन्तर्गत भारतीय सरकार और उसके अधिकारी गण को, विधि द्वारा कुछ अधिकार तथा कर्तव्य सौप सकती है, जिससे वे आपातिकाल मे ससद द्वारा निर्मित विधियो को कार्यान्वित करा सके।

ख—सघ सरकार किसी भी राज्य सरकार को, कार्यपालिका की शक्तियो के उपयोग के लिए आदेश दे सकती है और ससद सघीय अधिकारियो को राज्याधिकारियो के किसी भी अधिकार तथा कर्तव्य सौंप सकती है। ससद को यह अधिकार अनुच्छेद ३५३ (अ) एव (ब) के अन्तर्गत प्रदत्त है।

ग—राष्ट्रपति को अनुच्छेद ३५४ के अन्तर्गत यह अधिकार है कि सकटकाल मे, आदेश द्वारा अपनी इच्छानुसार सविधान के अनुच्छेद २६८-२७९ मे निहित आय वितरण प्रणाली के सबध मे परिवर्तन करे, परन्तु यह आदेश ससद के दोनो सदनो के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये।

अनुच्छेद ३५८ के अनुसार आपातिकालीन उद्घोषणा के दौरान, अनुच्छेद १९ मे उल्लिखित स्वतत्रता का अधिकार स्थगित हो जायेगा। इसी तरह, सकटकाल मे राष्ट्रपति के आदेशानुसार अनच्छेद ३५९ (१) के अनुसार न्यायालयो द्वारा

मूल अधिकारो के लागू करने के अधिकार को भी स्थगित किया जा सकता है और इस सदर्भ मे न्यायालयो के समक्ष जो कार्यवाही है, वह भी सकटकाल के दौरान या निर्दिष्ट अवधि तक के लिए स्थगित मानी जायेगी।

सक्षेप म, अनुच्छेद ३२ म उल्लिखित सवैधानिक उपचारो के अधिकार को सकटकाल मे राष्ट्रपति आदेश द्वारा स्थगित कर सकता है। परन्तु इस प्रकार का आदेश ससद के दोनो सदनो के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये। यह स्पष्ट है कि सवैधानिक उपचारो के अधिकार को स्थगित करने के सम्बन्ध म राष्ट्रपति का अधिकार अतिम नही है, क्योकि ससद विधि द्वारा ऐसे आदेशो को समाप्त कर सकती है।

द्वितीय, सविधान के अनुच्छेद ५६ के अन्तर्गत किसी राज्यपाल से यह प्रतिवेदन प्राप्त होने पर, कि राज्य म ऐसी स्थिति पैदा हो गई है, जिसम राज्य सरकार को सविधान के अनुसार नही चलाया जा सकता है तो उस प्रतिवेदन से सतुष्ट हो जाने पर राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा राज्य सरकार के समस्त या कुछ कार्य ग्रहण कर सकता है, जिसम सिवाय राज्य विधान सभा की शक्तियो के राज्यपाल या राज्य की अन्य सस्था या सत्ता के कार्य सम्मिलित होगे। राष्ट्रपति राज्य के उच्च न्यायालयो के अधिकारो को ग्रहण नही कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा यह भी प्रावधान किया जा सकता है कि राज्य की विधान सभा की शक्तियो को ससद या ससद द्वारा अधिकृत सत्ता द्वारा उपयोग म लाया जाये। राष्ट्रपति इस प्रकार की उद्घोषणा का अन्त या उसम परिवर्तन दूसरी उद्घोषणा द्वारा कर सकता है। राज्य क सवैधानिक तत्र के असफल होने के परिणाम स्वरूप राष्ट्रपति द्वारा लागू की गई उद्घोषणा को ससद के दोनो सदनो के समक्ष रखना आवश्यक है।

यदि लोकसभा का अधिवशन नही हो रहा है तो राष्ट्रपति राज्य की सचित निधि मे से व्यय के लिए आदेश भी दे सकता है।

सघ के किसी राज्य म अनुच्छेद ३५६ के अन्तगत सकटकालीन उद्घोषणा के सदर्भ म सघ सरकार एव राज्य सरकार के मार्गदर्शन के लिए निम्नलिखित सविधान के मार्गदर्शक अनुच्छेदो एव परम्पराओ को ध्यान म रखना अति आवश्यक है।

१—अनुच्छेद ३५५ के अनुसार सघ सरकार का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक सघ के राज्य को, बाह्य आक्रमण एव आन्तरिक अशान्ति के समय सरक्षण दें। इस तरह सघ सरकार यह सुनिश्चित करेगी कि राज्य सरकार सविधान के अनुसार चलायी जाये। सक्षेप म यदि राज्य सरकार का विधान सभा म बहुमत प्राप्त है, तो ऐसी स्थिति म सघ सरकार का यह कर्तव्य है कि जनतात्रिक प्रणाली

के अनुसार निर्वाचित राज्य सरकार का, जिसको राज्य विधान सभा में बहुमत प्राप्त है, बाह्य आक्रमण एवं आन्तरिक अशान्ति से सुरक्षा करे, न कि राजनीतिक मतभेदों के कारण राज्य सरकार को गिराने का प्रयत्न करे।

२—अनुच्छेद ३६५ के अनुसार संघ सरकार के, संविधान के अन्तर्गत दिये गये आदेशों का राज्य सरकार द्वारा पालन न करने के फलस्वरूप यह संकटकालीन उद्घोषणा की जा सकती है कि राज्य सरकार का शासन तन्त्र संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। अत: राज्य सरकार के लिए केवल विधान सभा में बहुमत होना ही आवश्यक नहीं है, अपितु यह भी आवश्यक है कि संघ सरकार द्वारा संविधान के अन्तर्गत दिये गये आदेशों का पालन भी करे।

३—संसदात्मक प्रणाली में इस परम्परा को मान्यता प्रदत्त की गई है कि यदि प्रधान मन्त्री या मुख्य मन्त्री को यह प्रतीत होता है कि व्यवस्थापिका सभा में उसे बहुमत प्राप्त होने के बावजूद भी आम जनता का रुख उसकी सरकार के प्रति द्विविधापूर्ण है, तो प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री आम चुनाव के माध्यम से जनता की इच्छा मालूम कर सकता है।

केरल में ३१ जुलाई १९५९ में, जब राष्ट्रपति शासन लागू किया गया तब सारे देश में इसके औचित्य के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये गये। साधारणत: केरल में राष्ट्रपति शासन लागू करने की तीव्र आलोचना की गई। आलोचकों का कहना था कि केरल में राष्ट्रपति शासन राजनीतिक, न कि संवैधानिक, कारणों से लागू किया गया। डा० एम० पी० शर्मा का कहना है,—"ऐसी परिस्थितियों में आम चुनाव द्वारा जनता को अपील करने के जनतान्त्रिक तन्त्र को परख कर देखा जा सकता है। इसके पूर्व कि राज्य के संवैधानिक तन्त्र को उग्र तरीके द्वारा समाप्त किया जाये, संघीय अधिकारियों का जनता के प्रति यह कर्तव्य है कि उनको, आम चुनाव के दौरान अपने सार्वभौम जनतान्त्रिक मतदान के अधिकार द्वारा, स्थिति को सुधारने के लिए अवसर प्रदत्त करें। यदि आम-चुनाव द्वारा भी स्थायी सरकार स्थापित करने में असफलता मिलती है, तो राष्ट्रपति द्वारा संकटकालीन शक्तियों के उपयोग करने का औचित्य अत्याधिक प्रबल हो जायेगा।"[1]

इसी दृष्टिकोण से डा० एस० सी० डेश का कथन है—"मध्यावधि चुनाव जनता की इच्छा, चुनावों के मध्यकाल में, ज्ञात करने के लिए बैरोमीटर रूपी यन्त्र के समान है, और इंग्लैण्ड तथा भारत जैसे देशों में यह सरकार की वृत्ति सुधारने

१. एम० पी० शर्मा—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२३।

के लिए, जो इन चुनावों से मतदातागण पर अपने प्रभाव को मालूम कर सकती है, उपयुक्त अवरोध है।"[1]

अतएव किसी राज्य में यह मालूम करने के लिए कि, वास्तव में, अनुच्छेद ३५६ के अनुसार राज्य का संवैधानिक यंत्र समाप्त हो चुका है या नहीं, उपर्युक्त तीन मुद्दों के मार्ग दर्शन में ही संघ तथा राज्य के अधिकारियों को अपने कार्य करना चाहिये।

तृतीय, संविधान के अनुच्छेद ३६० (१) के अन्तर्गत राष्ट्रपति को, वित्त-संबंधी संकट कालीन स्थिति के लिए, यदि वह संतुष्ट हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत की वित्तीय स्थिति के स्थायित्व को खतरा है तो वह वित्तिय संकट की उद्घोषणा कर सकता है। इस उद्घोषणा को संसद की स्वीकृति दो महीने में प्राप्त होना आवश्यक है। यदि संसद की स्वीकृति प्राप्त नहीं होती है तो उद्घोषणा समाप्त हो जावेगी। यदि इस दो महीने की अवधि के दौरान लोकसभा भंग हो जाये तो राज्य सभा की स्वीकृति लेनी होगी, और तत्पश्चात् नई लोकसभा के प्रथम अधिवेशन के तीस दिनों के भीतर उसकी स्वीकृति प्राप्त हो जानी चाहिये, अन्यथा उद्घोषणा समाप्त हो जायेगी।

वित्त संबंधी उद्घोषणा के फलस्वरूप संघीय सरकार, राज्य सरकारों को आर्थिक निर्देश दे सकती है, जिनके अनुसार राज्य सरकारों को कतिपय वित्तीय मूल सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है। इन आर्थिक निर्देशों के अनुसार राज्य सरकारों द्वारा राज्य सेवा के सारे या किसी भी वर्ग के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के वेतन या भत्तों में कटौती की जा सकती है। इन निर्देशों के अन्तर्गत राज्य विधान समाओं द्वारा पारित वित्त विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए, सुरक्षित किया जाना आवश्यक है।

इस वित्तीय संकटकालीन स्थिति के दौरान राष्ट्रपति को, संघ सेवाओं में कार्यरत अधिकारियों तथा कर्मचारियों के वेतन तथा भत्तों की कटौती के लिए निर्देश देने का अधिकार है। इन अधिकारियों में सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को भी सम्मिलित किया जायेगा। यह स्पष्ट है कि वित्तीय संकट कालीन उद्घोषणा के परिणामस्वरूप, राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता नष्ट हो जाती है।

इंग्लैंड में, युद्ध या आन्तरिक अशान्ति के समय, संकटकालीन शक्तियाँ कार्यपालिका को संसद द्वारा अधिकृत की जाती है। अमरीकी संविधान में लिखित रूप से, किसी सं[illegible]कालीन स्थिति का वर्णन नहीं है। तथापि युद्ध के समय प्रायः

१. एस० सी० डैश, द कान्स्टीट्युशन आफ इण्डिया, १९६० पृ० १९८।

कांग्रेस ने राष्ट्रपति को संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए विधि पारित कर, विशेषाधिकार प्रदत्त किये। अतः इन दोनों राष्ट्रों में संकटकालीन शक्तियों, के उपयोग करने के लिए कार्यपालिका को व्यवस्थापिका द्वारा अधिकृत किया जाता है।

इंग्लैण्ड तथा अमरीका में नागरिक के मौलिक अधिकार पर संकटकालीन स्थिति का प्रभाव निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है।

इंग्लैण्ड में संसद ने कार्यपालिका को विभिन्न प्रकार की विधियों को पारित कर संदेहास्पद व्यक्तियों को हिरासत में लेने का अधिकार प्रदत्त किया है। उदाहरण के लिए डिफेन्स आफ रेल्म एक्ट १६१४ (Defence of Realm Act 1914) इमरजन्सी पावर डिफेन्स एक्ट १६३६ (Emergency Power Defence Act 1939) अतः इंग्लैण्ड में नागरिकों के मूल अधिकारों के संदर्भ में संसद को ही अंतिम शक्तियाँ प्राप्त हैं। अमरीका के संविधान के अनुच्छेद १ उपबन्ध ६ (२) के अनुसार बन्दी प्रत्यक्षीकरण का अधिकार, सिवाय आन्तरिक विद्रोह या बाह्य आक्रमण की स्थिति में, स्थगित नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रीय सुरक्षा का अधिकार कांग्रेस को ही प्रदत्त है, और न्यायालयों को यह निर्धारित करने का अधिकार है कि स्थिति कांग्रेस द्वारा इस अधिकार को उपयोग में लाने के अनुकूल है या नहीं है। अमरीकी संविधान में कोई ऐसा प्रावधान नहीं है, जिससे राष्ट्रपति या कांग्रेस को युद्ध या अशान्ति की स्थिति में मूल अधिकारों को स्थगित करने का अधिकार प्रदत्त है।

भारत में संकटकालीन उद्घोषणा करने का अधिकार संविधान द्वारा कार्यपालिका को प्रदत्त है। इस संदर्भ में, उद्घोषणा बिना संसद को प्रेषित किये दो माह तक वैध रहेगी जबकि इंग्लैण्ड तथा अमरीका में संकटकालीन स्थिति में व्यवस्थापिका की भूमिका प्रत्यक्ष एवं तत्काल है।

भारत में, अनुच्छेद ३५२ के अन्तर्गत संकटकालीन उद्घोषणा के दौरान राष्ट्रपति अनुच्छेद ३२ में प्रदत्त संवैधानिक उपचारों के अधिकार को अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत आदेश द्वारा स्थगित कर सकता है। इसी तरह आपातिकालीन उद्घोषणा अनुच्छेद १६ द्वारा प्रदत्त नागरिकों की विभिन्न सात स्वतन्त्रताएँ स्थगित हो जाती हैं। संवैधानिक उपचारों के अधिकार को स्थगित करने के आदेश को संविधान के अनुसार राष्ट्रपति यथाशीघ्र संसद के समक्ष रखेगा। इससे यह प्रतीत होता है कि संवैधानिक उपचारों के अधिकार को आपातिकालीन स्थिति में स्थगित करने के लिए राष्ट्रपति को जो शक्तियाँ प्रदत्त हैं, वे अन्तिम नहीं हैं। इस प्रकार के आदेश को राष्ट्रपति द्वारा संसद के समक्ष यथाशीघ्र प्रस्तुत करना आवश्यक है। परन्तु यहाँ संविधान की एक त्रुटि दृष्टिगोचर है। संविधान निर्माताओं ने राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार के आदेश को संसद के समक्ष किसी विशिष्ट अवधि में

रखने के बजाय राष्ट्रपति के निर्णय हेतु छोड दिया है कि वह आदेश को 'यथाशीघ्र' ससद के समक्ष रखे।

इसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रपति, यदि उसकी ऐसी इच्छा है तो ससद को इस मामले से अवगत करने के अवसर को टालने के लिए प्रयत्न कर सकता है।

सक्षेप मे, सविधान के अन्तर्गत प्रदत्त राष्ट्रपति की विभिन्न शक्तियो के उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कुछ ऐसी समावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जिनके दुरुपयोग से सघीय कार्यपालिका निरकुश बनने का प्रयत्न कर सकती है। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित है —

१—सकटकालीन घोषणा बिना ससद को प्रेषित किये दो माह तक वैध रहेगी। ससद को दो माह तक सकटकालीन उद्घोषणा के सम्बन्ध मे कार्यवाही करने से अलग रखा जा सकता है।

२—अनुच्छेद १९ के अनुसार सात स्वतन्तताएं सकटकालीन उद्घोषणा के फलस्वरूप स्थगित हो जायेंगी। राष्ट्रपति नागरिकों के सवैधानिक उपचारो के अधिकार को भी, आदेश द्वारा स्थगित कर सकता है।

३—राज्यो के सवैधानिक तन्त्र के सबध मे राष्ट्रपति की सकटकालीन शक्ति का अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत दुरुपयोग ऐसी स्थिति मे भी समव है, जबकि राज्य सरकार को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है। केरल मे १९५९ मे राष्ट्रपति द्वारा सकटकालीन उद्घोषणा लागू करने के समय श्री नम्बूद्रीपाद को केरल विधान सभा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त था।

इन त्रुटियो का निवारण स्वस्थ परम्परा, शक्तिशाली जनमत, तथा ससद मे सुदृढ विरोधी दल (दलो) द्वारा किया जा सकता है। डा० पायली का कथन है, 'यह स्वाभाविक है कि सकटकालीन दशा मे कार्यपालिका अतिशक्तिशाली हो जाती है। सरकार की यह प्रवृति सघात्मक या एकात्मक प्रणाली मे समस्त ससार मे पाई जाती है। ससदात्मक प्रणाली जिन देशो मे है, उनके अनुभव इस बात के द्योतक हैं कि ससद सतर्क है और विरोधी दलो के सदस्यो के माध्यम से कार्यपालिका को उसके कार्यों के प्रति उत्तरदायी रहने के लिए बाध्य करती है। जब कार्यपालिका अपनी सीमाओ से बाहर जाने का प्रयत्न करती है तब ससद उस पर प्रतिबन्ध लगाती है। सकटकालीन स्थिति से सबधित प्रावधान ससद की भूमिका का अन्त नही कर देते हैं। ससद को सर्वदा कार्यपालिका को सचेत करने का अधिकार है, यदि ससद को यह विदित होता है कि कार्यपालिका ने सीमा के बाहर जाकर अपनी शक्तियो की सकटकालीन विधियो को कार्यान्वित करने के प्रावधानो

का प्रयोग किया है तो वे (ससद) मत्री मण्डल को पदच्युत तक कर सकते है और उसके स्थान पर दूसरे मत्री मण्डल को रख सकते हैं।"[१]

भारतीय मत्री परिषद और प्रधान मत्री

भारत मे ससदात्मक प्रणाली के अन्तर्गत सघीय कार्यपालिका का दूसरा हिस्सा मत्री मण्डल है, जिसका अध्यक्ष प्रधान मत्री है। भारतीय मत्री मण्डल की उत्पत्ति सविधान के कतिपय विशिष्ट प्रावधानो पर आधारित हैं। इग्लैण्ड मे, मत्री मण्डल का उद्‌भव एव समस्त कार्यप्रणाली अलिखित परम्पराओ पर आधारित है। भारतीय सविधान के अनुच्छेद ७४-७८ मे मत्री मण्डल के सगठन कार्यों तथा मूल दायित्वो का उल्लेख मिलता है। अनुच्छेद ७४ के अनुसार प्रधान मत्री की अध्यक्षता मे एक मत्री मण्डल होगा, जो राष्ट्रपति को उसके कार्यों के लिए सलाह तथा सहायता देगा।

अनुच्छेद ७५ (१) मे वर्णित है कि राष्ट्रपति प्रधान मत्री की नियुक्ति करता है। अन्य मत्रियो की नियुक्ति प्रधान मत्री की सलाह के अनुसार राष्ट्रपति करेगा। इस अनुच्छेद के उपबन्ध २ के अनुसार मत्रियो का कार्यकाल राष्ट्रपति की इच्छापर्यन्त रहेगा। इस सदर्भ मे भारतीय सविधान के अन्तर्गत सिद्धान्त एव व्यवहार मे मूल अन्तर पाया जाता है। ससदात्मक पद्धति के अनुसार राष्ट्रपति केवल उसी व्यक्ति को प्रधान मत्री के पद पर नियुक्त कर सकता हैं, जिसको ससद के निचले सदन मे बहुमत प्राप्त है। सविधान के अनुच्छेद ७५ (३) के अनुसार मत्रीमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व ससद के निचले सदन के प्रति है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को सविधान द्वारा मान्यता प्रदत्त करने के कारण राष्ट्रपति के पास इसके सिवाय कोई विकल्प नही रह जाता है कि उसी व्यक्ति को प्रधान मत्री के पद पर नियुक्त किया जाय, जिसको ससद के निचले सदन (लोकसभा) मे बहुमत प्राप्त है, अन्यथा, किसी अन्य व्यक्ति को प्रधान मत्री नियुक्त करने से राष्ट्रपति द्वारा सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का अवश्य उल्लघन होगा और राष्ट्रपति पर सविधान के उल्लघन करने के कारण महाभियोग लगाया जा सकता है। अतएव, राष्ट्रपति को प्रधान मत्री नियुक्त करने का अधिकार तो है, किन्तु इस अधिकार का उपयोग ससदात्मक पद्धति के द्वारा निर्धारित सीमाओ के अन्दर ही किया जाना चाहिये। इसी प्रकार सविधान के अनुसार मत्रियो का कार्यकाल राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है किन्तु जब तक मत्री परिषद को लोकसभा मे बहुमत है, राष्ट्रपति उनको सवैधानिक रूप से पदच्युत नही कर सकेगा।

---

१. एम० वी० पायली—'इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन' १९६२, पृ० ३०८।

तथापि कतिपय परिस्थितियों में राष्ट्रपति को प्रधान मंत्री की नियुक्ति के लिए अपनी स्वेच्छा को उपयोग में लाने का अवसर मिल सकता है । सर्वप्रथम, यदि लोकसभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, राष्ट्रपति उस व्यक्ति को प्रधान मंत्री के पद को ग्रहण करने के लिए आमंत्रित कर सकता है, जिसको बहुमत पर आधारित एक संयुक्त मंत्रीमण्डल निर्माण करने की क्षमता प्राप्त हो गई है, परन्तु यहाँ राष्ट्रपति की स्वेच्छा सीमित है, क्योंकि संयुक्त मंत्री-मण्डल का निर्माण विभिन्न राजनीतिक दलों की इच्छा पर है, न की राष्ट्रपति की स्वेच्छा पर निर्भर करता है ।

यदि लोकसभा में बहुमत दल का नेता अपना त्याग पत्र दे देता है और यदि दल में नेतृत्व के लिए संघर्ष है, या दल के नेतृत्व के सम्बन्ध में किसी एक व्यक्ति का नाम निश्चित नहीं किया जा सकता हो, तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति अपने विवेक का उपयोग कर सकेगा । भारतवर्ष में उपर्युक्त दोनों प्रकार की परिस्थितियाँ अभी तक उत्पन्न नहीं हुई है ।

मन्त्रियों की नियुक्ति तथा मंत्री परिषद् के गठन के लिए भी वस्तुस्थिति यह है कि राष्ट्रपति प्रधान मंत्री के परामर्श का पालन करने के लिए बाध्य है । इस मुद्दे के सम्बन्ध में ठीक स्थिति एवं कानूनी तथ्य यह है कि ये सारी शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं, परन्तु राजनीतिक एवं व्यावहारिक तथ्य यह है कि यदि प्रधान-मंत्री को लोकसभा में बहुमत प्राप्त है, तो ये शक्तियाँ वास्तव में प्रधान मंत्री के ही हैं ।

मंत्रियों के सम्बन्ध में संविधान के कतिपय अनुच्छेद और हैं, जिनको ध्यान में रखना आवश्यक है । अनुच्छेद ७५ (४) के अनुसार मंत्री का पद ग्रहण करने के पूर्व राष्ट्रपति द्वारा उसे अपने पद के कर्त्तव्यों को निष्ठापूर्वक एवं गोपनीयता से करने की शपथ दिलाई जायेगी । इसी अनुच्छेद के उपखण्ड (५) के अनुसार यदि कोई मंत्री ६ माह तक लगातार संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं रहता है, तो उसे पदच्युत किया जा सकेगा । अन्त में अनुच्छेद ७५ (६) के अनुसार मंत्रियों के वेतन तथा भत्ते समय-समय पर संसद के विधि द्वारा निर्धारित किये जायेंगे और जब तक संसद इन्हें निर्धारित न करे, इनको संविधान की दूसरी अनुसूची में उल्लिखित रूप से दिया जायेगा ।

उपर्युक्त पंक्तियों में इस बात का संकेत दिया जा चुका है कि भारतीय मंत्री-परिषद् की कार्य प्रणाली का मूल सिद्धान्त—सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त के अनुसार मंत्री-परिषद् लोकसभा के समक्ष अपने समस्त कार्यों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी है । संविधान निर्माताओं ने इस सिद्धान्त का स्पष्ट रूप अनुच्छेद ७५ (३) में व्यक्त करते हुए इसे भारतीय संसदीय पद्धति की

आधार शिला माना है। प्रो० श्रीनिवासन का कहना है—"परम्परानुसार सरकार के प्रसंग में जिसकी स्थापना संविधान द्वारा की गई है, राष्ट्रपति की इच्छा को संसद तथा मतदातागण की इच्छा—के अनुसार उपयोग में लाना होगा।"[1]

संघीय मंत्री परिषद का संगठन : मंत्रीमण्डल एवं मंत्री परिषद (केबिनेट व मिनिस्ट्री)

इंगलैण्ड में मंत्रीमण्डल तथा मंत्री परिषद में अन्तर है। मंत्री परिषद एक वृहत् संख्या है जिसमें लगभग १०० सदस्य होते हैं। इसमें मंत्रीमण्डल के सदस्य, अन्यमंत्री, संसदीय सचिव एवं अवर सचिव सम्मिलित हैं। भारत में भी मंत्रीमण्डल तथा मंत्री परिषद में अन्तर है। भारतीय मंत्री-परिषद में भी समस्त मंत्री गण तथा संसदीय सचिव होते हैं, जबकि मंत्रीमण्डल में केवल केबीनेट स्तर के मंत्री ही होते हैं। भारतीय मंत्री परिषद में चार प्रकार के स्तरों के मन्त्रियों को मान्यता दी गई है।

सर्वप्रथम, केबीनेट स्तर के मंत्री है, जो महत्त्वपूर्ण मंत्रालयों के अध्यक्ष है। इन केबीनेट स्तर के मंत्रियों द्वारा मंत्रीमण्डल (केबीनेट) का निर्माण होता है। ये मंत्रीमण्डल की बैठकों में सम्मिलित होते हैं। इनको २,२५० रुपये प्रतिमाह वेतन और ५०० रुपये प्रतिमाह भत्ता मिलता है। इनके साथ, इनको अन्य सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

द्वितीय, कतिपय राज्य-स्तर के मंत्री है, जो किसी न किसी विभाग या उप-विभाग के लिए उत्तरदायी हैं। परन्तु इनका स्तर केबीनेट स्तर के मंत्रियों से निम्न है। सामान्यत: ये मंत्रीमण्डल की बैठकों में सम्मिलित नहीं होते हैं, जब तक कि उनको विशेष आमंत्रण न दिया गया हो। ये संसद के प्रति उत्तरदायी हैं। इनको केबीनेट स्तर के मंत्रियों के सदृश २,२५० रुपये प्रतिमाह वेतन मिलता है; परन्तु इनको कोई भत्ता प्राप्त नहीं है।

तृतीय, कतिपय मंत्री उपमंत्री-स्तर के होते हैं। इनका कार्य मंत्रालय के कार्यों में सहयोग या सहायता पहुँचाना होता है। इनको प्रतिमाह १,७५० रुपये वेतन मिलता है।

चतुर्थ, उपमंत्रियों से नीचे संसदीय सचिव होते है। उपमंत्री एवं संसदीय सचिव किसी विभाग के अध्यक्ष नहीं होते हैं किन्तु इनका कार्य मंत्रियों को, जिनसे वे संबंधित हैं, प्रशासनीय एवं संसदीय कार्यों में सहायता पहुँचाना है। ये मंत्रीमण्डल की बैठकों में सम्मिलित नहीं होते हैं।

---

१. श्री एन० श्रीनिवासन—'पूर्वोक्त पुस्तक', पृ० २१८।

विभिन्न स्तरो के मंत्रियो के वेतन तथा भत्तो का निर्धारण ससद द्वारा पारित मंत्रियो के वेतन एव भत्ते का अधिनियम १९५२ (सेलेरीज़) एण्ड अलाउन्सेज़ आफ मिनिस्टरस् एक्ट १९५२) द्वारा किया गया है।

मत्री परिषद अपने अस्तित्व को लोक सभा के बहुमत समर्थन पर ही बनाये रख सकती है, और इस तरह अपने कार्यों तथा नीतियो के लिए लोकसभा के प्रति वास्तविक कार्यपालिका होने के नाते सामूहिक रूप से उत्तरदायी रहेगी।

मत्री परिषद की वास्तविक कार्यपालिका के रूप मे सवैधानिक स्थिति इस बात से और दृढ हो जाती है कि इसके सदस्य ससद सदस्य भी होंगे और प्रत्यक्ष रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगे। यह देखा जा चुका है, कि प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, परन्तु इन अधिकारो का उपयोग राष्ट्रपति स्वेच्छापूर्वक नही कर सकता है। सरकार के कार्यों तथा नीतियो के लिए, प्रत्यक्ष एव प्राथमिक उत्तरदायित्व मत्री परिषद का है। अत मन्त्री परिषद के कार्यों एव शक्तियो का अध्ययन इसी प्रसग मे करना वाछनीय ही नही, अपितु आवश्यक भी है। इस दृष्टिकोण से भारतीय मत्री परिषद तथा ब्रिटिश मत्री मण्डल मे कोई अन्तर नही है।

इग्लैण्ड म, १९१८ मे हालडेन समिति (ब्रिटिश सरकार के ढग पर नियुक्त समिति) ने अपना प्रतिवेदन ब्रिटिश सरकार को प्रस्तुत किया, जिसमे ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के कार्यों एव शक्तियो का विश्लेषण किया गया है। यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि भारतीय सविधान के अन्तर्गत सघीय मत्री परिषद के कार्य तथा शक्तियाँ, ब्रिटिश मत्रीमण्डल के हालडेन समिति द्वारा उल्लेखित कार्यो तथा शक्तियो के सदृश हैं। ये निम्नलिखित है —

(क) राष्ट्रीय नीतियो का अन्तिम रूप निर्धारण करना, जिसके पश्चात् ससद के समक्ष इन्हे रखा जा सके। ससदात्मक पद्धति मे इस विषय के सबध मे कोई दो मत नही हो सकते, कि किसी राष्ट्रीय विषय के सबध मे, राष्ट्रीय प्रगति तथा सुरक्षा के दृष्टिकोण से नीति के निर्धारण का उत्तरदायित्व मत्री परिषद का ही होता है। साधारणतया, किसी राष्ट्रीय उद्देश्य की उपलब्धि के लिए मत्री मण्डल द्वारा नीति का निर्माण होता है, तत्पश्चात् ससद की स्वीकृति के लिए उक्त नीति का निर्माण होना है, तत्पश्चात् ससद की स्वीकृति के लिए, उक्त नीति को उसके समक्ष रखा जाना चाहिये, विशेष कर जब उक्त नीति को कार्यान्वित करने के लिए ससद द्वारा विधि निर्माण करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, जब राज्य के पुनर्गठन आयोग द्वारा प्रस्तुत सुझावो का सघीय मत्री परिषद ने एक नीति के रूप म स्वीकृत कर लिया कि भारतीय सघ के राज्यो का पुनर्गठन एक नये आधार पर हो, तो इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए राज्य पुनर्गठन विधेयक ससद के समक्ष रखा गया जिसके फलस्वरूप १९५६ मे ससद द्वारा राज्य पुनर्गठन कानून

निर्मित किया गया । और इसी कानून के आधार पर राज्यों का एक नये आधार पर पुनर्गठन किया गया । अतः प्रशासन को सही रूप से चलाने के लिए विधि-निर्माण करने की आवश्यकता होती है । मंत्री-परिषद सरकार के क्षेत्र में वह कड़ी है जो प्रशासन को तथा संसद को जोड़ती है, अतः राष्ट्रीय नीति निर्माण को विधि द्वारा लागू करवाने में मंत्री परिषद कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में सहयोग और समन्वय स्थापित करती है । इस दृष्टिकोण से मंत्री परिषद तथा संसद एक दूसरे पर क्रियात्मक एवं प्रतिक्रियात्मक प्रभाव डालते हैं । मंत्री-परिषद संसद में प्राप्त बहुमत के आधार पर संसद को कार्यवाही को निर्धारित उद्देश्य की दिशा में राष्ट्रीय नीति को स्वीकृत करवाने के लिए प्रयास करती है संसद जनता की प्रतिनिधि संस्था होने के नाते, मंत्री-परिषद के कार्यों एवं नीतियों पर आवश्यक नियन्त्रण रखती है । इस तरह मंत्री परिषद एवं संसद के संबंधों का जनतांत्रिक सन्तुलन, परस्पर अवरोधों के आधार पर स्थापित किया जाता है । संसदात्मक पद्धति में इन अवरोधों का द्वैध रूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ।

संसद के अधिवेशनों के दौरान साधारणतया प्रतिदिन, प्रश्न, स्थगन प्रश्न आदि रखकर कार्यपालिका (मंत्री परिषद) पर प्रतिदिन का अवरोध लगाया जा सकता है ।

संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका पर मूल अवरोध या सामयिक अवरोध मतदातागण द्वारा सामान्यतः प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात्, आम चुनावों के समय उपयोग में लाया जा सकता है, जब मतदाताओं को सरकार के कार्यों एवं नीतियों का परीक्षण करने का परोक्ष अधिकार प्राप्त होता है । यदि मतदातागण अपने दायित्वों के प्रति सजग हैं, तो सरकार पर जनतांत्रिक व्यवस्था में इससे अधिक महत्वपूर्ण जनतांत्रिक अवरोध प्राप्त होना कठिन होगा । आम चुनाव के समय मतदातागण न केवल संसद के प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं, परन्तु पिछली मंत्री परिषद (सरकार) के कार्यों तथा नीतियों का मूल्यांकन करते हुए यह निर्धारित करते हैं कि पिछली मंत्री परिषद को पुनः सत्ता की बागडोर सौंपी जाये या नहीं ।

(ख) भारतीय संसदात्मक पद्धति में मंत्री-परिषद का एक महत्वपूर्ण कार्य सरकार एवं प्रशासन पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखना है, जिससे मंत्री परिषद द्वारा निश्चित और संसद द्वारा समर्थित नीतियों का सही पालन हो सके । प्रत्येक मंत्री, यदि वह एक विभागाध्यक्ष है तो विभाग के कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होगा । प्रत्येक मंत्री, पर वास्तव में अपने विभाग सम्बन्धी उन नीतियों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व है, जिनका सम्पूर्ण मंत्री परिषद का समर्थन प्राप्त हो गया है । वस्तुतः मंत्री परिषद का सरकार एवं प्रशासन के सारे क्षेत्र में सार्वभौम एवं विस्तृत नियन्त्रण रहता है । निःसंदेह अपने शक्तियों एवं अधिकारों

का उपयोग प्रत्यक मत्री सम्पूर्ण मत्री परिषद के निर्देशन मे ही करेगा। किसी भी मत्री द्वारा इस सिद्धान्त के उल्लघन के परिणाम स्वरूप ससदीय पद्धति के आधारभूत दलीय प्रणाली के कठोर अनुशासन के सिद्धान्त पर आघात पहुँच सकता है और उससे सबधित मत्री को अपने पद पर से स्तीफा देने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

(ग) मत्री परिषद का तृतीय कार्य प्रशासन के विभिन्न विभागो की क्रियाओ म समन्वय स्थापित करते हुए, इन क्रियाओ की सीमाओ का निर्धारण करना है। मत्री परिषद की यह भूमिका, उसको वास्तविक राष्ट्रीय कार्यपालिका होने के नाते प्राप्त है। यह सत्य है कि प्रशासन के विभिन्न विभाग पृथक् इकाइयो के रूप मे रहकर कार्य नही कर सकते हैं, न ही इनको प्रशासन की पृथक् या स्वतत्र इकाई माना जा सकता है। अनिवार्यत सरकार के विभिन्न विभागो म पारस्परिक सहयोग होना आवश्यक है, अन्यथा प्रशासन के बिखरने का डर हो सकता है। प्रशासन एक सम्पूर्ण इकाई है, और इसकी सफलता का दायित्व विभिन्न विभागो के पारस्परिक सहयोग एव समन्वय स्थापित करने की क्षमता पर निर्भर करता है। यदि कतिपय परिस्थितियो म दो या दो से अधिक विभागो के असहयोग के कारण राष्ट्रीय हित को हानि पहुँचने की सभावना होती है तो सम्पूर्ण मत्री परिषद की बैठक मे सबधित विभागो के मतभेदो को दूर किया जा सकता है। इसलिए साधारणतया प्रशासन के निरीक्षण, निर्देशन, एव नियन्त्रण के कार्य मत्री परिषद म ही निहित हैं।

उपर्युक्त तीन प्रकार के कार्यों के अतिरिक्त मत्री परिषद के एक अन्य कार्य पर प्रकाश डालना उचित होगा।

(घ) राष्ट्र की वित्तीय व्यवस्था को सही रूप से सचालित करने का उत्तरदायित्व मत्री परिषद का है। अत मत्री-परिषद, विशेषकर वित्त मत्री का नियन्त्रण, राष्ट्र की वित्त व्यवस्था पर होना न केवल स्वाभाविक है, परन्तु आवश्यक भी है। वित्त मत्री प्रति वर्ष वार्षिक बजट तैयार करता है, जिसमे वित्तीय वर्ष के आय-व्यय का विवरण होता है। जब बजट ससद के समक्ष उपस्थित है, तब मत्री परिषद उसमे परिवर्तन करने की माग कर सकती है। बजट पारित होने के पश्चात् इसका क्रियान्वय एव समस्त वित्त व्यवस्था का सचालन मत्री मण्डल करता है। अत वित्त का नियन्त्रक मत्री मण्डल होता है।

मत्रियो के विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्व

ससदात्मक पद्धति का मूल आधार मत्रियो के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है। वास्तव मे मत्रियो के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त उस जनतात्रिक यत्र के सदृश है, जो एक ओर तो ससद तथा मत्री मण्डल मे और दूसरी ओर राष्ट्रपति तथा मत्री

परिषद मे ससदात्मक प्रणाली के अनुकूल आवश्यक सन्तुलन स्थापित करता है। यह स्पष्ट है कि ससदात्मक पद्धति मे कोई सवैधानिक अवरोध इतना प्रभावशाली एव व्यापक नही है, जितना कि मन्त्रियो के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है क्योंकि एक जजीर के रूप मे इस सिद्धान्त द्वारा, ससदीय जनतान्त्रिक प्रणाली के चार स्तम्भो-राष्ट्राध्यक्ष, मत्री परिषद, ससद एव मतदातागण को पारस्परिक जनतान्त्रिक सम्बन्धो से जोडा जाता है। ससदात्मक पद्धति मे मन्त्रियो के निम्नलिखित चार विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्व हैं।

तकनीकी या औपचारिक उत्तरदायित्व

औपचारिक रूप से, ससदात्मक पद्धति मे प्रत्येक मत्री का उत्तरदायित्व राष्ट्राध्यक्ष के प्रति होता है। ब्रिटिश ससदात्मक प्रणाली मे सम्राट के अधिकारो पर प्रकाश डालते हुए, वाल्टर बेजहाट ने कहा था कि सम्राट् के सरकार के सबध मे केवल तीन प्रकार के अधिकार हैं, (क) परामर्श देने का अधिकार, (ख) प्रोत्साहित करने का अधिकार, और (ग) चेतावनी देने का अधिकार।

सरकार के सबध मे ब्रिटिश सम्राट् के कोई निर्देशक कार्य नही है, परन्तु इसके बावजूद भी, मन्त्रियो का उत्तरदायित्व औपचारिक रूप से सम्राट् के प्रति होता है। ब्रिटिश सरकार को ब्रिटिश सम्राट् साम्राज्ञी की सरकार कहते है। ब्रिटिश सरकार (मत्री परिषद) अपने पद पर सम्राट् या साम्राज्ञी के प्रसाद-पर्यन्त रहते है। इसी तरह भारत के सविधान के अनुच्छेद ७५ (२) के अनुसार मन्त्री अपने पद पर राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त तक ही रहेगे। परन्तु ससदात्मक प्रणाली मे, सरकार तथा शासन के क्षेत्र मे राष्ट्राध्यक्ष की प्रसन्नता से तात्पर्य है, ससद की इच्छा। अतएव मन्त्रियो का उत्तरदायित्व राष्ट्राध्यक्ष के प्रति केवल औपचारिक ही है। औपचारिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्ब भारतीय सविधान के अनुच्छेद ७८ (अ) के अनुसार प्रधान मत्री का यह कर्तव्य होगा कि राष्ट्रपति को मत्री-परिषद के सारे निर्णयों, जो सघ के मामलो के प्रशासन एव विधि-निर्माण प्रस्तावो के सबध मे है, अवगत कराये यदि राष्ट्रपति ऐसा चाहता है। इसी अनुच्छेद के उपबन्ध (ब) के अनुसार, यदि राष्ट्रपति यह चाहता है, तो प्रधान मत्री का यह कर्तव्य होगा कि राष्ट्रपति को सघ मामलो के प्रशासन एव विधि सबधी प्रस्तावो पर सूचना दें। इसी अनुच्छेद के उपबन्ध (स) के अनुसार, यदि राष्ट्रपति यह चाहता है तो प्रधान मत्री का यह कर्तव्य होगा कि किसी ऐसे मामले को, जिस पर एक मत्री ने निर्णय ले लिया है, परन्तु जिस पर मत्री परिषद ने विचार विमर्श नही किया है, मत्री परिषद के विचारार्थ रखे। नि सदेह, अनुच्छेद ७८ उपबन्ध (अ) (ब) एव (स) मे ससदात्मक पद्धति की कतिपय मूल परम्पराओ को समावेशित किया गया है, जिनके माध्यम से, ब्रिटिश सम्राट् के सदृश भारतीय

राष्ट्रपति को सरकार के सबंध मे परामर्श देने, प्रोत्साहित करने तथा चेतावनी देने के अधिकार प्राप्त होते हैं। इन अधिकारो के आधार पर राष्ट्रपति सरकार के परामर्शदाता, मित्र, आलोचक एव दार्शनिक के रूप मे अपनी भूमिका निभा सकता है।

व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का सिद्धान्त

इगलैण्ड के ससदात्मक प्रणाली मे, मत्रियो के व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की उत्पत्ति मत्री मण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के पूर्व हुई है। प्रो० डायसी के अनुसार व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के दो अर्थ हैं। प्रथम अर्थ यह है कि कानून की दृष्टि से सम्राट् के कार्यों के लिए उत्तरदायी होना, जिससे यह तात्पर्य है कि सम्राट् द्वारा कार्यपालिक से सबधित किये गये कार्यों के लिए सम्राट् के हस्ताक्षर के साथ किसी मत्री के हस्ताक्षर का होना आवश्यक है।

द्वितीय अर्थ यह है कि राजनीतिक दृष्टिकोण से मत्री का उत्तरदायित्व ब्रिटिश ससद के निचले सदन, कामन्स सभा, के प्रति है। फलस्वरूप यदि कामन्स सभा किसी मत्री के प्रति अविश्वास व्यक्त करे तो मत्री अपने पद से स्तीफा देगा।

भारत के सविधान मे, मत्रियो के व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के लिए कोई आधारभूत लिखित प्रावधान नही है। भारत के अर्द्ध विकसित देश होने के नाते यह उत्तम होता, यदि सविधान के निर्माता इस विषय पर सविधान मे विशिष्ट रूप से प्रावधान रखते। व्यक्तिगत रूप से मत्रियो पर यह एक महत्वपूर्ण सवैधानिक अवरोध होता। चूंकि इस विषय पर सविधान म लिखित प्रावधान नहीं है, इस कारण यह उचित होगा कि इस विषय के सम्बन्ध मे एक स्वस्थ परम्परा विकसित हो। परन्तु भारत की राजनीतिक प्रणाली मे पिछले कुछ वर्षों मे, कतिपय उदाहरणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस विषय पर अत्यन्त ही कम विचार किया गया है। यह सत्य है कि आधुनिक समय मे, सरकार की क्रियाओ की जटिलता एव व्यापकता के कारण प्रत्येक मत्री के निर्णय के लिए अन्तर्विभागीय, विचार-विमर्श आवश्यक है। इस दृष्टि से मत्री के व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के प्रश्न को इस आधार पर जांचना चाहिये कि किस सीमा तक मत्री स्वय दोषी है। यदि मत्री का व्यक्तिगत दोष ससद मे स्पष्ट हो जाता है तो उसे स्तीफा देने मे कोई सकोच नही होना चाहिये। इग्लैण्ड म पिछले कुछ वर्षों म व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के आधार पर मत्रियों ने व्यक्तिगत भूल, जैसे बजट प्रस्तुत होने के पूर्व बजट सबधी बातो को प्रकट करना, व्यक्तिगत भ्रष्टाचार या सरकार की खुली आलोचना के कारण स्तीफे दिये। सर सेम्युल होअर ने, १९३५ के होअर-लवाल समझौते मे भूल होने के कारण अपना पद त्याग दिया, क्योंकि वे उस समय विदेश मत्री थे

और उन्होंने फ्रान्स के प्रधान मन्त्री लवाल के साथ इटली-इथोपिया के युद्ध के दौरान, यह गोपनीय समझौता किया कि युद्ध का अन्त करने के लिए आधा इथोपिया इटली को दे दिया जाय।

श्री ह्यु डाल्टन ने जो वित्त मंत्री थे, बजट प्रस्तुत करने के पूर्व, १९४६ में बजट सबंधी कुछ बातों के प्रकट हो जाने के कारण अपना स्तीफा दिया। इसी तरह युद्ध मन्त्री जान प्राफयमा को, कीलर काण्ड के प्रसग में १९६३ में अपना स्तीफा देना पड़ा।

भारत में भी, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से कतिपय मंत्रियों ने अपना पद स्वयं त्यागकर राजनीतिक नैतिकता, एवं परिपक्वता का परिचय दिया। श्री लालबहादुर शास्त्री ने एक रेल दुर्घटना होने के तुरन्त बाद रेल मंत्री से त्याग पत्र दे दिया। श्री चागला ने, सरकार की भाषा सबंधी नीति पर मतभेद होने से, शिक्षा मंत्री का पद त्याग दिया। भारतीय मन्त्रियों द्वारा व्यक्तिगत भूल के कारण अपना पद त्याग करने के मामले ब्रिटिश परम्परा की तुलना में अपवाद हैं, न कि परम्परागत व्यवहार के द्योतक हैं। कई मामलों में मंत्री भूल प्रकट होने पर भी अपने पद पर बिना सकोच के दृढ बने रहे। डा० के० वी० राव का कथन है—'वे कई *व्यक्तिगत भूलें, जिनके परिणाम स्वरूप इंग्लैंड में निश्चय ही मन्त्रियों ने व्यक्तिगत* उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर त्याग पत्र दिये, भारत में दबा दी जाती हैं, *जब प्रधान मंत्री (ससद में) खड़े होकर घोषणा करता है कि वह सारी जिम्म*-दारी अपने कन्धों पर लेता है। जिसका तात्पर्य यह होता है कि प्रधान मंत्री के व्यक्तिगत प्रतिष्ठा तथा उसके बहुमत दल की शक्ति का पूर्ण उपयोग उस विषय पर आगे विचार विमर्श को रोकने के लिए किया जायेगा। हम यह महसूस करते हैं कि संविधान निर्माताओं ने फ्रान्स के चौथे गणतन्त्र के सदृश, यदि संविधान में व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को समावेशित किया होता, तो यह उपयुक्त होता।"[1]

पारस्परिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त

मंत्री परिषद एक इकाई होती है अत, मन्त्रियों में पारस्परिक एकता तथा सगठन अनिवार्य है। वास्तव में मंत्री-परिषद का अस्तित्व तब ही बना रह सकता है, जब मंत्री गण पारस्परिक सबंध के इस सिद्धान्त के अनुकूल अपना आचरण रखें कि या तो हम सब साथ-साथ ही तैरेंगे या सब साथ ही डूब जायेंगे। मंत्री-परिषद के सदस्यों में एकता और सहयोग ही उसकी दृढता तथा स्थायित्व का

१. के० वी० राव—'पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७०-७१।

आधार है। सम्पूर्ण मंत्री-परिषद को एक संयुक्त मोर्चे के रूप में कार्य करना आवश्यक है, अन्यथा पारस्परिक फूट होने से मंत्री-परिषद बिखर सकती है। पारस्परिक उत्तरदायित्व की भावना से मंत्री-परिषद के आन्तरिक संगठन में एकरूपता एवं एकता स्थापित होती है, जो राजनीतिक मंच पर विरोधी दलों के सामना करने के लिए अति-आवश्यक है।

सामूहिक उत्तरदायित्व

मंत्री-परिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त से यह अभिप्राय है कि संसदात्मक पद्धति में मंत्री-परिषद एक इकाई के रूप में अपने कार्यों तथा नीतियों के लिए प्रत्यक्ष रूप से संसद के निचले सदन लोकसभा और अप्रत्यक्ष या अंतिम रूप से मतदातागण के प्रति उत्तरदायी है। मंत्री-परिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर ही संसद में, मंत्री-परिषद के कार्यों का लेखा-जोखा लिया जाता है, जो सत्तारूढ़ दल पर एक महत्वपूर्ण संवैधानिक अवरोध है। इसी प्रकार, सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर प्रति पांचवें वर्ष (या इससे पूर्व) आम चुनाव के दौरान, मतदातागण को भी मंत्री परिषद (सरकार) के कार्यों का लेखा जोखा लेने का अवसर प्राप्त होता है। यह संसदात्मक पद्धति में कार्यपालिका पर सामयिक अवरोध के सदृश है। पूर्व में, भारत के संविधान में अनुच्छेद ७५ (३) के अन्तर्गत मंत्री-परिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है। ब्रिटिश संविधान में इस सिद्धान्त को एक सर्वैधानिक परम्परा के रूप में मान्यता दी गई है। संक्षेप में, इस सिद्धान्त से यह तात्पर्य है कि मंत्री परिषद के स्थायित्व के लिए उसे लोक सभा का विश्वास प्राप्त रहना आवश्यक है और मंत्री परिषद के प्रति लोक सभा के विश्वास की अभिव्यक्ति बहुमत द्वारा उस सदन में होती है।

यहाँ यह ज्ञात करना उपर्युक्त होगा कि किन साधनों द्वारा सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को लागू किया जाता है। डा० अम्बेदकर ने इस संदर्भ में संविधान सभा में कहा था–'केवल प्रधान मंत्री के अनुमोदन के माध्यम से ही सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को कार्यान्वित किया जा सकता है। मेरे विचार में, सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को दो सिद्धान्तों के लागू करने से ही कार्यान्वित किया जा सकता है। एक तो यह कि किसी भी व्यक्ति को, बिना प्रधान मंत्री की सलाह के मंत्री-परिषद पर मनोनीत न किया जाये। दूसरा सिद्धान्त यह कि किसी भी व्यक्ति को मंत्री-परिषद के सदस्य के रूप में न रखा जाये, यदि प्रधान मंत्री कहता है कि उसे पदच्युत कर देना चाहिये। उन परि-स्थितियों में ही जब मंत्री-परिषद के सदस्यों को उनकी नियुक्ति तथा उन्हें

पदच्युत करने के दोनों मामलों में प्रधान मंत्री को नियन्त्रण में रखा गया है, हमारे सामूहिक उत्तरदायित्व के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है।"[1]

इसी मुद्दे पर प्रकाश डालते हुए डा० पायली का कहना है— इस तरह सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का क्रियान्वयन मंत्रियों को उनकी नियुक्ति और पदच्युति के सम्बन्ध में प्रधान मंत्री के नियन्त्रण में रखने के द्वारा ही सम्भव हुआ है।[2] संसद की कार्य प्रणाली के नियम १९८० (दि रूल्स आफ प्रोसीजर एण्ड कन्डक्ट आफ बिजनेसेज) के अनुसार मंत्री मण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए यह उल्लेख किया गया है कि पूरी मंत्री-परिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव रखा जा सकता है।

भारत में व्यावहारिक दृष्टिकोण से सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ बाधाएँ हैं। भारत की अधिकांश जनता अपढ़ है। ऐसी स्थिति में मतदाताओं की संसदात्मक प्रणाली के मूल सिद्धान्तों सम्बन्धी अनभिज्ञता के फलस्वरूप कदाचित संसद में राजनीतिक सन्तुलन सही रूप से न रह पाये। उदाहरण स्वरूप ऐसी स्थिति संसद में उत्पन्न हो सकती है जब किसी एक ही दल को इतना भारी बहुमत संसद में प्राप्त हो कि प्रतिपक्ष के दलों की स्थिति नाममात्र की रह जाये। भारतीय राजनीति में प० नेहरू के समय में १९५० से १९६४ तक देखा गया कि कांग्रेस के बहुमत के कारण संसद में दलीय स्थिति एक तरफ की असन्तुलन अवस्था में रही। १९७१ मार्च में हुए आम चुनाव में पुनः कांग्रेस को श्रीमती गांधी के नेतृत्व में लोक सभा में अत्यधिक बहुमत प्राप्त हो गया। स्वस्थ संसदात्मक पद्धति के अनुसार संसद में राजनीतिक दलों की स्थिति में सन्तुलन होना आवश्यक है और यह भी आवश्यक है कि राजनीतिक दलों की संख्या तीन से अधिक न हो। यहाँ पर मतदाताओं के दायित्वों के महत्व का आभास मिलता है क्योंकि यदि वे अपने मत का उपयोग इस तरह करें, जिससे कि स्थानीय, अप्रजातान्त्रिक, राष्ट्र-विरोधी बातों तथा धार्मिक अन्ध विश्वासों में डूबे रहने वाले राजनीतिक दलों की अपेक्षा राष्ट्रीय, धर्म निरपेक्ष तथा जनतान्त्रिक सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले राजनीतिक दलों को ही उनके मत प्राप्त हों तब ही स्वस्थ प्रजातन्त्र का विकास हो सकता है। संसद में यदि केवल दो या तीन राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं और सत्ताधारी दल का बहुमत इतना अधिक नहीं है कि प्रतिपक्ष दल या स्वस्थ आकांक्षाओं को रौंद सके, ऐसी

---

१ बी० आर० अम्बेदकर—कान्स्टीट्युशन असेम्बली डिबेट्स भाग ४ पृ० ११५९-६०।

२ एम० वी० पायली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १७६।

स्थिति मे मन्त्री-परिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का सही रूप से उपयोग होगा। और सरकार अपने कार्यों तथा नीतियो के लिए ससद के प्रति सजग और जागरुक रहेगी। परन्तु मार्च १९७१ मे सम्पन्न हुए आम चुनाव के परिणामस्वरूप श्रीमती गाधी के नेतृत्व मे काग्रेस (नई) को पुन प० नेहरू के जमाने की ठोस तथा अगाध बहुमत लोक सभा मे प्राप्त हुआ है, जबकि प्रतिपक्ष दलो को जिनकी अधिक सख्या होने के कारण प्रत्येक दल को काग्रेस की तुलना मे केवल नाममात्र के स्थान लोकसभा म प्राप्त हुए हैं। प्रतिपक्ष के आपस म अनेक दलो मे विभाजित होने के कारण, भारतीय राजनीति की सबसे बडी कमी आज भी एक स्वस्थ एव दृढ प्रतिपक्ष की अनुपस्थिति है। यह विदित रहे कि एक स्वस्थ एव दृढ प्रतिपक्ष द्वारा ही, ससदात्मक पद्धति म सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का वास्तविक रूप से क्रियान्वयन कराया जा सकता है।

सक्षेप मे उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के व्यावहारिक उपयोग के लिए निम्नलिखित दो आवश्यकताएँ हैं —

सर्वप्रथम, मत्री परिषद के निर्माण तथा विघटन के अधिकार प्रधान मन्त्री मे ही निहित हो। प्रधान मत्री की इच्छानुसार ही अन्य मत्री की नियुक्ति तथा पदच्युति की जाय।

द्वितीय, सरकार को जागरुक तथा सजग रखने के लिए, जिससे सामूहिक रूप से वह अपने दायित्वो को निभा सके, ससद मे एक ठोस तथा सुदृढ प्रतिपक्ष विरोधी दल हो, जिसकी अनुपस्थिति मे सरकार लापरवाह, अक्षम तथा निरकुश न बन सकेगी।

प्रधान मत्री एव मत्री परिषद

भारतीय ससदात्मक प्रणाली मे, इग्लैण्ड के समान प्रधान मत्री का अत्यधिक महत्व है। दोनो देशो म प्रधान मत्री की सवैधानिक स्थिति तथा शक्तियो मे समानता पाई जाती है, परन्तु उत्पत्ति के दृष्टिकोण से दोनो मे कुछ अन्तर है। ब्रिटेन के प्रधान मत्री के पद की उत्पत्ति, ब्रिटिश सवैधानिक इतिहास की एक रोचकपूर्ण घटना पर आधारित है। सन् १७१४ मे साम्राज्ञी ऐन की मृत्यु के पश्चात् इग्लैण्ड की राज गद्दी हेनोवर के राजकुमार जार्ज को प्राप्त हुई। जार्ज, अग्रेजी भाषा, रीति रिवाज एव राजनैतिक परम्पराओ से अनभिज्ञ थे। साम्राज्ञी ऐन के समय तक मत्रीमण्डल की अध्यक्षता सम्राट् या साम्राज्ञी द्वारा होती थी। परन्तु जार्ज की अनभिज्ञता के कारण, सबसे वरिष्ठ मत्री को अध्यक्ष मानने की परम्परा स्थापित हुई। अतएव जार्ज प्रथम के समय राबर्ट वालपोल इग्लैण्ड के प्रथम प्रधान मत्री, अपनी वरिष्ठता के कारण बने। वास्तव मे प्रधान मत्री पद का उल्लेख

ब्रिटिश संविधान में लिखित रूप से कहीं भी नहीं है। न ही १९०५ तक इस पद का उल्लेख किसी कानून में पाया जाता है। १९०५ में प्राथमिकता क्रम को निर्धारित करने के लिए एक अध्यादेश पारित किया गया, उसके अन्तर्गत प्रधान मंत्री को पाँचवाँ स्थान दिया गया। यह प्रथम कानून था जिसमें प्रधान मंत्री के पद को सर्वप्रथम लिखित रूप से मान्यता प्रदत्त की गई। वेतन निर्धारण के दृष्टिकोण से ब्रिटिश संसद ने क्राउन के मंत्रियों संबंधी अधिनियम १९३७ में प्रधान मंत्री पद का उल्लेख करते हुए, यह निर्धारित किया गया है कि प्रधान मंत्री का वेतन १०,००० पौण्ड प्रति वर्ष होगा।

अतः इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री के पद का आधार ब्रिटिश संविधान की एक परम्परा के रूप में है। जिसके आधार पर बहुमत दल के नेता को ही प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्ति किया जाता है।

भारतवर्ष में प्रधान मंत्री के पद का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद ७४ (१) में पाया जाता है, जिसके अनुसार राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिए मंत्री परिषद का प्रावधान किया गया है। मंत्री परिषद की अध्यक्षता का दायित्व प्रधान मंत्री में निहित किया गया है।

भारत के संविधान के अन्तर्गत, जैसा देखा जा चुका है, प्रधान मंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, परन्तु साधारणतया राष्ट्रपति का यह अधिकार नगण्य है, क्योंकि राष्ट्रपति प्रधान मंत्री के पद के लिए उसी व्यक्ति को आमंत्रित करेगा जिसको संसद में बहुमत दल का नेता माना गया हो; अर्थात्, लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल के वरिष्ठ नेता को ही उसे प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्त करना होगा।

ब्रिटेन में प्रधान मंत्री के तुल्य, भारत के प्रधान मंत्री का भारतीय संसदात्मक पद्धति में अत्यधिक महत्व है। हेराल्ड लास्की का, ब्रिटिश प्रधान मंत्री के लिए यह कहना है कि, "मंत्री परिषद के निर्माण का वह केन्द्र बिन्दु है, मंत्री परिषद के जीवन का वह केन्द्र बिन्दु है और मंत्री परिषद के मृत्यु का केन्द्र बिन्दु है।"[1] वास्तव में प्रधान मंत्री, मंत्री-परिषद का केन्द्र बिन्दु ही नहीं है, परन्तु वह सम्पूर्ण राष्ट्र का केन्द्र बिन्दु है, जैसा ग्रीव्ज कहते हैं—"सरकार राष्ट्र का स्वामी है, और वह सरकार का स्वामी है।"[2]

प्रधान मंत्री के संबंध में कहा गया है कि वह 'समकक्षों में सर्वश्रेष्ठ' है (Primus inter pares) परन्तु रेमजे मूर का कहना है कि प्रधान मंत्री के लिए

१. एच० जे० लास्की—पार्लियामेन्टरी गवर्नमेन्ट इन इंगलैण्ड, १९३८, पृ० २२८।

२. एच० आर० ग्रीव्ज—'द ब्रिटिश कान्स्टीट्युशन' १९५१ पृ० १०८-९।

उपर्युक्त शब्द अर्थहीन साबित होते हैं, जबकि उसमें अपने सहयोगियों को नियुक्त तथा पदच्युत करने की अत्यधिक शक्तियाँ निहित हैं। सर आइवर जैनिंग्ज का कहना है कि, " प्रधान मंत्री केवल समकक्षों में सर्वश्रेष्ठ ही नहीं है, वह उस सूर्य के तुल्य है, जिसके चारों ओर नक्षत्र परिक्रमा करते हैं।"[1]

प्रधान मंत्री की महत्वपूर्ण संवैधानिक स्थिति के संबंध में प० नेहरू ने जुलाई ३०, १९५६, में कहा था—"मैं जानता हूँ कि प्रधान मंत्री के क्या कर्तव्य हैं और संविधान के अन्तर्गत प्रधान मंत्री उस कील के सदृश है जो सरकार रूपी चक्र की धुरी पर लगी है और चक्र को गिरने से रोके रहती है।"[2] सर विलियम वर्नन हारकोर्ट ने ब्रिटिश प्रधान को जगमगाते सितारों के मध्य चन्द्रमा की उपमा दी है (Inter Stellas Luna Minores) प्रधान मंत्री की सर्वैधानिक स्थिति का महत्व उसकी विभिन्न शक्तियों के आधार पर ज्ञात किया जा सकता है। ये निम्नलिखित हैं।

मंत्री परिषद के संबंध में—पूर्व में इस विषय पर बल दिया जा चुका है, कि संसदात्मक सरकार के मूल सिद्धान्त मंत्री-परिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के सही क्रियान्वयन के लिए यह आवश्यक है कि मंत्रियों की नियुक्ति तथा उन्हें पद-च्युत करने का अधिकार वास्तव में प्रधान मंत्री में निहित हो। अतः ब्रिटेन के प्रधान मंत्री के लिए यह उचित ही कहा गया है कि वह अपने समूह (मंत्री मण्डल) के सदस्यों को स्वेच्छा से अदल-बदल सकता है। वस्तु स्थिति यह है कि प्रधान मंत्री ही मंत्री-परिषद का निर्माण करता है। सम्राट द्वारा मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार केवल औपचारिक ही है। परन्तु इस अधिकार का उपयोग प्रधान मंत्री निरंकुश रूप से नहीं कर सकता है। प्रधान मंत्री को मंत्रियों की नियुक्तियों के संबंध में अनेक तत्वों को ध्यान में रखना होगा। उदाहरण स्वरूप दलीय एकता, भौगोलिक प्रतिनिधित्व परम्पराएँ एवं राजनीतिक स्थिति आदि तत्वों को मंत्रियों की नियुक्ति करते समय प्रधान मंत्री को अपने ध्यान में रखना होगा। अतः प्रधान मंत्री स्वेच्छा से तो इस अधिकार का उपयोग कर सकता है, परन्तु जैसा डा० फाइनर ने कहा है—वह कैसर (जर्मनी के निरंकुश शासक) के सदृश नहीं है, इसमें कोई संदेह नहीं है कि अन्तिम निर्णय प्रधान मंत्री के हाथ में ही है। विभागों का, मंत्रियों में वितरण करने का अधिकार भी प्रधान मंत्री का ही है उदाहरण स्वरूप श्रीमती गांधी ने मार्च १९७१ के आम चुनाव के पश्चात जिसमें उनको लोकसभा में विशाल बहुमत प्राप्त हुआ विभागों का

---

१. आई० जैनिंग्ज—कैबीनेट गवर्नमेन्ट, १९५१, पृ० १८३।
२. प० नेहरू—द ट्रिब्यून, जुलाई ३१, १९५६।

विवरण अपने निर्णयानुसार किया । इस मामले के प्रसंग में श्री प्रधान मंत्री पर कतिपय तत्वों का प्रभाव रहता है । दल के कतिपय सदस्यों के प्रभावशाली, एवं जनता द्वारा प्रबल रूप से समर्थित होने के कारण, इन सदस्यों की इच्छाओं को ठुकराया नहीं जा सकता है । श्रीमती गांधी की मंत्री परिषद में, जिसका निर्माण मार्च, १९७१, में हुआ, श्री जगजीवनराम, प्रतिरक्षा मंत्री, श्री चव्हाण, वित्त मंत्री, श्री स्वर्णसिंह, विदेश मंत्री, एवं श्री फखरूद्दीन अहमद, खाद्य मंत्री, पुनः नियुक्त किये गये । इस तरह विभागों के वितरण के समय दल के सदस्यों की वरीयता तथा प्रभाव का ध्यान रखा जाता है ।

प्रधान मंत्री किसी मंत्री के कार्यों या आचरण से असंतुष्ट होने के कारण उससे त्यागपत्र माग सकता है । जैसा श्रीमती गांधी ने उप प्रधान मंत्री एवं तत्कालीन वित्तमंत्री श्री मोरारजी देसाई को १९६९ में मंत्री परिषद पर से इस कारण से हटा दिया कि वे उनकी वित्त संबंधी नीतियों से सन्तुष्ट नहीं थीं । यदि मंत्री प्रधान मंत्री से मतभेद होने पर भी त्यागपत्र नहीं देता है तो प्रधान मंत्री उस मंत्री को पदच्युत करने के लिए राष्ट्रपति को परामर्श दे सकता है । पं० नेहरू के कार्यकाल में श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जी, श्री सी० डी० देशमुख और श्री टी० टी० कृष्णाचारी ने और श्रीमती गांधी के कार्यकाल में श्री चागला, श्री पुनाचा एवं श्री जयसुखलाल हाथी आदि मंत्रियों ने प्रधान मंत्री से मतभेद के कारण त्याग पत्र दिये थे ।

प्रधान मंत्री को किसी भी मंत्री की पदोन्नति या पदावनति का भी अधिकार है । श्रीमती गांधी ने १९६७ के आम चुनाव के पश्चात् श्री दिनेशसिंह को राज्य मंत्री से केबिनेट स्तर के मंत्री (विदेश मंत्री) के पद पर नियुक्त किया ।

प्रधान मंत्री मंत्री-परिषद का अध्यक्ष या सभापति होता है । उसके द्वारा ही मंत्री-परिषद की कार्य सूची निर्धारित की जाती है । मंत्री-परिषद की सारी गति-विधियों एवं कार्रवाई का संचालन प्रधान मंत्री ही करता है । यद्यपि मंत्री-परिषद के निर्णय मतदान के आधार पर ही लिये जाते हैं, प्रधान मंत्री का प्रभाव एवं सलाह बहुमत निर्णय पर पहुँचने के लिए निर्णायक होते हैं । मंत्री-परिषद के अध्यक्ष के नाते प्रधान मंत्री का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि मंत्री परिषद में एकता तथा सुदृढ़ता कायम रखे क्योंकि मंत्री परिषद के अस्तित्व का आधार निम्नलिखित सिद्धान्तों में निहित भावना में पाया जाता है । 'हमारा अस्तित्व इसलिए है कि हम सब एक हैं, विभक्त होने पर हमारा अस्तित्व नष्ट हो जायेगा', और 'हम सब एक साथ तैरते हैं या सब साथ-साथ डूबते हैं ।' इस एकता की भावना की सुदृढ़ता प्रधान मंत्री के दक्ष नेतृत्व पर ही निर्भर है । यह स्वाभाविक है कि कुछ परिस्थितियों में कतिपय मंत्रियों या विभागों में मतभेद उत्पन्न हो जाये, ऐसी परिस्थिति में प्रधान मंत्री अपने नेतृत्व, व्यक्तिगत तथा मध्यस्थता से स्थिति को सुधार कर पुनः एकता स्थापित कर सकता है ।

राष्ट्रपति एवं मंत्री मण्डल के मध्य कड़ी के रूप में प्रधान मंत्री की भूमिका

ब्रिटिश संसदात्मक प्रणाली के अन्तर्गत सम्राट् के अधिकारों के सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वाल्टर बेजहाट ने कहा था कि औपचारिक प्रधान होने के नाते, सम्राट् के केवल तीन ही अधिकार बचे रह गये हैं। वे अधिकार इस प्रकार हैं, १–प्रोत्साहित करने का अधिकार, २–चेतावनी देने का अधिकार, एवं, ३–विचार-विमर्श करने का अधिकार। यह विदित है कि यह अधिकार राष्ट्र के सार्वजनिक मामलों के सम्बन्ध में है। चूंकि राष्ट्र की प्रगति का उत्तरदायित्व प्रधान मंत्री के नेतृत्व में मंत्री मण्डल पर निर्भर रहता है अतः राष्ट्राध्यक्ष के लिए सार्वजनिक मामलों की जानकारी का सब से प्रभावशाली माध्यम प्रधान मंत्री ही है, जिसके नेतृत्व में मंत्री मण्डल राष्ट्र की नीतियों एवं कार्यों का निर्धारण करता है। ब्रिटेन में प्रधान मंत्री को राजा एवं मंत्री मण्डल के मध्य एक कड़ी के सदृश, परम्परा के आधार पर, माना गया है। भारतीय संविधान में प्रधान मंत्री की इसी प्रकार की भूमिका को अनुच्छेद ७८ के अन्तर्गत मान्यता दी गई है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत मंत्री मण्डल द्वारा भारत संघ संबंधी विषयों पर लिये गये निर्णय प्रधान मंत्री द्वारा राष्ट्रपति को प्रेषित किये जायेंगे। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति तथा मंत्री मण्डल के बीच की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, जिससे प्रधान मंत्री, मंत्रीमण्डल के संघ-सम्बन्धी मामलों पर लिये गये निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत कराता है।

शासन के कतिपय महत्वपूर्ण पहलुओं से संबंधित प्रधान मंत्री की भूमिका

भारतीय संसदात्मक पद्धति में प्रधान मंत्री शासन का वास्तविक प्रधान है। वास्तव में, यदि प्रधान मंत्री के दल को संसद के निचले सदन में बहुमत प्राप्त है तो राष्ट्रपति को अपनी शक्तियों का उपयोग मंत्री मण्डल की, जिसका अध्यक्ष प्रधान मंत्री है, सलाहानुसार करना आवश्यक है।

भारत के महान्यायवादी (Attorney-General) का पद संघीय कार्यपालिका से संबन्धित है। इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। यह अधिकारी भारत सरकार का प्रमुख विधि अधिकारी है। केवल उन व्यक्ति की ही नियुक्ति इस पद पर हो सकती है, जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद के योग्य है। महान्यायवादी का वेतन राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित नियमों के अन्तर्गत, ४,००० रुपये तथा ३५० रुपये भत्ते प्रतिमाह स्वीकृत है।

महान्यायवादी के भारत सरकार के कानूनी मामलो के सम्बन्ध मे निम्न-लिखित कार्य हैं —

क—भारत सरकार को कानूनी मामलो पर परामर्श देना एव उन कानूनी कार्यों का सम्पादन करना जो उसको भारत सरकार द्वारा सौंपे गये हैं।

ख—सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष भारत सरकार के समस्त मामलो का प्रतिनिधित्व करना।

ग—सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष भारत सरकार का प्रतिनिधित्व ऐसे प्रकरणो के सम्बन्ध मे करना, जो राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के ग्रनुच्छेद १४३ के ग्रन्तर्गत प्रेषित किये गये हैं।

घ—महान्यायवादी को ऐसे कार्यों का सम्पादन करना ग्रावश्यक है जो उसको सविधान या वर्तमान कानून के ग्रन्तर्गत सौंपे गये हैं।

संघीय संसद

भारतीय सविधान के अनुच्छेद ७९ के अनुसार सघीय व्यवस्यापिका सभा को सघीय ससद की सज्ञा दी गई है। सघीय ससद के प्रमुख अग राष्ट्रपति तथा दो सदन है। इसमे से निम्न सदन लोकसभा (House of People) और उच्च सदन, राज्य सभा (Council of States) कहा जाता है। राष्ट्रपति के सघीय कार्यपालिका का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होने पर भी, उसे सघीय ससद के सबध मे सविधान के अनुसार कुछ महत्वपूर्ण कार्य सौपे गये हैं।

ससद का सगठन

क—राज्य सभा (Council of States) भारतीय ससद के उच्च सदन को राज्य सभा नाम दिया गया है जिसमे २५० से अधिक सदस्य नही होगे। इनमे से १२ सदस्यो को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है और शेष सदस्यो का निर्वाचन सघ के विभिन्न राज्यो की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्यो द्वारा एकल सक्रमणीय प्रणाली के आधार पर किया जाता है। अनुच्छेद ८० के अनुसार केन्द्र प्रशासित क्षेत्रो के प्रतिनिधि ससद द्वारा निर्मित विधि मे निहित प्रक्रिया के अनुसार आयेंगे। राज्य सभा के १२ सदस्यो को राष्ट्रपति उन व्यक्तियो मे से मनोनीत करेगा जिन्हे साहित्य, विज्ञान, कला, सामाजिक सेवा आदि के क्षेत्रो मे विशेष ज्ञान या अनुभव है।

राज्य सभा की सदस्यता के लिए सविधान के अन्तर्गत निम्नलिखित अर्हताएँ होनी चाहिए —

१. भारतीय नागरिक होना चाहिये,

२. तीस वर्ष की आयु होनी चाहिये और

३ अन्य वे सभी अर्हताएँ जो ससदीय कानून द्वारा निर्धारित की गई हो।

जन प्रतिनिधित्व कानून १९५१ (People's Representation Act 1951) के अनुसार राज्य सभा मे निर्वाचित होने के लिये एक व्यक्ति को ससदीय निर्वाचक होना आवश्यक है, जहां से वह राज्य सभा के चुनाव के लिए खडा होता है।

राज्य सभा एक स्थायी संस्था है, जिसके एक तिहाई सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं। इस तरह राज्य सभा के प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल ६ वर्ष का होता है।

भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का सभापति होता है। अमरीकी उपराष्ट्रपति के सदृश भारतीय उपराष्ट्रपति उच्च सदन का सदस्य नहीं है और अमरीकी उपराष्ट्रपति के समान ही सिवाय मतदान की समानता की स्थिति में, उसे मतदान करने का अधिकार नहीं है। राज्य सभा के सभापति को कुछ महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। वह किसी भी सदस्य को वाद-विवाद में हिस्सा लेने के लिए अधिकृत कर सकता है। उसे सदन में अनुशासन बनाये रखने का भी अधिकार है। सदन के पटल पर प्रश्न रखने और परिणामों को घोषित करने का अधिकार सभापति को है। अनुच्छेद ८९ (२) के अनुसार राज्य सभा एक उपसभापति का निर्वाचन करती है। सभापति की अनुपस्थिति में या जब सभापति (भारत का उपराष्ट्रपति) राष्ट्रपति पद पर है, उपसभापति राज्य सभा की अध्यक्षता करता है। दोनों—सभापति तथा उपसभापति की अनुपस्थिति में, सदन के नियमों के अन्तर्गत, राज्य सभा सभापति नियुक्त करती है।

ख—लोकसभा संसद के निम्न सदन को, जो जनता का प्रतिनिधि सदन है, लोकसभा (House of People) कहा जाता है। लोक सभा के सदस्यों की संख्या, अनुच्छेद ८१ के अनुसार ५०० निर्धारित की गई थी, परन्तु सातवें संशोधन सन् १९५६ द्वारा यह संख्या बढ़ा कर ५२० कर दी गई है। लोकसभा के सदस्य मतदाताओं द्वारा विभिन्न राज्यों में प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के आधार पर निर्वाचित किये जाते हैं और २० सदस्य संघीय भू-भागों (Union Territories) और उत्तर-पूर्व सीमान्त क्षेत्रों में से संसद द्वारा निर्धारित प्रक्रियानुसार चुने जाते हैं। संविधान के अनुच्छेद ३२६ के अनुसार लोकसभा के चुनाव वयस्क मताधिकार सिद्धान्तानुसार सम्पन्न किये जायेंगे। संक्षेप में, इस सिद्धान्त का यह अर्थ है कि भारत के प्रत्येक नागरिक को, जो २१ वर्ष की आयु का है और किसी कारण संविधान के अन्तर्गत अयोग्य नहीं है, लोकसभा के चुनाव में मतदान करने का अधिकार है। लोकसभा के प्रत्येक सदस्य का निर्वाचन इस तरह होगा, कि वह ५,००,००० से अधिक जनसंख्या का प्रतिनिधित्व न करे। अनुच्छेद ३३१ के अनुसार राष्ट्रपति को लोकसभा के लिए दो आंग्ल—भारतीयों को मनोनीत करने का अधिकार है, यदि उसके विचार में आंग्ल-भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व लोकसभा में पर्याप्त नहीं हैं। इसी तरह अनुच्छेद ३३० (१) के अनुसार लोकसभा में निम्नलिखित वर्गों के लिए स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं (१) अनुसूचित वर्ग, (२) अनुसूचित जातियों, सिवाय उन जातियों के जो आसाम के अनुसूचित क्षेत्र में है, और (३) आसाम के स्वायत्त जिलों की अनुसूचित जातियों।

लोकसभा का कार्यकाल पाँच वर्ष का है, यदि इससे पूर्व यह भंग नही हो जाती है। अनुच्छेद (२) के अनुसार जब देश मे संकटकालीन उद्घोषणा लागू है तब लोकसभा के कार्यकाल में संसदीय कानून द्वारा, एक समय में एक वर्ष के लिए वृद्धि की जा सकती है। परन्तु किसी भी परिस्थिति में संकटकालीन उद्घोषणा के समाप्त होने के बाद ६ माह से अधिक के लिए यह लागू नही की जा सकती है। लोकसभा के सदस्यों का चुनाव सार्वजनिक वयस्क-मताधिकार के आधार पर सम्पन्न किया जाता है। लोक सभा के चुनाव के लिए मतदाता की योग्यताएँ इस प्रकार हैं :—

१. वह भारत का नागरिक हो।

२. उसकी आयु २१ वर्ष की हो।

३. वह निर्वाचन क्षेत्र मे कम से कम १८० दिन तक निवास कर चुका हो, और संसद द्वारा घोषित कोई अयोग्यता उसमें न हो।

लोकसभा की सदस्यता के लिए संविधान के अनुच्छेद ८४ के अनुसार प्रत्येक सदस्य को अधोलिखित अर्हताएँ पूर्ण करनी होंगी।

१. भारत का नागरिक होना आवश्यक है।

२. २५ वर्ष से कम आयु न हो और,

३. वे अन्य अर्हताएँ होनी चाहिएं जो संसदीय कानून द्वारा निर्धारित की गई हैं। अनुच्छेद १०२ (१) के अनुसार कोई भी व्यक्ति लोक सभा सदस्य नहीं हो सकता है यदि

(१) वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन लाभ के पद पर है, सिवाय उस पदाधिकारी के जिसके संबंध में संसद ने यह कानून पारित किया है कि वह इस अयोग्यता से मुक्त होगा।

सन् १९५१ में जाँच समितियों, निगमों तथा आयोगों के सदस्यों, तथा १९५४ में विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों, संसद के उपप्रधान सचेतकों तथा नेशनल कैडेट कोर और क्षेत्रीय सैन्य दल के अधिकारियों को, इस संदर्भ में उपर्युक्त अयोग्यता से मुक्ति प्रदान की गई है।

(२) वह किसी न्यायालय द्वारा पागल घोषित किया गया है।

(३) वह दिवालिया है।

(४) भारत का नागरिक नही है अथवा उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त करली है, अथवा वह किसी अन्य राज्य के प्रति भक्ति रखता है।

(५) संसद द्वारा निर्मित किसी कानून के द्वारा या अन्तर्गत अयोग्य न हो। इस संदर्भ में संसद ने १९५१ में कुछ अयोग्यताओं का निर्धारण किया है जो निम्नानुसार हैं :—

(क) यदि उस व्यक्ति ने निर्वाचन सबधी कोई अपराध किया है।

(ख) यदि उस व्यक्ति को किसी अपराध के लिए दो वर्ष से अधिक की सजा मिली है तथा दण्ड से मुक्ति मिले उसे पांच वर्ष से अधिक नही हुए हैं।

(ग) यदि उसे किसी सरकारी नौकरी मे से भ्रष्टाचार के कारण निकाला गया है।

(घ) यदि वह सरकार से सबधित किसी अनुबन्ध या कारखाने मे भागीदार है।

यदि लोकसभा के सदस्य होने के पश्चात् उपर्युक्त कारण से कोई व्यक्ति अयोग्य हो जाता है तो वह लोकसभा का सदस्य नही रह सकेगा। किसी सदस्य के अयोग्यता सबधी मामले का निर्णय राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की सलाह से करता है। यदि कोई सदस्य लगातार ६० दिवस तक लोकसभा की बैठको से अनुपस्थित रहता है तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है।

सदस्यो के विशेषाधिकार

सविधान के अन्तर्गत ससद के सदस्यो को कतिपय विशेषाधिकार प्रदान किये गये हैं। अनुच्छेद १०५ के अन्तर्गत सदस्यों को सदन मे या सदन की किसी भी समिति मे भाषण देने की स्वतत्रता होगी और भाषण मे अभिव्यक्त विचारो के कारण उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नही की जा सकती है। दीवानी मामलो के लिए, ससद के अधिवेशन प्रारम्भ होने के चालीस दिन बाद तक, किसी सदस्य की गिरफ्तारी नही की जा सकेगी। परन्तु फौजदारी मामलो के लिए किसी सदस्य को गिरफ्तार किया जा सकता है। ससद के सदस्यो को वेतन तथा भत्ते ससद द्वारा पारित विधि के अनुसार दिए जायेंगे।

लोक सभा का अध्यक्ष (स्पीकर)

लोकसभा के विभिन्न पदाधिकारियो मे अध्यक्ष (स्पीकर) का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वास्तव मे, भारत मे अध्यक्ष पद का विकास, ब्रिटिश कामन्स सभा के अध्यक्ष के पद के आधार पर हुआ है। १९२१ से, जब प्रथम अध्यक्ष सर फेडरिक व्हाइट की नियुक्ति केन्द्रीय व्यवस्थापिका के निचले सदन के अध्यक्ष के रूप मे भारतीय गवर्नर जनरल द्वारा चार वर्ष के लिये की गई थी, भारत मे केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के निचले सदन के सात अध्यक्ष हुए हैं, जिन्होंने इस सस्था की स्वतत्रता एव निष्पक्षता स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ये अध्यक्ष (स्पीकर) हैं—सर फेडरिक व्हाइट, श्री वि० जे० पटेल, श्री जी० वी० मवलकर, श्री एम० ए० आय्यगर, सरदार हुकुमसिंह, श्री एन० सजीव रेड्डी,

एव वर्तमान ग्रध्यक्ष श्री गुर दयाल सिह ढिल्लो । इन्होने ग्रध्यक्ष पद के गौरव ग्रौर प्रतिष्टा को अपने ग्रथक प्रयत्नो द्वारा बढाया है ।

भारतीय सविधान के ग्रनुच्छेद ६३ के ग्रनुसार लोकसभा स्वय अपने ग्रध्यक्ष का निर्वाचन करती है । ग्रनुच्छेद ६४ (ग्र) के ग्रनुसार ग्रध्यक्ष को सदन का सदस्य होना जरूरी है । ग्रनुच्छेद ६४ (स) के ग्रनुसार, ग्रध्यक्ष को लोकसभा के बहुमत प्रस्ताव से पदच्युत किया जा सकता है, परन्तु इस प्रस्ताव को पारित करने के पूर्व चौदह दिन की सूचना देनी ग्रावश्यक है । ग्रध्यक्ष स्वय इस्तीफा दे सकता है । सविधान द्वारा उपाध्यक्ष के पद का भी प्रावधान किया गया है, जो ग्रध्यक्ष की ग्रनुपस्थिति म या ग्रध्यक्ष पद के खाली हाने पर ग्रध्यक्ष के कार्यों को सम्पन्न करेगा । ससदीय कार्य प्रणाली के नियम १६५० के ग्रनुसार (नियम ७) ससद के ग्रारम्भ होने के समय या समयानुसार ग्रध्यक्ष, ससद के सदस्यो म से ६ सदस्यों की एक सूची बना लेगा, जिसमे से एक सदस्य ग्रध्यक्ष एव उपाध्यक्ष की ग्रनुपस्थिति मे सदन की ग्रध्यक्षता करेगा । यदि इन ६ सदस्यो म से कोई भी उपस्थित न हो तो सदन अपने सदस्यो मे से किसी को भी ग्रध्यक्ष पद पर निर्वाचित कर सकता है । ग्रनुच्छेद ६६ (१) के ग्रनुसार न तो ग्रध्यक्ष, न उपाध्यक्ष उस वक्त सदन की ग्रध्यक्षता करेगा, जब उसके स्वय के पदच्युत करने के मामले पर वादविवाद हो रहा है, परन्तु ऐसी स्थिति मे ग्रनुच्छेद ६६ (२) के ग्रनुसार ग्रध्यक्ष या उपध्यक्ष को विवाद मे हिस्सा लेन तथा अपना बचाव करने का पूर्ण ग्रधिकार होगा ।

ग्रध्यक्ष के वेतन तथा भत्ते का निर्धारण ससद करती है। उसको भारत की सचित निधि मे से वेतन तथा भत्ते दिये जायेंगे ।

ग्रध्यक्ष के कार्य तथा शक्तियाँ

ब्रिटेन मे, एक सवैधानिक ग्रभिसमय के ग्रनुसार ब्रिटिश ग्रध्यक्ष को समान मतदान की स्थिति मे निर्णायक मत देने का ग्रधिकार है । भारतीय सविधान ग्रनुच्छेद १००(२)के ग्रनुसार लोकसभा के ग्रध्यक्ष को समान मतदान की स्थिति मे निर्णायक मत देने का ग्रधिकार है । लोकसभा की ग्रध्यक्षता, ग्रध्यक्ष (स्पीकर) ही करता है । वह लोकसभा की कार्यवाही की नियम सबधी ग्रापत्तियो पर निर्णय देता है । उसका निर्णय ग्रन्तिम होता है । लोकसभा मे वाद-विवाद मे हिस्सा लेने के लिए वह सदस्यों को मान्यता देता है । सविधान के ग्रनुच्छेद ११० (३) के ग्रनुसार ग्रध्यक्ष को इस विषय पर निर्णय देने का ग्रधिकार है कि एक विधेयक साधारण है या वित्त विधेयक । वह ससद के दोनो सदनों की सयुक्त बैठको की ग्रध्यक्षता करता है ।

ग्रध्यक्ष के कार्यों तथा शक्तियों का विस्तृत रूप से उल्लेख ससद की कार्य-वाही के नियम १६५० मे किया गया है, जो निम्नानुसार है ।

१—सदन के नेता की सलाह से राष्ट्रपति के भाषण में उल्लिखित विषयों पर वाद विवाद के लिए अध्यक्ष द्वारा समय का निर्धारण किया जाता है। राष्ट्रपति के भाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव में संशोधन के स्वरूप को अध्यक्ष ही निर्धारित करता है। अध्यक्ष को यह अधिकार भी है कि राष्ट्रपति के भाषण से संबंधित विषयों पर सदस्यों के लिए भाषण की समयावधि भी निर्धारित करे।

२—सदन के नेता की सलाह अनुसार अध्यक्ष सदन की कार्रवाई का क्रम निर्धारित करता है।

३—अध्यक्ष इस विषय पर निर्णय लेता है कि सदन के समक्ष प्रस्तुत प्रश्न स्वीकार करने योग्य है या नहीं। नियम के विरुद्ध प्रश्नों को वह अस्वीकृत करता है।

४—किसी महत्वपूर्ण सार्वजनिक मामले पर वाद विवाद करने के लिए काम रोको प्रस्ताव पारित करने के लिए अध्यक्ष की अनुमति आवश्यक है। और ऐसे विषय पर वार्ता के लिए भी अध्यक्ष द्वारा ही समयावधि का निर्धारण किया जाता है।

५—यदि अध्यक्ष गजट में किसी विधेयक के प्रकाशन के आदेश दे देता है तो उस विधेयक को सदन में प्रस्तुत करने के प्रस्ताव की आवश्यकता नहीं होती है।

६—प्रवर समितियों (सलेक्ट कमेटीज) के अध्यक्षों की नियुक्ति अध्यक्ष विभिन्न समितियों के सदस्यों में से करता है।

७—किसी विधेयक पर वाद विवाद स्थगित करने के लिए प्रस्ताव के लिए अध्यक्ष की सहमति आवश्यक है।

८—अध्यक्ष किसी प्रस्ताव को स्वीकृत करने के लिए निर्णय लेता है।

९—अध्यक्ष बजट पर भाषणों के लिए समय सीमा निर्धारित करता है और वह वित्त विधेयक संबंधी कार्रवाई को पूरा करने के लिए आवश्यक कदम ले सकता है।

१०—अध्यक्ष राष्ट्रपति तथा संसद के मध्य सम्पर्क-साधन की कड़ी के रूप में कार्य करता है।

११—वह सदन में सदस्यों को भाषण देने के लिए मान्यता प्रदान करता है। साथ ही वह भाषणों का क्रम भी निर्धारित करता है। सदन के सदस्य आपस में प्रश्न द्वारा एक दूसरे को सम्बोधन न करते हुए अध्यक्ष को ही सम्बोधित करते हैं।

१२—अध्यक्ष सदन की कार्यवाही की नियम संबंधी आपत्तियों पर निर्णय देता है और उसका निर्णय अंतिम होता है।

१३—अध्यक्ष सदन में अनुशासन बनाए रखता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसको आवश्यक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। किसी सदस्य को सदन की व्यवस्था भंग करने पर अध्यक्ष उसको चेतावनी दे सकता है। और आवश्यकता-

नुसार ऐसे सदस्य को सदन से बाहर जाने के लिए बाध्य कर सकता है । यदि सदन में, अशान्ति तथा अव्यवस्था से गंभीर स्थिति हो जाती है तो अध्यक्ष सदन की बैठक को स्थगित कर सकता है ।

१४—अध्यक्ष सदन मे दर्शकों के प्रवेश पर नियन्त्रण रखता है । साथ ही उनको सदन से बाहर जाने के लिए कह सकता है ।

१५—अध्यक्ष को यह अधिकार है कि वह सदन की कार्यवाही से ऐसे शब्दों को निकाल दे जो उसके मतानुसार मानहानिजनक, अशिष्ट या असंसदीय है ।

१६—जब अध्यक्ष सदन को संबोधित करता है तब सदस्यों को बाहर नहीं जाना चाहिये ।

अध्यक्ष के उपर्युक्त कार्यों के दृष्टिकोण से उसको सदन के मुखरूप के तुल्य माना जा सकता है । वह सदन के अधिकारों का अभिभावक है और विशेषकर सदन के अल्पसंख्यकों के हितों का रक्षक है । वह सरकार द्वारा सदन के अधिकारों का अतिक्रमण करने से रोकता है । जब मंत्री सदन में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर देने में आनाकानी करते हैं या जब उनके द्वारा सदन को पर्याप्त जानकारी नहीं दी जाती है, तो सदस्यगण अध्यक्ष से सदन के अधिकारों की रक्षा करने की अपील कर सकते हैं । वास्तव में, भारतीय संसदीय प्रणाली में लोकसभा का अध्यक्ष उस संतुलन चक्र के तुल्य है, जिससे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के संबंधों में जनतांत्रिक सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि जैसा देखा जा चुका है, अध्यक्ष में ऐसी शक्तियों को निहित किया गया है, जिनसे वह सदन के विरुद्ध कार्यपालिका (शासन) के अतिक्रमणों पर अवरोध लगा सकता है । अध्यक्ष की उपर्युक्त भूमिका को ध्यान में रखते हुए, पं० नेहरू ने, जब वे संविधान सभा में श्री वी० जे० पटेल की तस्वीर का अनावरण कर रहे थे, मार्च ८ सन् १९४८ को निम्नलिखित ऐतिहासिक शब्द कहे—"सरकार की ओर से मैं यह कहूँगा कि हम यह चाहेंगे कि माननीय अध्यक्ष अब और हमेशा सदन की स्वतंत्रता की रक्षा प्रत्येक प्रकार के खतरे से करेंगे—कार्यपालिका के अतिक्रमण के खतरे से भी । यह खतरा हमेशा बना रहता है कि एक राष्ट्रीय सरकार अल्पसंख्यकों के विचारों के दमन करने का प्रयत्न करे और ऐसी स्थिति में ही अध्यक्ष का यह दायित्व हो जाता है कि वह सदन के प्रत्येक सदस्य तथा प्रत्येक इकाई की एक प्रभुत्वपूर्ण सरकार से रक्षा करे ।...विट्ठल भाई पटेल ने इन परम्पराओं की नींव डाली जो अब अध्यक्ष पद से स्थायी रूप से संबंधित हो गई ।—मैं आशा करता हूँ कि यह परम्परा बनी रहेगी क्योंकि अध्यक्ष का पद किसी व्यक्ति-विशेष की प्रतिष्ठा नहीं है । अध्यक्ष सम्पूर्ण सदन की प्रतिष्ठा का प्रतिनिधित्व करता है और चूंकि सदन सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है अतः अध्यक्ष राष्ट्र की स्वतंत्रता का प्रतीक माना जा सकता है । यह उपयुक्त है कि अध्यक्ष का पद निष्पक्ष पद हो,

एक प्रतिष्ठा पूर्ण पद हो और इस पद पर हमेशा विशेष क्षमतावान तथा निष्पक्ष व्यक्ति आसीन हो।"

इंग्लैण्ड में अपने निर्वाचन के तुरन्त पश्चात् कामन्स सभा का अध्यक्ष दलगत राजनीति से सन्यास ले लेता है, और संसद के सम्पूर्ण कार्यकाल तक अपने पद पर रहता है। इंग्लैण्ड में अध्यक्ष पद से संबंधित कुछ स्वस्थ तथा महत्वपूर्ण परम्पराओं का विकास हुआ है, जो उसके पद को एक अनूठा संवैधानिक एवं न्यायिक महत्व प्रदान करती हैं, जिनसे न केवल अध्यक्ष के पद की प्रतिष्ठा बढ़ी है परन्तु इनके द्वारा अध्यक्ष पद को एक ऐसे आसन का रूप मिला है जो सदन के सदस्यों के अधिकारों तथा उनकी स्वतंत्रताओं के रक्षक के रूप में सफल सिद्ध हुआ है।

भारत में लोकसभा के अध्यक्ष पद की विवेचना करते हुए भूतपूर्व अध्यक्ष स्व० श्री जी० वी० मवलंकर ने अपने कार्यकाल में कहा था—"भारत में अध्यक्ष पूर्ण रूप से राजनीतिक क्षेत्र से बाहर नहीं है, जैसा कि ब्रिटिश कामन्स सभा का अध्यक्ष है। कुछ समय तक भारतीय अध्यक्ष को एक राजनीतिज्ञ के रूप में ही रहना चाहिये, परन्तु साथ ही उसकी कार्यवाई पर विस्तृत प्रतिबन्ध हो। वह अपने दल का सदस्य रह सकता है, परन्तु उसको दल के कार्यों में कोई हिस्सा नहीं लेना चाहिये। संक्षेप में, अध्यक्ष को ऐसे राजनीतिक प्रचार से संबंधित नहीं होना चाहिये, न ही ऐसी राय व्यक्त करनी चाहिये, जिससे उसके अध्यक्ष पद को हानि पहुँचने की संभावना हो या जिससे यह निष्कर्ष निकाला जाने कि अध्यक्ष दलगत है। भारत के सार्वजनिक जीवन में राजनीतिक चेतना की स्थिति को देखते हुए यह अपेक्षा बहुत बड़ी होगी कि विभिन्न राजनीतिक आदर्शों में श्रद्धा रखने वाले लोग इस परम्परा का पालन करेंगे कि अध्यक्ष के पद के लिए चुनाव न लड़ा जाये। और यही भारतीय राजनीतिक जीवन का वह पक्ष है जिसके कारण ब्रिटिश अध्यक्ष पद से संबंधित परम्पराओं को पूर्णतया नहीं अपनाया जा सकता है"[1]

अतएव भारतीय लोकसभा का अध्यक्ष राजनीति से संबंधित है। वह एक दल से सम्बद्ध व्यक्ति है। इस कारण उसके पद की इतनी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है, जितनी की ब्रिटेन की कामन्स सभा के अध्यक्ष की है। लोकसभा के अध्यक्ष के दलगत होने के औचित्य के चाहे, कितने तर्क क्यों न दिये जायें, यह स्पष्ट है कि इससे अधिक औचित्य उस परम्परा का है जिसके अनुसार ब्रिटेन का अध्यक्ष निर्दलीय और फलस्वरूप निष्पक्ष होता है। यह स्वाभाविक ही है कि यदि अध्यक्ष को लोकसभा के अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं की उचित रूप से रक्षा

---

१. जी० वी० मवलंकर—'आस्पेक्ट्स आफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशन' एम० जी० गुप्ता द्वारा सम्पादित, १९६४, पृ० २४६-४७।

करना है तो उसका निर्दलीय होना अति-आवश्यक है। सविधान के लागू किये जाने के पश्चात सत्तारूढ काग्रेस दल के लिए यह श्रेयस्कर होता, यदि उसके प्रयत्नो से अध्यक्ष का पद निर्दलीय स्वरूप म विकसित होता । दलगत मामलो की दृष्टि से ही *दिसम्बर १६, १६५४, को अध्यक्ष के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव* पारित करने का प्रयत्न किया गया था। अत यह अत्यावश्यक है कि निर्वाचन के तुरन्त पश्चात् अध्यक्ष को समस्त दलगत सबधो को छोडकर दलगत राजनीति से सन्यास ले लिया जाये ।

भारतीय ससद की सार्वभौमिकता एव सवैधानिक स्थिति

सघीय व्यवस्थापिका के रूप म भारतीय सघीय ससद के लिए, सविधान के अन्तर्गत अनुच्छेद ७६ मे प्रावधान किया गया है। सविधान के अन्तर्गत ससद को सघीय एव समवर्ती सूचियो म उल्लिखित विषय पर विधि निर्माण करने का अधिकार है, *और कतिपय विशेष परिस्थितियो म उन विषयो पर भी जो राज्य* सूची मे हैं। ससद की सार्वभौमिकता का विचार ब्रिटिश सविधान की एक मूल विशेषता है। प्रो० ए० वी० डायसी के अनुसार ब्रिटिश ससद की सार्वभौमिकता का *विशिष्ट अर्थ निम्नलिखित रूप मे स्पष्ट किया गया है।*

'ब्रिटिश ससद की सार्वभौमिकता का अर्थ, ब्रिटिश सविधान के अन्तर्गत इसको परिभाषित करते हुए, यह है कि ससद को किसी भी विधि के निर्माण तथा उसे समाप्त करने का अधिकार है और ब्रिटिश विधि के अन्तर्गत किसी व्यक्ति या सस्था को ससद द्वारा निर्मित विधि के कुचलने या रद्द करने का अधिकार नही है। सकारात्मक दृष्टिकोण से, ससद की सावभौमिकता इस प्रकार है। ससद के किसी भी अधिनियम या अधिनियम के हिस्सो को, जिसके द्वारा नई विधि का निर्माण या किसी विद्यमान विधि का खण्डन या सशोधन होता है, न्यायालयो द्वारा मान्यता प्रदान की जायेगी। इसी सिद्धान्त को नकारात्मक दृष्टिकोण से देखा जाये तो इस प्रकार से उल्लिखित किया जा सकता है। 'ब्रिटिश सविधान के अन्तर्गत कोई व्यक्ति या सस्था ऐसे नियमो का निर्माण नही कर सकती है, जो ससद द्वारा पारित विधि को रद्द करे या तोडे या जिनको न्यायालय ससद के कानून के विरोध मे लागू करे।"[1]

कानूनी दृष्टिकोण से, ब्रिटिश ससद की सार्वभौम शक्तियाँ असीमित है। परन्तु ब्रिटिश ससद की सार्वभौमिकता की कतिपय नैतिक राजनीतिक एव अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ हैं जिनको बिना ध्यान रखे, वह कानूनो का निर्माण नही कर सकती है।

---

१ ए० वी० डायसी-ला आफ दी कान्स्टीट्यूशन, १६३८, पृ० ३७-३८।

अत, यद्यपि ब्रिटिश ससद की कानूनी दृष्टि से सार्वभौमिकता असीमित है, पर वह नैतिक तत्वों जनमत एव अन्तर्राष्ट्रीय कानून की महत्ता से अनभिज्ञ रहकर विधि निर्माण नहीं कर सकती है। तथापि ये सारी सीमाएँ, आधुनिक समय मे समस्त जनतांत्रिक राज्यों की व्यवस्थापिका सभाओं पर लागू हैं।

भारतीय ससद की सार्वभौमिकता उपर्युक्त सामान्य सीमाओं के अतिरिक्त हमारे लिखित सविधान के विभिन्न प्रावधानों द्वारा सीमित है विशेषकर, सविधान के उन प्रावधानों द्वारा जिनके सशोधन का एकाधिकार ससद को नहीं है। इन प्रावधानों म स, सघवाद सबधी प्रावधान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। "भारतीय ससद एक सघीय सविधान के अन्तर्गत व्यवस्थापिका सभा है। ब्रिटिश ससद के सदृश इसकी शक्तियाँ असीमित नहीं है।"[1]

भारतीय ससद एक लिखित सविधान का, जो कि देश का सार्वभौम कानून है, शिशु है। अमरीकी प्रणाली के सदृश भारतीय प्रणाली मे दो प्रकार के कानूनों म मूल अन्तर पाया जाता है। सर्वप्रथम देश के कानून के रूप मे लिखित सविधान, और द्वितीय, साधारण कानून जिनका निर्माण सविधान के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा किया जाता है। अत यह स्वाभाविक है कि सविधान द्वारा स्थापित विभिन्न व्यवस्थापिकाएँ सविधान के विरुद्ध कानून का निर्माण नहीं कर सकती हैं। भारतीय ससद तथा अमरीकी कांग्रेस, दोनों ही की, यही स्थिति है। भारतीय सविधान के अनुच्छेद २४५ (१) द्वारा यह स्पष्ट रूप से बतलाया है कि व्यवस्थापन शक्तियों का उपयोग ससद सविधान के अनुसार करगी।

तथापि ससद, सविधान द्वारा निर्धारित अपने क्षेत्र मे सार्वभौम है, परन्तु ब्रिटिश ससद की तुलना में इसकी शक्तियाँ कम हैं। यदि भारतीय ससद किसी ऐसे कानून का निर्माण करती है, जिससे सविधान का उल्लघन होता है तो भारतीय सर्वोच्च न्यायालय अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की तरह, सविधान विरोधी कानून को अवैध घोषित कर सकता है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मान्यता देना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, सविधान द्वारा यह भी प्रावधान किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय की सहायता के लिए सारे राजनीतिक, सिविल तथा न्यायिक अधिकारी कार्य करेंगे।

सविधान के लागू होने के पश्चात् कई ऐसे अवसर आये, जबकि सर्वोच्च न्यायालय न सविधान के सरक्षण के लिए ससद द्वारा पारित कतिपय कानूनों को अवैध घोषित किया। इनमें से कुछ कानूनों को उदाहरण स्वरूप ध्यान में लिया जा सकता है।

---

१. टी० के० तोपे—द कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया १९६३, पृ० २६८।

(१) हमदर्द दवाखाना तथा अन्य बनाम भारत सरकार तथा अन्य—सघ ससद ने १९५४ मे 'द ड्रग एण्ड मैजिक रेमेडीज' कानून पारित किया। इस कानून का उद्देश्य कतिपय, उपचारो के, जिनके लिए यह कहा गया था कि इनमे जादुई गुण है, विज्ञापन पर रोक लगाना था।

(i) इस कानून की वैधानिकता को हमदर्द दवाखाना तथा अन्यो ने इस आधार पर चुनौती दी कि इसके द्वारा अनुच्छेद १९ (१) (अ), और (१९) (१) (एफ), और (जी) मे उल्लिखित नागरिको के मूल अधिकारो (भाषण एव अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और व्यापार-व्यवसाय चलाने की स्वतन्त्रता) का उल्लघन किया गया। सर्वोच्च न्यायालय ने उपर्युक्त कानून के कुछ हिस्सो को अवैध ठहराया। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयानुसार उपर्युक्त कानून के भाग २ उपखण्ड (डी) के द्वारा कार्यपालिका को असीमित शक्तियाँ प्राप्त थी जो प्रत्यायोजित विधि की दृष्टि से गलत है।

(ii) उपर्युक्त कानून के भाग ८ को भी न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किया गया। इस सबध मे न्यायालय ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि "व्यवस्थापिका कानून निर्माण जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए करती है, अतएव कानूनो का निर्माण वह उनके उद्देश्य के अन्तर्गत करती है।"[1]

(२) यहाँ एक अन्य प्रकरण का अध्ययन वाछनीय प्रतीत होता है। यह प्रकरण है—ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य। श्री गोपालन को जो १९४७ से बन्दी थे, निवारक निरोध अधिनियम १९५० (जो सघ तथा राज्य सरकारो को किसी व्यक्ति को बन्दी बनाने के लिए जिसने भारत की प्रति रक्षा, भारत के किसी विदेश से सबध, भारत या भारत के किसी राज्य की सुरक्षा या शान्ति व्यवस्था और आवश्यक सेवाओ को कायम रखने के विरुद्ध कार्य किया है, आदेश जारी करने के लिए अधिकृत करता है) के अन्तर्गत उनके विरुद्ध आदेश जारी किया गया था। इस आदेश की वैधता को श्री गोपालन ने न्यायालय मे चुनौती दी। उनका तर्क था कि निवारक निरोध अधिनियम १९५० के द्वारा सविधान के अनुच्छेद १३, १९, और २१ का उल्लघन किया गया। उपर्युक्त अधिनियम के विभिन्न प्रावधानो का न्यायाधीशों ने सूक्ष्म अवलोकन किया। उनका उद्देश्य यह निर्धारित करना था कि इस अधिनियम द्वारा सविधान के अनुच्छेद २२ का उल्लघन हुआ या नही हुआ। न्यायाधीशो ने एकमत होकर निर्णय लिया कि निवारक निरोध अधिनियम का भाग-१४ सविधान के विरुद्ध है, क्योकि इसके द्वारा अनुच्छेद

---

१ हमदर्द दवाखाना व अन्य बनाम भारत सघ व अन्य—ए० आई० आर० १९६० एस० सी० ५५४।

२२ (५) का उल्लघन किया गया था। भाग-१४ के अनुसार न्यायालय पर प्रतिबन्ध लगाया गया कि बन्दी को भेजी गई सूचना में उल्लिखित बन्दी बनाने के कारणो के सबध म न्यायालय द्वारा कोई साक्ष्य या वक्तव्य नही लिया जा सकता है।[1]

इस प्रकरण म यह भी स्पष्ट है कि ससद के द्वारा पारित कानून का पुनरवलोकन कर सर्वोच्च न्यायालय ने इसके एक भाग को अवैध घोषित किया। इसी तरह १९६९ म पारित बैंक-राष्ट्रीयकरण कानून के एक भाग को सर्वोच्च न्यायालय ने अवैध ठहराया।

अत भारतीय ससद की सार्वभौमिकता सविधान द्वारा निर्धारित सीमाओ म ही वैधानिक रूप से उपयोग म लाई जा सकती है। जैसा, न्यायमूर्ति एस० आर० दास ने गोपालन बनाम मद्रास राज्य मे निर्णय देते हुए कहा था—"हमारे सविधान द्वारा, ब्रिटिश सविधान के विपरीत न्यायालयो की सर्वोच्चता को मान्यता दी गई है, परन्तु यह सर्वोच्चता अत्यन्त सीमित है क्योंकि यह उस व्यवस्थापन क्षेत्र तक सीमित है, जहाँ व्यवस्थापन सबधी शक्तियाँ सविधान द्वारा निर्धारित सीमाओ से नियन्त्रित हैं। इस सीमित क्षेत्र म न्यायालय, कानून के निरीक्षण के पश्चात् उसको अवैध घोषित कर सकते हैं, यदि कानून सवैधानिक दायरे के बाहर है। इन सीमित सवैधानिक सीमाओ के दायरे के बाहर हमारी ससद तथा राज्य विधान सभाएँ अपने-अपने व्यवस्थापन क्षेत्र मे सार्वभौम हैं। भारत मे न्यायालय के लिये अमरीकन सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका को निभाने के लिये कोई जगह नही है।"[2]

लोकसभा एव राज्यसभा के सम्बन्ध

आधुनिक समय म जनतत्र की सफलता के लिए, विभिन्न देशो ने सत्ता पर विभिन्न प्रकार के जनतात्रिक अवरोधो का उपयोग किया है। इस दृष्टिकोण से व्यवस्थापन के सम्बन्ध म द्विसदनात्मक प्रणाली का सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण जनतात्रिक अवरोध माना जा सकता है। राजनीति विज्ञान का यह एक महत्वपूर्ण सत्य है कि एक व्यक्ति की निरकुशता की तुलना म बहुसख्यको की निरकुशता अधिक हानिकारक तथा खतरनाक होती है। चूँकि जनतात्रिक राज्य म व्यवस्थापन के कार्य व्यवस्थापिका म बहुमत के आधार पर सम्पन्न किये जाते हैं अत आवश्यक यह

---

१ ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य—ए० आई० आर० १९५० एस० सी० आर० ८८।

२. एस० आर० दास० गोपालन बनाम मद्रास राज्य १९५० एस० सी० आर० ८८।

है कि इन कार्यों के लिए व्यवस्थापिका का संगठन द्विसदनात्मक सिद्धान्त पर हो, क्योंकि ऐसी स्थिति में बिना पारस्परिक सहमति के दोनों में से एक सदन अपनी इच्छा कानून के रूप में पारित नहीं कर सकेगा। यह सत्य है कि आधुनिक समय में द्वितीय सदनों की शक्तियाँ सीमित कर दी गई हैं परन्तु सभी जनतान्त्रिक देशों में उच्च सदनों का होना इस बात का प्रमाण है कि यह वास्तव में जनतन्त्र के लिए न केवल उपयोगी परन्तु आवश्यक भी है। उच्च सदन का औचित्य केवल इसलिए ही नहीं कि यह निम्न सदन द्वारा जल्दबाजी में पारित त्रुटिपूर्ण प्रस्तावों पर रोक लगाते हैं परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसके रहने से निचले सदन में यह चेतना जागृत रहती है कि विधि निर्माण में उसका एकाधिकार नहीं है। जान-स्टुअर्ट मिल ने व्यवस्थापिका के संगठन के सम्बन्ध में द्विसदनात्मक प्रणाली की आवश्यकता पर कहा है कि उसके मत में सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह है कि द्विसदनात्मक प्रणाली की अनुपस्थिति ऐसा बुरा प्रभाव डालेगी जो सत्तारूढ़ व्यक्ति या संस्था के दिमाग पर इस कारण पहुँचता है कि उनके विचार में उनके सिवाय किसी अन्य व्यक्ति या संस्था से सलाह लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। मिल का यह भी कहना था कि 'व्यक्तियों के किसी समूह को बिना दूसरों की सलाह के अपने मत को लागू करने का अधिकार नहीं होना चाहिये। एक संस्था में यदि कुछ व्यक्तियों का बहुमत स्थायी रूप प्राप्त कर लेता है और जिनको सदन में विजय प्राप्त करने का आश्वासन हमेशा मिलता रहता है वे आसानी से निरंकुश बन सकते हैं यदि उनको यह विदित रहता है कि उनके कार्यों के लिए उनको अन्य लोगों की सहमति लेने की आवश्यकता नहीं है।'[1]

जैसा कि देखा जा चुका है भारतीय संघीय संसद द्विसदनात्मक प्रणाली के सिद्धान्त पर आधारित है। संसद का निचला सदन लोकसभा, जनता का प्रतिनिधि सदन है जिसमें जनता के प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। संसद के उच्च सदन, राज्यसभा का संगठन संघवाद के सिद्धान्तानुसार किया गया है। फलस्वरूप राज्यसभा भारत संघ के विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु राज्यसभा और अमरीकी उच्च सदन सिनेट के संगठन में एक अन्तर है, इसके बावजूद कि दोनों सदन अपने संघ के राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अमरीकी संघ के प्रत्येक राज्य को सीनेट में दो सिनेटरों को राज्यों की जनसंख्या तथा भौगोलिक स्थिति की भिन्नताओं के बावजूद भी समान रूप से भेजने का अधिकार है, जबकि भारतीय राज्यसभा में प्रत्येक राज्य का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर निर्धारित किया गया है।

---

१ जे० एस० मिल—'रिप्रेजेन्टेटिव्ह गवर्नमेण्ट' १९८४, पृ० ९७-९८।

द्विसदनात्मक प्रणाली में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह पैदा होता है कि दोनों सदनों में किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिए। क्या दोनों सदनों को समान तथा समवर्ती अधिकार होने चाहिए ? क्या उच्च सदन को केवल एक सलाहकार संस्था के रूप में कार्य करने चाहिए। भारतीय संविधान निर्माताओं ने इन जटिल प्रश्नों का हल बुद्धिमतापूर्ण तथा व्यवहारिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कुछ मामलों में लोकसभा तथा राज्यसभा को समान अधिकार प्रदत्त किये गये हैं, परन्तु वित्त सम्बन्धी मामलों में और कार्यपालिका के उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को लागू करने में केवल लोकसभा को ही अधिकार प्रदत्त हैं। अतएव भारतीय राज्यसभा की स्थिति अमरीकी सिनेट तथा ब्रिटिश लार्ड सभा के मध्य की जा सकती है। राज्यसभा न तो अमरीकी सिनेट के तुल्य शक्तिशाली है और नहीं वह ब्रिटिश लार्ड सभा की भाँति कमजोर ही है।

राज्यसभा तथा लोकसभा के विभिन्न सम्बन्धों का अध्ययन निम्नलिखित तीन आधारों पर किया जा सकता है।

राज्यसभा तथा लोकसभा की समान शक्तियाँ

(क) सिवाय वित्त सम्बन्धी विषयों के अन्य विषयों पर लोकसभा तथा राज्य सभा के समान अधिकार हैं। धन (वित्त) विधेयक को छोड़कर अन्य विषय सम्बन्धी विधेयक दोनों सदनों में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वास्तव में यह समानता केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है, परन्तु सरकार ने समयानुसार इस समानता को व्यवहारिक रूप प्रदान करने के लिये राज्यसभा में विधेयक प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण स्वरूप हिन्दू विवाह (हिन्दू मैरेज) तथा तलाक सम्बन्धी विधेयक राज्यसभा में ही प्रस्तुत किया गया था। जब तक एक विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित नहीं हो जाता, उसे राष्ट्रपति की सहमति के लिए नहीं भेजा जा सकता है। यदि दोनों सदनों में किसी साधारण विधेयक पर संघर्ष है तो राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलवाकर संघर्ष का निपटारा किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद १०८ के अनुसार यदि संसद के दोनों सदनों में किसी विधेयक में संशोधन के सम्बन्ध में संघर्ष है या ६ माह से अधिक दूसरे सदन में विधेयक प्रस्तुत करने के पश्चात् हो चुके हैं, राष्ट्रपति उक्त विधेयक को विचार तथा मतदान करने के लिए दोनों सदनों को संयुक्त बैठक में भेजेगा एवं संयुक्त बैठक में पारित विधेयक संसद द्वारा पारित माना जायेगा और राष्ट्रपति के पास उसकी सहमति के लिए भेजा जायगा। संविधान में संयुक्त बैठक का प्रावधान एक रक्षानली के तुल्य है, जिससे दोनों सदन विवाद का निपटारा कर सकते हैं।

ख–राष्ट्रपति के निर्वाचन तथा उस पर महाभियोग लगाने के लिए लोकसभा तथा राज्यसभा को समान अधिकार हैं।

ग–संविधान के संशोधन के लिए दोनों सदनों को समान अधिकार प्राप्त हैं।

घ–सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक तथा मुख्य निर्वाचन अधिकारी को पदच्युत करने के संबंध में दोनों सदनों को समान अधिकार है।

राज्यसभा की वे शक्तियां जिनकी दृष्टि से राज्य सभा लोकसभा से कम शक्तिशाली है

क–वित्त संबंधी मामलों के सन्दर्भ में राज्यसभा में एवं लोकसभा की शक्तियों में स्पष्ट रूप से अन्तर है। संविधान के अनुच्छेद १०६ के अन्तर्गत वित्त विधेयक, राज्यसभा में प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। वित्त विधेयक केवल लोकसभा में प्रस्तुत किये जा सकते है और उन्हें पारित करने के लिए राज्यसभा की अनुमति आवश्यक नहीं हैं। अनुच्छेद १०६ के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा पारित करती है, उसके पश्चात् विधेयक को राज्यसभा के सुझावों के लिए भेजा जायेगा। राज्यसभा के लिए यह आवश्यक है कि विधेयक संबंधी सुझाव १४ दिन के अन्दर लोकसभा को भेजे। लोकसभा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राज्यसभा के सुझावों को स्वीकृत करे। यदि लोकसभा राज्यसभा से भेजे हुए वित्त विधेयक संबंधी सुझावों से सहमत है तो विधेयक को राष्ट्रपति की सहमति के लिए भेजा जायेगा। यदि राज्यसभा द्वारा दिये गये सुझाव लोकसभा को मान्य नहीं है तो उक्त वित्त-विधेयक को उसी मूल रूप में पारित माना जायेगा, जिसमें उसको लोकसभा ने पारित किया था। दोनों सदनों में वित्त विधेयक पर संघर्ष की स्थिति में संयुक्त बैठक के लिए संविधान में कोई प्रावधान नहीं है। अतः वित्त मामलों में लोकसभा का निर्णय अन्तिम है।

ख–संविधान के अनुसार संघीय मंत्रीमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व केवल लोकसभा के प्रति है। राज्यसभा को मंत्री मण्डल के संबंध में कोई विशेष शक्तियां नहीं हैं। राज्यसभा मंत्री मण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव नहीं रख सकती है और न ऐसे प्रस्ताव पर विचार-विमर्श कर सकती है। परन्तु लोकसभा को संविधान के अन्तर्गत यह अधिकार प्राप्त है कि मंत्री मण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर उसे त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकती है।

राज्यसभा एवं लोकसभा की इन असमानताओं के होने पर भी कुछ ऐसे तत्व हैं, जिनके द्वारा राज्यसभा सरकार को निश्चित रूप से प्रभावित कर सकती है। वे तत्व निम्नानुसार हैं।

१–संविधान में कोई ऐसा प्रावधान नहीं है कि मंत्रियों की नियुक्तियां राज्य-सभा से नहीं की जाये। अतएव समय-समय पर राज्यसभा से भी मंत्रियों की

नियुक्ति हुई है। उदाहरण स्वरूप प० गो० व० पन्त, जो राज्य सभा के ही सदस्य थे मत्री मण्डल मे एक महत्वपूर्ण विभाग के मत्री थे (गृहमत्री)। श्रीलालबहादुरजी शास्त्री के मत्री मण्डल मे श्रीमती गाधी राज्यसभा से ही सूचना एव प्रसारण विभाग मत्री नियुक्त की गई थी।

२—राज्यसभा के महत्व का आभास इस परम्परा से भी प्राप्त होता है कि केन्द्रीय मत्री प्राय राज्य सभा मे उपस्थित रहते हैं और विचार विमर्श तथा वाद-विवाद मे भाग लेते है।

३—राज्यसभा की उत्पति के समय से ही, सरकार ने राज्यसभा के सदस्यो के मत्रियो से प्रश्न पूछने के अधिकार को स्वीकृत किया है। यह भारतीय ससद की एक स्वस्थ एव महत्वपूर्ण परम्परा है, जिससे सरकार की नीतियो तथा कार्यों का स्पष्टीकरण राज्यसभा मे किया जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा राज्यसभा के सदस्यो की प्रतिष्ठा की प्रतीति होती है।

उपर्युक्त उल्लिखित तत्व राज्यसभा को सरकार की नीतियो तथा कार्यों पर स्वस्थ तथा जनतान्त्रिक प्रभाव डालने मे मदद पहुँचाते हैं। परन्तु यहाँ यह ध्यान मे रखना आवश्यक होगा कि सरकार पर राज्यसभा का प्रभाव लोकसभा की तुलना मे बहुत कम होगा।

राज्यसभा की विशेष शक्तियाँ

राज्यसभा को सघ के राज्या के प्रतिनिधि सदन होने के नाते कतिपय विशेष शक्तियाँ सविधान द्वारा प्राप्त हैं। ये दो प्रकार की हैं।

१—अनुच्छेद २४९ के अन्तगत यदि राज्यसभा यह प्रस्ताव बहुमत द्वारा पारित करती है कि किसी विषय (राज्य सूची मे उल्लिखित विषय पर भी) पर ससद को राष्ट्रीय हित मे विधि निर्माण करना आवश्यक है तो ससद उक्त विषय पर सम्पूर्ण भारत या उसके किसी भू-भाग या हिस्से के लिए विधि निर्माण कर सकेगी।

२—राज्यसभा दो तिहाई बहुमत द्वारा किसी अखिल भारतीय सेवा को स्थापित करने का निर्णय ले सकती है।

राज्य सभा की उपर्युक्त दो शक्तियो के सन्दर्भ मे डा० एन० बी० पायली कहते हैं—'सवैधानिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।'[१] इन दोनो विषयो के सबध मे राज्यसभा और लोकसभा की शक्तियो की तुलना करते हुए वह कहते

---

१ डा० एम० वी० पायली—इण्डिया ज़ कान्स्टीट्यूशन १९६२, पृ० १६८।

है—"अत दोनो मामलो मे लोकसभा सामने तब ही आती है, जब राज्यसभा निर्णय ले चुकी है, और लोकसभा, राज्यसभा के साथ इन दोना परिस्थितियो मे निर्णय लेने के लिए हिस्सेदार नही हैं। सविधान के इन प्रावधानो द्वारा राज्यसभा को सरकारी मशीनरी के एक महत्वपूर्ण हिस्मो न कि विभूषित ढांचे या अनावश्यक अग के रूप मे निर्मित किया गया है। इसका छोटा तथा फलस्वरूप ठोस, आकार इसका स्थायी स्वरूप, जिसके द्वारा इसके विचारो व कार्यों मे स्थायित्वता और निरन्तरता प्राप्त होती है, और इसका विस्तृत आधार वाला प्रतिनिधि स्वरूप—इन सबके द्वारा इसको भविष्य म न केवल एक प्रतिष्ठित, परन्तु लाभदायक और प्रभावशील सस्था के रूप मे, परन्तु जो सभा के समान शक्तिशाली नही होगी, स्थापित होने मे सहायता मिलेगी।"[1]

प्राय सभी आधुनिक जनतान्त्रिक राज्यो मे व्यवस्थापिका के सदस्यो के स्वतत्र रूप से कार्यो को सम्पन्न करने की शक्ति पर कतिपय आवश्यक जनतान्त्रिक अवरोधों का उल्लेख करते हुए मेकआइवर कहते है कि "इनमे से एक व्यवस्थापिका के दो सदनो के रूप म है, क्योकि प्रत्येक सदन को एक दूसरे की सहमति आवश्यक है। बिना इसके विधि का निर्माण नही हो सकता है।"[2]

भारतीय सविधान के अन्तर्गत राज्यसभा तथा लोकसभा की सवैधानिक शक्तियो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि भारतीय ससद के दोनो सदन आवश्यकतानुसार एक दूसरे के प्रति जनतान्त्रिक अवरोधो के रूप मे भूमिका निभा कर वास्तव म जनता की इच्छा को शासन की नीतियो तथा कार्यों मे लागू करवाने म सफल होंगे। इस भूमिका का महत्व सविधान मे सशोधन करने के समय विदित होता है। सविधान के सशोधन के लिए दोनो सदनो को समान अधिकार है। परन्तु यदि सविधान सशोधन विधेयक लोकसभा मे जल्दबाजी और उत्तेजना पूर्वक पारित कर दिया जाता है तो राज्यसभा के सदस्य अपने अनुभव तथा परिपक्वता का लाभ एक शान्तिपूर्ण तथा उत्तेजनारहित वातावरण मे, जो प्राय. राज्यसभा मे पाया जाता है, उपयोग मे लाते हुए, लोकसभा पर किसी मूल सवैधानिक विषय के सदर्भ मे अवरोध लगा सकते हैं। १९७० मे जिस जल्द बाजी से देशी राज्यो के प्रीविपर्स विधेयक को लोकसभा ने उक्त विषय पर सविधान सशोधन करने के लिए पारित किया था, राज्यसभा ने इस विधेयक को पारित होने से रोक दिया, क्योकि उस वक्त जनमत राजाओ के प्रीविपर्स के सबध मे पूर्णरूप से स्पष्ट नही था। अत यह स्पष्ट है कि इन विशेष शक्तियो से राज्य

---

१ डा० एम० वी० पायली—इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन पृ० १६८।
२. आर. मेकआइवर—'द मार्डन स्टेट, १९२६, पृ० ३०५।

सभा को विभूषित करते हुए, भारतीय संविधान निर्माताओं ने अपनी दूरदर्शिता तथा बुद्धिमता का परिचय दिया। हम को यह विदित है कि राज्यसभा और लोकसभा अपने पारस्परिक संबंधों में एक दूसरे के प्रति जनतांत्रिक अवरोध के समान तो कार्य कर सकती है, परन्तु राज्यसभा, लोकसभा के रास्ते में एक रोड़े के रूप में रहकर उचित रूप से अपने कार्य को कभी भी नहीं कर सकेगी।

भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था में, संसद के दोनों सदन एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी नहीं, वरन जनतंत्र को सफल बनाने के कार्य में साझेदार हैं। अतः यह आवश्यक है कि राज्यसभा तथा लोकसभा पारस्परिक संघर्षों का निपटारा, इस उद्देश्य को प्रथम समक्ष रखते हुए करें, कि इन दोनों को जनता के इच्छानुसार व्यवस्थापन के कार्य, शान्ति पूर्वक सह अस्तित्व की भावना से प्रेरित होकर करना है। प्रो० मोरिस जोन्स का कथन है—"यह स्पष्ट है कि यदि दोनों सदन समान कार्यों को करने के इच्छुक हैं तो शान्तिपूर्वक सह-अस्तित्व की भावना बनी रहना कठिन है। साथ ही यदि इन सदनों की भूमिका में स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया तो इनमें प्रतिद्वन्दिता की भावना बनी रहेगी . . .। प्रतिद्वन्दिता, राजनीतिक क्षमता के लिए अत्यन्त हानिकारक है। इसमें जनता की निगाहों में संसद की प्रतिष्ठा कम हो सकती है।"[1] कतिपय मामलों से यह गलतफहमी पैदा हो गई है कि राज्य-सभा लोकसभा के प्रतिद्वन्दी के रूप में कार्य करना चाहती है। सर्वप्रथम १९५३ के बजट अधिवेशन के दौरान दोनों सदनों में गंभीर संघर्ष हुआ। अप्रैल २९, १९५३ को राज्य सभा ने आयकर (संशोधन) विधेयक पर विचार-विमर्श आरम्भ किया, जो लोकसभा द्वारा पारित हो चुका था। लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा पूर्व में ही प्रमाणित कर दिया गया था कि यह विधेयक वित्त-विधेयक था, परन्तु राज्यसभा के कुछ सदस्यों ने आपत्ति उठाई कि यह विधेयक वित्त-विधेयक नहीं था। विधि मंत्री श्री बिश्वास ने, जो कि न केवल राज्यसभा के सदस्य थे, परन्तु उसके नेता भी, ऐसी स्थिति में कहा—"यदि राज्यसभा को कहा जाता है कि लोक-सभा के अध्यक्ष ने इस प्रश्न का पूर्णरूप से परीक्षण किया है और विधेयक संबंधी प्रमाण सदन में स्वतंत्रता पूर्वक एवं निष्पक्ष रूप से विचार-विमर्श करने के पश्चात् ही दिया गया है तो राज्यसभा सन्तुष्ट हो जायेगी। अगले दिन लोकसभा के एक सदस्य ने यह प्रस्तावित करने का प्रयत्न किया कि विधि मंत्री का वक्तव्य औचित्यहीन था तथा अध्यक्ष की प्रतिष्ठा के विरुद्ध था। फलस्वरूप लोकसभा के अध्यक्ष ने कहा कि सदन में इस विषय पर वाद-विवाद के दौरान विधि मंत्री की उपस्थिति वाछनीय होगी। तत्पश्चात् राज्यसभा में एक प्रस्ताव पारित किया गया कि सदन का यह मत है कि सदन के नेता को निर्देश दिये जायें कि किसी भी

१. डब्लयू० एच० मोरिस जोन्स—पार्लियामेन्ट इन इंडिया, १९५७ पृ० २६२।

हैसियत से वह लोकसभा में उपस्थित न हो। तब लोकसभा में राज्यसभा के अध्यक्ष की ओर से एक संदेश पढ़ा गया कि किसी भी, और विशेषकर, राज्यसभा के नेता की कभी भी यह इच्छा नहीं थी कि लोकसभा के अध्यक्ष की सत्यता तथा निष्पक्षता पर शंका कर कीचड़ फेंके। इस सदन का उद्देश्य (राज्यसभा का) हमेशा यह रहा है कि लोकसभा के अध्यक्ष की प्रतिष्ठा का, और उस सदन के अध्यक्ष की प्रतिष्ठा को, और उस सदन के अधिकार का सम्मान उसी तरह से करें, जिस तरह हमारी अपेक्षा है वह सदन हमारे अधिकारों का सम्मान करेगा। विधि मंत्री ने राज्यसभा के प्रस्ताव के प्रति अपनी सहमति प्रकट की। परन्तु लोकसभा के सदस्यों ने राज्यसभा के इस प्रस्ताव पर घोर आपत्ति प्रकट की। अंत में विधि मंत्री के क्षमा मांगने और प्रधान मंत्री के लोकसभा को अपील करने पर दोनों सदनों में संघर्ष समाप्त हुआ।

राज्यसभा तथा लोकसभा में संघर्ष का दूसरा महत्वपूर्ण मामला, राज्यसभा के कुछ सदस्यों की, राज्यसभा के लिए अपनी प्राक्कलन तथा लोकलेखा समितियों की मांग से प्रारम्भ हुआ था। उनकी मांग थी कि राज्यसभा के प्रतिनिधियों को लोकसभा की प्राक्कलन तथा लोकलेखा समितियों में रखा जाये। जनवरी, १९५३ में राज्यसभा ने इस विषय पर एक संयुक्त समिति स्थापित करने के लिए सुझाव लोकसभा को भेजे गये। साथ ही यह भी सुझाव दिया गया कि चूँकि लोकसभा की लोकलेखा समिति में १५ सदस्य तो थे ही समिति में राज्यसभा के, प्रतिनिधियों को और सम्मिलित कर लिया जाये। तत्पश्चात् यह मामला लोकसभा की नियम समिति को प्रेषित किया, जिसके समक्ष पहले ही लोकलेखा समिति का प्रस्ताव था कि संयुक्त समिति, या राज्यसभा के लिए एक पृथक् समिति का गठन करना संविधान में निहित सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा। लोकलेखा समिति के उपर्युक्त प्रस्ताव में इसी बात पर बल दिया गया कि लोकसभा के अध्यक्ष को सदन एवं लोकलेखा समिति के अधिकारों का संरक्षण करने के लिए कुछ कदम उठाना तथा राज्यसभा को सूचित करना, आवश्यक है कि उसका सुझाव अवैधानिक है क्योंकि यह लोकसभा के वित्त संबंधी मामलों के क्षेत्र में, जिसमें लोकसभा को सर्वाधिकार है, हस्तक्षेप होगा। लोकसभा की नियम समिति द्वारा उपर्युक्त बात की पुष्टि की गई। लोकसभा की नियम समिति ने यह भी कहा कि वित्त क्षेत्र में लोकसभा का विशेष उत्तरदायित्व है, जिसमें वह अन्य किसी को हिस्सेदार नहीं बना सकती है। अन्त में प्रधान मंत्री ने लोकसभा में प्रस्तावित किया कि राज्यसभा को लोकलेखा समिति पर सात सदस्य मनोनीत करने की अनुमति दी जाये। प्रधान मंत्री ने लोकसभा को संबोधित करते हुए कहा कि इस मामले में लोकसभा की लोकलेखा समिति का डर कि राज्यसभा के अधिकारों का विघटन होगा, आधार रहित है। परिणाम

स्वरूप दिसम्बर, १९५३ मे उपर्युक्त प्रस्ताव स्वीकृत हो गया और राज्यसभा के प्रतिनिधियो को नई लोकलेखा समिति मे सम्मिलित कर लिया गया। राज्यसभा और लोकसभा के मध्य सघर्ष का तीसरा महत्वपूर्ण मामला १९५४ मे हुआ। श्री एन० सी० चटर्जी, हिन्दू महासभा के लोकसभा मे नेता, ने एक भाषण के दौरान यह कहा था कि ससद का उच्च सदन जो वास्तव मे वरिष्ठ लोगो का सदन होना चाहिये, उसके सदस्य बच्चो की तरह दायित्वहीन व्यवहार कर रहे हैं। राज्यसभा के अध्यक्ष ने सचिव को इस मामले के सबध मे सारी जानकारी हासिल करने को कहा। राज्यसभा के सचिव ने श्री एन० सी० चटर्जी को पत्र लिखकर जानकारी चाही तब लोकसभा के समक्ष वह बात आई। तत्पश्चात् दोनो सदनो की अधिकार समितियाँ ने सयुक्त बैठक मे कुछ नियमो का निर्धारण किया, जिनके अन्तर्गत किसी भी सदन के सदस्य द्वारा दूसरे सदन के अधिकारो के उल्लघन के मामले का उचित रूप से निवारण किया जा सके।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ तक राज्यसभा तथा लोकसभा के सम्बन्ध का प्रश्न है, मूल आवश्यकता यह है कि दोनो सदन प्रतिस्पर्धा की भावना त्यागकर सविधान द्वारा निर्धारित दायरे मे एक दूसरे के प्रति सहयोग तथा सामजस्य की भावना के अनुसार अपने कार्य करें। प्रत्येक सदन को, सविधान द्वारा निर्धारित सीमाओ तथा सिद्धान्तो को ध्यान मे रखते हुए अपने दायित्वो को उचित रूप से निभाना चाहिये। अत. राज्यसभा की जो भी भूमिका सविधान के अन्तर्गत ढाली जायेगी, वह किसी स्थिति मे लोकसभा के, जो कि जनता का सदन है, अधिकारो तथा दायित्वो के विरुद्ध नही हो सकती है। राज्यसभा, जैसा सर सिडनी लो ने ब्रिटिश लार्ड सभा के लिए कहा है—'राजनीति को साधारण चक्रमार्ग से निकाल कर उन मूल सिद्धान्तो तथा दूर के परिणामो पर ध्यान दें जिनके लिए एक व्यस्त जनसभा और दलीय कार्यपालिका को न तो समय, न विचार है।"[1] राज्यसभा मे वाद-विवाद के स्तर पर टिप्पणी देते हुए, 'ओब्जर्वर स्टेट्समेन', ४ सितम्बर १९५४ के राजनीतिक सम्वाददाता ने कहा कि राज्यसभा के पिछले सप्ताह के विदेशी मामलो सम्बन्धी वाद-विवाद मे विपुलता की झलक पाई जाती है, जो दूसरे सदन के लिए एक उपयोगी आदर्श हो सकती है।

सक्षेप मे, जिन विषयो के लिए लोकसभा तथा राज्यसभा को समान अधिकार हैं, उनमे राज्यसभा लोकसभा से समान अधिकार की माग कर सकती है, परन्तु जिन विषयो के सम्बन्ध मे सविधान द्वारा राज्यसभा को लोकसभा की अपेक्षा सीमित शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं या कोई शक्तियाँ नही दी गई हैं उनके सम्बन्ध मे राज्यसभा को लोकसभा के साथ प्रतिस्पर्धा करना अनुचित होगा।

---

१ सिडनी० लो—'द गर्वनेन्स आफ इग्लेण्ड, १९३१ पृ० २५०।

जनतंत्र में निम्न सदन, उच्च सदन की अपेक्षा शक्तिशाली होता है और उच्च सदन के अस्तित्व का औचित्य केवल इसी बात में है कि वह निम्न सदन पर विवेक पूर्ण प्रभाव डाले। यदि राज्यसभा को इस मूल बात का अहसास हो जाता है तो भविष्य में दोनों सदनों के मध्य संघर्ष की स्थिति बहुत कम पैदा होगी।

संघ संसद की शक्तियाँ

भारतीय संसद की शक्तियों का क्षेत्र संघीय लिखित संविधान द्वारा सीमित है। संसद द्वारा निर्मित कानूनों का न्यायिक पुनरावलोकन सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कानून की वैधता या अवैधता निर्धारित करने के लिए किया जा सकता है। तथापि तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय संघीय संसद की शक्तियाँ अन्य संघीय व्यवस्थापिकाओं की अपेक्षा अधिक हैं। अमरीकी कांग्रेस तथा आस्ट्रेलियन संसद राज्य सम्बन्धी विषयों पर कानून निर्माण नहीं कर सकती हैं। परन्तु भारतीय संसद को कतिपय परिस्थितियों में राज्यों के लिए कानून निर्माण करने का अधिकार है। उदाहरणार्थ, अनुच्छेद २५३ के अन्तर्गत किसी संधि या समझौते को लागू करने के लिए संसद कानून निर्माण कर सकती है, अनुच्छेद २५० के अन्तर्गत संकटकालीन स्थिति में संसद सम्पूर्ण देश के लिए कानून का निर्माण कर सकती है। संविधान में भारतीय संसद की शक्तियों का उल्लेख किसी एक अध्याय में नहीं किया गया है। संविधान के भाग पाँच के अध्याय तीन में जिसमें संसद के संगठन, अधिकारियों, सदस्यों की अयोग्यताएँ व्यवस्थापन तथा वित्त प्रक्रियाएं उल्लिखित हैं, संसद की सारी शक्तियों एवं कार्यों का उल्लेख नहीं है। इन सारी शक्तियों को संविधान के विभिन्न हिस्सों के अध्ययन द्वारा ही मालूम किया जा सकता है। चूंकि भारत में संसदीय प्रणाली स्थापित की गई है, अतः यह सरलता पूर्वक कहा जा सकता है कि भारतीय संसद के कार्य, उन देशों की संसद के तुल्य हैं, जहाँ संसदीय प्रणाली प्रचलित है।

भारतीय संसद की शक्तियों तथा कार्यों का, निम्नलिखित विभिन्न श्रेणियों में रख कर, अध्ययन किया जा सकता है।

१—व्यवस्थापन, २—कार्यपालिका का नियन्त्रण, ३—न्यायपालिका से संबंधित शक्तियाँ, ४—वित्त सम्बन्धी शक्तियाँ और ५—अन्य शक्तियाँ।

व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियाँ—संविधान के अनुच्छेद २४५ (१) के अनुसार संसद, संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत या इसके किसी भी हिस्से के लिए, तथा राज्य विधान सभा सम्पूर्ण राज्य या इसके किसी भी हिस्से के लिए विधि का निर्माण कर सकती है। इसी तरह अनुच्छेद २४६ (१) के अनुसार संसद को संविधान की सातवीं अनुसूची में उल्लिखित प्रथम सूची (संघ सूची) में उल्लिखित विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार है।

अनुच्छेद २४६ (२) के अनुसार संसद को संविधान की सातवीं अनुसूची में उल्लिखित तीसरी सूची (समवर्ती सूची) में उल्लिखित विषयों पर विधि का निर्माण करने का अधिकार है। अनुच्छेद २४६ (३) के अनुसार किसी भी राज्य की विधान सभा को राज्य या राज्य के किसी भी हिस्से के लिए, संविधान की सातवीं अनुसूची में उल्लिखित, दूसरी सूची (राज्य सूची) में उल्लिखित विषयों पर विधि का निर्माण करने का अधिकार है।

संक्षेप में, भारतीय संविधान द्वारा तीन व्यवस्थापन सम्बन्धी सूचियों का निर्धारण किया गया है, जिनका उल्लेख संविधान की सातवीं अनुसूची में है।

(क) संघसूची-जिसमें ९७ विषय हैं, जिन पर केवल संघ संसद विधि निर्माण कर सकती है।

(ख) राज्य सूची-जिसमें ६६ विषय हैं, जिन पर साधारणतया, केवल राज्य विधान सभा ही विधि का निर्माण कर सकती है। और,

(ग) समवर्ती सूची-जिसमें ४७ विषय हैं, जिन पर दोनों, संसद तथा राज्य विधान सभा को विधि निर्माण करने का अधिकार है। अनुच्छेद २५४ (१) के अनुसार यदि राज्य विधान सभा द्वारा निर्मित किसी विधि का, किसी प्रावधान का, संघ संसद द्वारा निर्मित विधि के किसी प्रावधान से संघर्ष होता है तो संघीय विधि मान्य होगी और जिस हद तक राज्य विधि का संघर्ष संघीय विधि से है, उस हद तक राज्य विधि को अवैध माना जायेगा। परन्तु अनुच्छेद २५४ (२) के अनुसार यदि समवर्ती सूची में उल्लिखित विषय पर निर्मित किसी राज्य विधि का संघर्ष, संघीय संसद द्वारा उसी विषय पर निर्मित विधि से है, और ऐसी राज्य विधि को राष्ट्रपति द्वारा सहमति प्राप्त हो गई है तो राज्य विधि को ही मान्यता प्राप्त होगी, परन्तु साथ ही उक्त विषय पर निर्मित राज्य विधि में जोड़ने, संशोधन, परिवर्तन या उसे समाप्त करने हेतु विधि पारित करने का अधिकार संसद में निहित है।

संविधान के अनुच्छेद २४८ (१) के अनुसार उपरोक्त तीन सूचियों द्वारा शक्ति के विभाजन के पश्चात् अवशिष्ट शक्तियाँ संघ संसद में ही निहित हैं।

निम्नलिखित कुछ विशेष परिस्थितियों में संघ संसद राज्य सूची सम्बन्धित विषयों पर विधि निर्माण कर सकती है।

क—जब राज्य सभा द्वारा दो-तिहाई बहुमत के आधार पर अनुच्छेद २४६ के अनुसार प्रमाणित कर दिया है कि राज्य सूची में उल्लिखित किसी विषय का महत्व राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, परन्तु राज्यसभा का प्रस्ताव एक वर्ष से अधिक समय तक नहीं रह सकता है।

ख—अनुच्छेद २५० (१) के अन्तर्गत संघ संसद सम्पूर्ण देश या उसके किसी हिस्से के लिए आपातकालीन स्थिति में कानून बना सकती है।

ग—अनुच्छेद २५२ (१) के अनुसार यदि दो या दो से अधिक राज्य की विधान समाओ को वाछनीय है कि उनके सम्बन्ध मे, सघ ससद राज्य सूची मे उल्लिखित किसी विषय पर विधि का निर्माण करे। ससद को उन राज्यो के लिए और भविष्य मे ऐसे राज्यो के लिए भी जिनकी विधान समाओ मे इस सम्बन्ध मे प्रस्ताव पारित किये गये हैं, विधि निर्माण करने का अधिकार होगा।

भारतीय सविधान के अन्तर्गत शक्ति के विभाजन की विशिष्ट प्रक्रिया अपनाने के फलस्वरूप यह स्पष्ट है कि ससद को अत्यधिक शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं। सविधान के अनुच्छेद २४६, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, तथा २५३, सघीय सिद्धान्त के बावजूद भी, भारतीय सघीय व्यवस्था के अन्तर्गत सघ ससद को एक शक्तिशाली सस्था बनाने मे सहायक हुए हैं, जिससे राष्ट्र की बुनियादी एकता के ढाँचे को स्थायी रखा जा सके।

ससद की व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियो की झलक ससद म विधि निर्माण प्रक्रिया मे प्रतिबिम्बित होती है। सविधान मे विधि निर्माण प्रक्रिया के सम्बन्ध म कोई विस्तृत उल्लेख नही है। साधारण विधेयको को (वित्त विधेयको को छोड कर) ससद के किसी भी सदन मे प्रस्तुत किया जा सकता है। और एक विधेयक को ससद द्वारा पारित तभी माना जायेगा, जब विधेयक दोनो सदनो म पारित हो चुका है। ससद के किसी भी सदन के समक्ष विचार के लिए विधेयक ससद के स्थगित होने से समाप्त नही हो जायेगा। लोकसभा के विघटन से उसके समक्ष जो विधेयक है, या जो उससे पारित होकर राज्यसभा को गया है, समाप्त हो जायेगा, परन्तु ऐसा विधेयक जिसकी उत्पत्ति राज्यसभा मे हुई है, लोकसभा के विघटन से समाप्त नही होगा। यदि लोकसभा के विघटन के पूर्व राष्ट्रपति द्वारा दोनो सदनो की बैठक बुलाई गई है तो विधेयक समाप्त नही होगा।

ससद द्वारा विधि निर्माण करने के लिए सविधान मे केवल उपर्युक्त बातो का ही उल्लेख है। विधि निर्माण प्रक्रिया के अन्तर्गत अन्य बातो को ससद के नियमो के अनुसार निर्धारित किया गया है। इन नियमो के अन्तर्गत दोनो सदनो के लिए समान विधि निर्माण प्रक्रिया का निर्धारण किया गया है। सदन म प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होने चाहिये। साधारण विधेयक को किसी मत्री या अन्य सदस्य द्वारा सदन मे प्रस्तुत किया जा सकता है। मत्री द्वारा प्रस्तुत साधारण विधेयक सरकारी विधेयक कहलाता है, जब कि साधारण सदस्य द्वारा प्रस्तावित विधेयक, साधारण सदस्य विधेयक कहलाता है। प्रत्येक सरकारी साधारण विधेयक को विधि का रूप धारण करने के लिए पाच चरणो को पार करना होगा।

प्रथम वाचन—सदन मे विधेयक का प्रस्तुतीकरण ही प्रथम चरण (स्तर) है। सदन के सचिवालय को विधेयक की एक प्रति सुपुर्द करना होना है। तत्पश्चात्

अध्यक्ष द्वारा विधेयक को किसी निश्चित तिथि की कार्यवाही की सूची में रख दिया जाता है। उस तिथि को प्रस्तावक अपनी जगह खड़े होकर उस विधेयक को सदन में प्रस्तुत करने की आज्ञा मांगता है। इस पर अध्यक्ष खड़े होकर कहता है कि विधेयक को प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में विधेयक का प्रस्तुतीकरण एक औपचारिकता मात्र है। प्राय परम्परानुसार इस स्तर पर विधेयक के सबंध में कोई वाद विवाद नहीं होता है। परन्तु पूर्व में, कुछ परिस्थितियों में इस स्तर पर विधेयक का विरोध किया गया है। यदि विधेयक का विरोध संवैधानिक आधार पर किया गया है तो अध्यक्ष वाद-विवाद के लिए अनुमति दे सकता है।

विधेयक के प्रस्तुतीकरण के पश्चात्, उसका प्रकाशन भारतीय गजट में कर दिया जाता है।

द्वितीय वाचन—विधेयक के प्रस्तुतीकरण के दो दिन पश्चात् ही द्वितीय वाचन प्रारम्भ होता है। यदि अध्यक्ष की राय में विधेयक का अत्यधिक महत्व है, तो प्रस्तुतीकरण के तुरन्त बाद, द्वितीय वाचन प्रारम्भ किया जा सकता है। द्वितीय वाचन के दौरान विधेयक सबंधी प्राप्त जानकारी तथा सुझाव के संक्षिप्त रूप सदन के सदस्यों के उपयोग के लिए वितरित किये जाते हैं। यदि अध्यक्ष अनुमति देता है तो उस विधेयक पर वाद विवाद हो सकता है, परन्तु यह विस्तृत रूप से नहीं होता है। यह चर्चा केवल विधेयक के मूल सिद्धान्तों, मुख्य उपबन्धों तक ही सीमित रहती है। प्रस्तावक सदस्य विधेयक को प्रवर समिति या दोनों सदनों की संयुक्त समिति को भेजने के लिए प्रस्ताव कर सकता है।

क—समिति स्तर—भारतीय संसद में केवल महत्वपूर्ण तथा जटिल विधेयकों को समिति के पास भेजा जाता है। प्रवर समिति के सदस्यों की संख्या २० से ३० तक होती है। प्रवर समिति में सत्तारूढ़ तथा विपक्षी दलों के सदस्य होते हैं। प्राय सत्तारूढ़ दल के सदस्यों की संख्या अधिक होती है। समिति में विधेयक पर गहराई से विचार-विमर्श होता है। विधेयक के उपबन्धों में संशोधन भी लाए जा सकते हैं। यदि किसी व्यक्ति की उपस्थिति या कागजात की आवश्यकता होती है तो प्रवर समिति इसकी माग करती है। जनता या प्रेस प्रतिनिधि बैठकों में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। अन्त में समिति अपना प्रतिवेदन सदन को भेजती है, जो प्रकाशित किया जाता है।

ख—प्रतिवेदन स्तर—जैसा देखा जा चुका है, समिति को विधेयक के सबंध में अपना प्रतिवेदन भेजना आवश्यक है। साधारणतया प्रतिवेदन को तीन माह के अन्दर भेजना आवश्यक है, परन्तु यदि सदन द्वारा कोई समयावधि निर्धारित कर दी गई है तो समिति को उसके अन्दर ही प्रतिवेदन देना होगा। प्रतिवेदन पर समिति के अध्यक्ष के हस्ताक्षर होना आवश्यक है। प्रतिवेदन स्तर के दौरान

विधेयक पर गहराई से वाद विवाद होते हैं। विधेयक के प्रत्येक भाग पर वाद-विवाद होता है तथा संशोधन प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वाद विवाद के पश्चात् विधेयक के प्रत्येक भाग और संशोधन पर मतदान होता है। बहुमत से विधेयक तथा उसमें विभिन्न संशोधनों के स्वीकृत होने पर, विधेयक सदन में विधि-निर्माण-प्रक्रिया के अन्तिम चरण पर पहुँचता है।

तृतीय वाचन—सदन में विधेयक पर तृतीय वाचन, उसका अंतिम चरण है। इस अन्तिम चरण में विधेयक के संबंध में यह प्रस्तावित किया जाता है कि उसे पारित किया जाये। इस समय विधेयक पर गहराई से विचार विमर्श नहीं किया जाता है। परन्तु विधेयक के पक्ष या विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं, तथापि इस स्तर में लम्बे भाषण नहीं होते हैं। यदि उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा विधेयक पारित हो जाता हैं तो उसे सदन द्वारा पारित माना जायेगा। अन्त में विधेयक को दूसरे सदन में भेजने के पूर्व सदन के अध्यक्ष या सचिव द्वारा विधेयक का प्रमाणीकरण होना आवश्यक है।

दूसरे सदन में भी उसी प्रकार की विधि-निर्माण प्रक्रिया का अनुसरण होगा, जिस प्रकार की प्रक्रिया का उपयोग पहले सदन में किया गया था। दूसरे सदन के समक्ष दो विकल्प हैं। प्रथम, विधेयक को उसी रूप में पारित करना जिस रूप में वह पहले से उसके समक्ष आया था। द्वितीय विकल्प विधेयक में संशोधन करना है। ऐसी स्थिति में विधेयक पुन पहले के सदन के समक्ष भेजा जायेगा। यदि दूसरे सदन द्वारा प्रस्तावित संशोधन के फलस्वरूप दोनों सदनों में मतभेद उभरते हैं तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आमंत्रित करेगा, जिसका सभापति लोक सभा का अध्यक्ष होगा। इस प्रकार की संयुक्त बैठक में साधारण बहुमत द्वारा ही विधेयक पारित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि लोक सभा के सदस्यों की संख्या राज्यसभा के सदस्यों के लगभग दुगुनी होने के कारण, लोक सभा का मत ही अन्तिम होगा।

दोनों सदनों द्वारा पारित होने के पश्चात्, विधेयक को राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति के समक्ष दो विकल्प है। पहला यह उस विधेयक की स्वीकृति प्रदान कर दे जिसके फलस्वरूप विधेयक विधि के रूप में अंगीकृत हो जाता है। द्वितीय राष्ट्रपति अपने सुझावों सहित, विधेयक को संसद के पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है, परन्तु ऐसी स्थिति में, यदि विधेयक संसद द्वारा पुन पारित किया जाता है, तो राष्ट्रपति के सुझाव सहित या बिना उन सुझावों के पारित करना होगा। ऐसे विधेयकों को राष्ट्रपति अनुमति देने के लिए बाध्य होगा। राष्ट्रपति की स्वीकृति से विधेयक, विधि में परिवर्तित हो जायेगा।

साधारण-सदस्य-विधेयक (प्रायव्हेट मेम्बर्स बिल) संबंधी विधि निर्माण प्रक्रिया और उपरोक्त उल्लिखित सरकारी साधारण विधेयक विधि निर्माण में थोड़ा-सा ही

अन्तर है। साधारण-सदस्य-विधेयक को साधारण-विधेयक समिति (प्रायव्हेट विधेयक समिति) के पास भेजा जाता है। १९५३ में इस समिति को स्थापित किया गया था। इस समिति मे अध्यक्ष सहित १५ सदस्य होते हैं। समिति के अध्यक्ष को सदन के अध्यक्ष मनोनीत करते हैं। समिति के प्रतिवेदन की प्रतियो को सदन के सदस्यो को वितरित किया जाता है। यही विधेयक का सदन मे औपचारिक प्रस्तुतीकरण है। इसके बाद विधेयक को पारित करने के लिए उसी प्रक्रिया को उपयोग मे लाया जाता है, जो सरकारी साधारण (अवित्तीय) विधेयको के लिए उपयोग मे लाई जाती है। साधारण सदस्य-विधेयक को पारित करने के लिए, प्रस्तुतकर्ता को सरकारी सदस्यो के सहयोग की निरन्तर आवश्यकता रहती है, उनके सहयोग के बिना साधारण-सदस्य विधेयक (प्रायव्हेट मेम्बर्स बिल) के पारित होने की कल्पना भी नही की जा सकती है।

कार्यपालिका को नियन्त्रण करने सबधी शक्तियाँ

ससद की कार्यपालिका सबधी शक्तियो के मुख्यत तीन स्रोत हैं, जिनके आधार पर ससद कार्यपालिका का नियन्त्रण करने मे समर्थ है।

सर्वप्रथम, अनुच्छेद ५६ के अन्तर्गत ससद के निर्वाचित सदस्य, राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्वाचन सस्था का एक हिस्सा है। भारत के उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए अनुच्छेद ६६ के अन्तर्गत, ससद के निर्वाचित सदस्य निर्वाचन-सस्था के सदस्य होते हैं।

द्वितीय, ससद की एक अन्य, परन्तु सक्रियात्मक तथा प्रभावपूर्ण शक्ति का उल्लेख सविधान के अनुच्छेद ६१ मे किया गया है, जिसके अनुसार ससद राष्ट्रपति को सविधान का उल्लघन करने के लिए महाभियोग लगाकर पदच्युत कर सकती है। उपराष्ट्रपति को भी ससद इसी कारण से महाभियोग द्वारा पदच्युत कर सकती है।

तृतीय, कार्यपालिका को नियन्त्रित करने की दृष्टि से, ससद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण शक्ति सघीय मत्रीमण्डल के सबध मे है। अनुच्छेद ७५ (३) के अन्तर्गत सघीय मत्रीमण्डल का सामूहिक रूप से उत्तरदायित्व ससद के निचले सदन लोकसभा के प्रति है। मत्री मण्डल के विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव पारित कर, लोकसभा उसे त्याग पत्र देने के लिए बाध्य कर सकती है। इसी तरह लोकसभा मत्री मण्डल द्वारा प्रस्तावित बजट को भी पारित करने से इन्कार कर सकती है जिसके फलस्वरूप, मत्री मण्डल को अपना त्यागपत्र देना होगा। सविधान के अनुच्छेद ७५ (३) मे, वास्तव म, वह आधारभूत सिद्धान्त निहित है, जिसके अन्तगत मत्री मण्डल लोकसभा के अधीन सस्था है। इस सिद्धान्त के आधार पर कहा जा सकता है कि लोकसभा वास्तव मे भारतीय

ससदीय प्रणाली मे, मत्रीमण्डल की स्वामी है। मत्रीमण्डल के लोकसभा के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को विभिन्न प्रकार से कार्यान्वित किया जाता है, जैसे मन्त्रियो से सदन म प्रश्न पूछ कर, स्थगन प्रस्ताव रखकर, इत्यादि ।

सरकार के तीनो अगो पर विशिष्ट जनतान्त्रिक अवरोधो की आवश्यकता के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अग के सबध म जनतान्त्रिक अवरोधो के रूप मे कुछ शक्तियाँ उपलब्ध होनी चाहिये जिनसे सरकार के तीन अगो के पारस्परिक सबधो का निर्धारण जनतान्त्रिक आधार पर किया जा सके। भारतीय सविधान निर्माताओ ने इस सिद्धान्त का अनुकरण करते हुए सघ ससद को न्यायपालिका के सबध म कुछ शक्तियाँ प्रदत्त की हैं और राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के सबध मे कुछ शक्तियाँ ऐसी दी हैं जो न्यायिक शक्तियो के रूप म हैं। वे निम्नाकित हैं।

(क) सविधान के अनुच्छेद १२४ क अनुसार सर्वोच्च न्यायालय मे एक मुख्य-न्यायाधीश तथा सात अन्य न्यायाधीश होंगे। परन्तु ससद को न्यायाधीशो की सख्या मे वृद्धि करने का अधिकार है। अत, ससद ने सर्वोच्च न्यायालय अधिनियम १९५६ पारित कर न्यायाधीशो की सख्या, मुख्य न्यायाधीश को मिलाकर, ११ निर्धारित कर दी है। न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।

न्यायाधीशो को पदच्युत करने म ससद की भूमिका महत्वपूर्ण है। किसी न्यायाधीश को पदच्युत राष्ट्रपति के आदेशानुसार ऐसी स्थिति मे ही किया जा सकेगा, जब ससद का प्रत्येक सदन न्यायाधीश को उसके दुर्व्यवहार या अक्षमता के कारण पदच्युत करने के लिए सदन की सारी सदस्यता के बहुमत से एक प्रस्ताव पारित कर देता है। ससद को अधिकार है कि न्यायाधीश के दुर्व्यवहार या अक्षमता को साबित करने के लिए कोई विशिष्ट प्रक्रिया का निर्धारण करे। यहाँ पर ससद की भूमिका के दो पक्षो पर बल देना आवश्यक है। सर्वप्रथम, बिना ससद के प्रस्ताव पारित किये हुए, राष्ट्रपति स्वेच्छानुसार किसी भी न्यायाधीश को पदच्युत नही कर सकता है। द्वितीय, ससद की यह शक्ति न्यायाधीश के अनुत्तरदायी व्यवहार को रोकने के लिए एक प्रभावशील जनतान्त्रिक अवरोध के सदृश है।

(ख) ससद को सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार मे, अनुच्छेद १३८ के अनुसार, वृद्धि करने का अधिकार है। ससद सर्वोच्च न्यायालय को, सघीय सूची मे उल्लिखित किसी भी विषय के सबध मे अतिरिक्त क्षेत्राधिकार विधि द्वारा प्रदत्त कर सकती है।

यदि भारत सरकार और किसी राज्य सरकार के मध्य सर्वोच्च न्यायालय को किसी विषय के सबध मे अतिरिक्त क्षेत्राधिकार प्रदत्त करने के लिए समझौता हुआ है और ससद कानून द्वारा अपनी सहमति देती है, तो सर्वोच्च न्यायालय को उक्त विषय पर क्षेत्राधिकार होगा। अनुच्छेद १३९ के अनुसार ससद सर्वोच्च

न्यायालय को, उन उद्देश्यों के अलावा जो अनुच्छेद ३२ (२) में वर्णित है, बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार-पृच्छा आदि लेख, लागू करने का अधिकार प्रदत्त कर सकती है। अन्त में, अनुच्छेद १४० के अन्तर्गत यदि संसद आवश्यक या वाछनीय समझती है तो सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे अतिरिक्त अधिकार, जो संविधान के अनुकूल हैं, अपने कार्यों को प्रभावपूर्वक करने के लिए प्रदान करेगी।

(ग) राष्ट्रपति पर संविधान का उल्लंघन करने के लिए महाभियोग लगाकर, उसे पदच्युत करने की शक्ति संसद को एक प्रकार की न्यायिक शक्ति है। राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने के लिए संसद के किसी भी सदन द्वारा आरोप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आरोप लगाने के लिए सदन के एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर और १४ दिवस पूर्व की लिखित सूचना होना भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, प्रस्ताव को संसद की सारी सदस्यता के दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाना चाहिये।

जब आरोप का प्रस्ताव संसद में एक सदन द्वारा पारित हो जाता है तब दूसरा सदन आरोपों की जाँच करेगा। राष्ट्रपति को ऐसी स्थिति में उपस्थित होने या अपना प्रतिनिधित्व करवाने का पूर्ण अधिकार है। यदि दूसरे सदन द्वारा आरोपों के जाँच के फलस्वरूप सदन की सारी सदस्यता के दो-तिहाई बहुमत द्वारा प्रस्ताव पारित किया जाता है कि राष्ट्रपति के विरुद्ध आरोप सही है तो प्रस्ताव के पारित किये जाने के समय से राष्ट्रपति को पदच्युत समझा जायेगा। राष्ट्रपति को महाभियोग लगा कर पदच्युत करने का संसद का अधिकार, राष्ट्रपति के निरंकुश बनने की प्रवृत्ति पर एक महत्वपूर्ण जनतांत्रिक अवरोध है, परन्तु संविधान निर्माताओं का ध्यान एक गंभीर त्रुटि की ओर नहीं आकर्षित हुआ। इस कारण कतिपय परिस्थितियों में राष्ट्रपति पर संसद का उपर्युक्त अवरोध प्रभावहीन हो सकता है। यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति पर महाभियोग तब ही संभव है जब संसद की बैठक हो रही है, यदि संसद की बैठक नहीं हो रही है और राष्ट्रपति ऐसे समय संविधान का उल्लंघन करता है तो यह स्वाभाविक है कि अपने ऊपर महाभियोग चलाने के लिए राष्ट्रपति संसद की बैठक कदापि नहीं बुलायेगा। अनुच्छेद ८५ (१) के अनुसार संसद के अधिवेशन बुलाने का अधिकार राष्ट्रपति का है। अतः यह अत्यावश्यक है कि इस संदर्भ में संविधान का उचित संशोधन किया जाये। अनुच्छेद ८५ (१) का संशोधन कर संसद को आहूत करने के लिए न केवल एक उचित प्रणाली को अपनाया जा सकता है, परन्तु कार्यपालिका पर संसद के एक जीवन विहीन अवरोध को शक्तिशाली बनाया जा सकता है। प्रो० टी० के टोपे का सुझाव है, "तथापि, एक वैधानिक उपचार, संविधान संशोधन करके और प्रावधान करके कि संसद का अधिवेशन, वर्ष में एक निश्चित दिन स्वतः आहूत हो, रखा जा

सकता है। यह अमरीकी संविधान में किया गया है। संभवतः लोक सभा के अध्यक्ष को संसद के दोनों सदनों को आहूत करने के लिए अधिकृत किया जा सकता है, यदि राष्ट्रपति संसद की बैठक को, अध्यक्ष की प्रार्थना करने पर भी नहीं बुलाता है।"[1]

वित्तीय शक्तियाँ—संविधान के अन्तर्गत देश की वित्त व्यवस्था पर संसद का पूर्ण अधिकार है। जनतान्त्रिक राज्य में बिना व्यवस्थापिका सभा (संसद) की अनुमति के कोई कर नहीं लगाया जा सकता। भारत में संसद द्वारा वित्त व्यवस्था पर नियन्त्रण, ब्रिटिश संसद के उस देश की वित्त व्यवस्था पर नियन्त्रण के सिद्धान्त के अनुकूल है।

सर एरस्कीन मेय संसद द्वारा ब्रिटिश वित्त व्यवस्था के नियन्त्रण के सिद्धान्त का उल्लेख इस तरह करते हैं—"ब्रिटिश क्राउन को मन्त्रियों की सलाह के अनुसार कार्यपालिका शक्ति होने के नाते, देश की आय और लोकसेवाओं पर व्यय का प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व है। अतः क्राउन सर्वप्रथम, कामन्स सभा को सरकार की वित्त संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक जानकारी प्रदत्त करता है। इस तरह क्राउन द्वारा वित्त की मांग की जाती है और कामन्स सभा अपनी सहमति प्रदत्त करती है।"[2]

ब्रिटिश परम्परा के अनुकूल भारत में, संसद को कार्यपालिका की वित्त संबंधी मांगों को स्वीकृत करने का अधिकार है। संविधान के अन्तर्गत प्रत्येक वित्तीय वर्ष राष्ट्रपति संसद के समक्ष, वार्षिक वित्तीय अनुमान प्रस्तुत करवायेगा, जिसमें संघ सरकार के वित्तीय वर्ष के लिए अनुमानित आय-व्यय का उल्लेख होता है। व्यय को दो वर्गों में रखा जा सकता है।

(क) भारत की संचित निधि में प्रदर्शित व्यय, और (ख) अन्य व्यय।

भारत की संचित निधि में निम्नलिखित विषयों संबंधी व्यय का उल्लेख है :—

१—राष्ट्रपति पद के वित्तीय लाभ, भत्ते, तथा व्यय।

२—लोक सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष और राज्यसभा के सभापति तथा उप सभापति के वेतन तथा भत्ते।

३—भारतीय सरकार के ऋण तथा उसका ब्याज, निक्षेप निधि व्यय, निष्क्रमण व्यय तथा ऐसे व्यय जो भारत सरकार के ऋण से संबंधित हों।

---

१ टी० के० टोपे—'पूर्वोक्त पुस्तक' १९६३ पृ० २५१।

२ टी० ई० मेय—'ए ट्रीटाइज आन द ला, प्रिवीलेजेज, प्रोसिडिंग्स एण्ड यूजेज आफ पार्लियामेन्ट, १३ संस्करण, पृ० ४६३।

४—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतन तथा भत्ते और सेवावृत्ति, व सघीय न्यायालय के सबध मे दी जाने वाली सेवा वृत्तियाँ।

५—उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशों को दिये जाने वाले वेतन भत्ते और सेवा-वृत्तियाँ।

६—भारत की स्वतन्त्रता के पूर्व, भारत क्षेत्र मे किसी न्यायालय के न्यायाधीश को सेवावृत्ति।

७—सघीय लोक सेवा आयोग के सदस्यो के वेतन भत्ते तथा सेवावृत्ति।

८—भारत के नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के वेतन, भत्ते तथा सेवा वृत्ति।

९—ससद के सदनो के सभापति और अध्यक्ष के वेतन तथा भत्ते।

१०—किसी न्यायालय या पच न्यायालय के आदेश या निर्णय द्वारा स्थापित दायित्वो को पूरा करने के व्यय।

११—सविधान के अन्य प्रावधानो द्वारा सचित निधि सबधी व्यय, जैसे-अनुच्छेद १४६ (३) के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के प्रशासकीय व्यय। अनुच्छेद १४८ (६) के अनुसार नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के प्रशासकीय व्यय, अनुच्छेद २७३ व २७५ (१) के अनुसार राज्यो की सहायता सबधी व्यय और देशी रियासतो के शासको के प्रिवीपर्स।

१२—अन्य व्यय जो ससद द्वारा सचित निधि के अन्तर्गत निर्धारित किया जाये।

सचित निधि के अन्तर्गत व्यय के लिए ससद की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती है। अन्य प्रकार के व्यय के लिए ससद की स्वीकृति की आवश्यकता है। सचित निधि मे उल्लिखित व्यय पर ससद मे मतदान नही हो सकता है। अन्य व्यय के लिए अनुदान सबधी माग ससद मे की जाती है। अनुदान की माग को लोकसभा राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृत पर ही रखा जा सकता है। लोकसभा को अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति देने या अनुदान की माग मे कमी करने का पूर्ण अधिकार है।

बजट को पारित करने का कार्य, ससद का एक मुख्य कार्य है। ससद का बजट अधिवेशन प्रतिवर्ष फरवरी के दूसरे सप्ताह के पश्चात् आरम्भ होता है। भारत मे सर्वप्रथम, रेल मत्री द्वारा लोकसभा मे रेलवे बजट प्रस्तुत किया जाता है। इसके पश्चात् वित्त मत्री लोकसभा मे वार्षिक बजट प्रस्तुत करता है। इस समय वह अपने बजट भाषण से सरकार की वित्त तथा अर्थ नीति पर देश की व्यवस्था के सदर्भ मे प्रकाश डालता है।

बजट की प्रतियाँ ससद के सदस्यो को विचार-विमर्श के लिए वितरित की जाती हैं। इस प्रवस्था मे बजट पर वाद-विवाद विस्तार पूर्वक नही होता है। परन्तु ससद सदस्य इस प्रवसर को, सरकार की नीति तथा शासन के विभिन्न विभागो के कार्यों की आलोचना करने के लिए उपयोग मे ला सकते हैं।

जैसा देखा जा चुका है, ससद की सचित निधि मे उल्लिखित व्यय पर मतदान करने का अधिकार नही है अत वाद-विवाद के पश्चात् लोकसभा उन विभिन्न मागो पर मतदान करती है जो सचित-निधि से सबधित नही है। विभिन्न मत्रालयो की मागो पर पृथक् रूप से विचार होता है। यहाँ पर लोकसभा को प्रत्येक मत्रालय के विगत वर्ष के कार्यों तथा नीतियो का मूल्याकन करने का अवसर प्राप्त होता है, क्योकि अपनी मागो के औचित्य को बतलाते हुए प्रत्येक मत्रालय अपने विगत वर्ष के कार्यों से लोकसभा को अवगत कराता है।

मागो की मतदान द्वारा स्वीकृत के पश्चात् वार्षिक विनियोग विधेयक लोकसभा द्वारा स्वीकृत माँगो तथा संचित-निधि सबधी व्यय को साथ मिलाकर तैयार किया जाता है, जहाँ वाद-विवाद प्रायः सार्वजनिक मुद्दो तथा सरकारी नीतियों तक सीमित रहता है। विशेषकर वाद-विवाद उन प्रश्नो पर होता है, जिन पर पूर्व मे विचार नही हुआ है। किसी विषय पर वाद-विवाद के लिए अध्यक्ष की पूर्वानुमति आवश्यक है, और अध्यक्ष वाद-विवाद मे भाग लेने वाले सदस्यो को पहले ऐसे विषयो के सबध मे सूचना देने के लिए कह सकता है।

इसके पश्चात् विनियोग विधेयक को उन सब स्तरो को पार करना होगा जो एक साधारण विधेयक के विधि निर्माण के लिए आवश्यक है। लोकसभा जब विनियोग विधेयक पारित कर देती है तब अध्यक्ष प्रमाणित करता है कि विधेयक धन विधेयक है। तत्पश्चात् विधेयक को राज्यसभा के समक्ष भेजा जाता है। राज्यसभा के लिए, विधेयक पर विचार-विमर्श कर अपने सुझावो सहित, १४ दिन मे विधेयक को लोकसभा के पास वापिस लौटाना आवश्यक है। परन्तु यह लोकसभा पर निर्भर है कि राज्यसभा के सुझावो को स्वीकार करे या न करे। विधेयक पर अन्तिम निर्णय लोकसभा का ही है। लोक सभा द्वारा पारित होने के पश्चात् विधेयक राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृत के लिए भेजा जायेगा। राष्ट्रपति की स्वीकृति औपचारिक है। विनियोग विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापिस नही लौटाया जा सकता है।

धन विधेयक निर्माण का अन्तिम चरण संसद द्वारा वित्तीय विधेयक पारित करना है। सरकार के कर संबधी प्रस्ताव अगले वर्ष के लिए वित्त विधेयक के रूप मे लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत किये जाते है। वित्त विधेयक को पारित करने की प्रक्रिया उपर्युक्त वर्णित विनियोग विधेयक को पारित करने की प्रक्रिया के समान है। सदन मे, विशेषकर समिति स्तर के बाद विधेयक पर विस्तार पूर्वक विचार

किया जाता है। सशोधन, प्रस्ताव करो को समाप्त करने या घटाने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं, पर करो को बढाने के प्रस्ताव प्राय प्रस्तुत नही होते। वित्त विधेयक अप्रेल माह मे ही पारित किया जाता है क्योकि प्राविजनल कलेक्शन ग्राफ टेक्सेज़ एक्ट १९३१ के अन्तर्गत वित्तीय प्रस्ताव, वार्षिक वित्त प्रस्तावो के प्रस्तुत करते ही प्रभावशील हो जाते हैं।

ससद मे वित्त प्रक्रिया के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि देश की वित्त तथा अर्थ व्यवस्थाओ पर ससद का पूर्ण नियन्त्रण है। परन्तु यह सोचना गलत होगा कि ससद का नियन्त्रण वित्तीय विधि निर्माण तक ही सीमित है। बजट के पारित होने के पश्चात् भी ससद का नियन्त्रण देश की वित्त एव अर्थ व्यवस्थाओ पर लगातार बना रहता है। परन्तु ससद का यह नियन्त्रण अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। वास्तव मे कार्यपालिका पर ससद के नियन्त्रण का महत्वपूर्ण साधन वित्त है। वित्त व्यवस्था के नियन्त्रण की प्रक्रिया मे कतिपय साधनो को ध्यान मे रखा जाना चाहिये, जिनके माध्यम से ससद निरन्तर अपना नियत्रण कार्यपालिका पर करती है। वे निम्नलिखित हैं।

१—सरकारी लेखो का लेखा परीक्षण—लेखा परीक्षण वह प्रक्रिया है, जिसका उपयोग लेखो का परीक्षण, उनकी या उनके अन्तर्गत, कार्यों की उपयुक्तता विदित करने के लिए किया जाता है। सक्षेप मे, लेखा-परीक्षण द्वारा वित्त सम्बन्धी कार्यों का औचित्य दो आधारो पर निर्धारित किया जा सकता है।

क—वित्त सम्बन्धी कार्यों को विधि के अनुकूल होना चाहिये, और

ख—वित्त सम्बन्धी कार्यों की वित्त नियमो के अन्तर्गत उपयुक्तता इस दृष्टिकोण से निर्धारित करना कि वित्त सम्बन्धी कार्यों द्वारा अनुपयुक्त एव निरर्थक व्यय तो नही हुआ है।

भारतवर्ष मे लेखा-परीक्षण के कार्य लेखा परीक्षण विभाग मे निहित हैं, जिसका अध्यक्ष नियन्त्रक तथा महालेखा-परीक्षक है। लेखा परीक्षण, एक सघीय विषय है। सविधान के अनुच्छेद १४१ (१) के अनुसार नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के कार्य तथा शक्तियो को ससद निर्धारित करेगी। नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक को सघ एव राज्यो के द्वारा लगाये करो से सबधित व्ययो का लेखा परीक्षण करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त, नियन्त्रक तथा लेखा-परीक्षक को सघ तथा राज्यो के अन्य व्ययो का भी लेखा-परीक्षण करने का अधिकार है। "व्यय पर ससद का नियन्त्रण, अपने अधिकारी नियन्त्रक तथा महालेखा-परीक्षक के माध्यम से किया जाता है। वह व्यवस्थापिका की ओर से लेखो का लेखा-परीक्षण करता है तथा अपना प्रतिवेदन व्यवस्थापिका को प्रस्तुत करता है।"[1]

---

१. सी० पी० भाम्भरी—'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' १९६० भाग ४ पृ० ९९२।

२—ससद की वित्तीय समितियाँ—ससद की कार्यपालिका के नियन्त्रण का अन्य साधन, उसकी वित्तीय समितियों के रूप में है। ससद की दो वित्तीय समितियाँ है।

क—लोक लेखा समिति—प्रारम्भ में सघीय लोकलेखा समिति में १५ सदस्य थे, जिनका निर्वाचन लोक सभा अपने सदस्यो में से करती है। परन्तु १९५३ से राज्य सभा के सदस्यों को इसमे सम्मिलित किया जाने लगा। इसका अध्यक्ष सत्तारूढ दल मे से ही लिया जाता है। लोकलेखा समिति, नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के संसद के समक्ष प्रतिवेदन के प्रकाश में सरकारी लेखों का परीक्षण करती है। प्रत्येक मत्रालय या विभाग का एक अधिकारी लोकलेखा समिति के समक्ष, समिति द्वारा उठाई गई आपत्तियो का निवारण या स्पष्टीकरण करने उपस्थित होता है। जिन मत्रालयों या विभागो मे अनियमितताएँ हुई है उनके सम्बन्ध मे समिति द्वारा प्रदत्त जानकारी, उसके निष्कर्ष तथा सुझाव लोकसभा को समिति-अध्यक्ष द्वारा पहुँचाये जाते हैं। लोकसभा से समिति का प्रतिवेदन वित्त मत्रालय को भेज दिया जाता है, जो समिति के सुझावो को सबधित मत्रालय या विभाग से अवगत कराता है। यदि समिति के किसी सुझाव को सरकार अस्वीकृत कर देती है तो उसको ऐसा करने के लिए कारण बतलाने होंगे। यह स्पष्ट है कि लोक लेखा समिति कार्यपालिका तथा प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए ससद को महत्वपूर्ण सहायता पहुँचाती है। डा० नार्मन पामर का कहना है—"लोकलेखा समिति न केवल नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन, और अन्य कागजातो की विभिन्न अनियमितताएँ को ज्ञात करने के लिए जाँचती है परन्तु साथ ही राष्ट्र के वित्त सम्बन्धी प्रशासन से सबंधित निरर्थक व्यय, भ्रष्टाचार, अक्षमता एव अन्य त्रुटियो मे भी रुचि रखती है। अतएव यह सरकारी लापरवाही तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध ससद के हितो की रक्षक तथा जनता की सरक्षक है। इसके प्रतिवेदन महत्वपूर्ण लेख है।"[1]

लोकलेखा समिति की भूमिका के सबध मे यहाँ इसके एक महत्वपूर्ण प्रतिवेदन का उल्लेख करना आवश्यक होगा। यह मामला भारत-चीन युद्ध—१९६२ से सबंधित है। भारत की पूर्वी सीमा पर हवाई-जहाजो के उतरने की हवाई-पट्टी को तैयार करने के लिए मुख्य इजीनियर ने रु० १०८.८५ लाख का ठेका इस शर्त पर दिया कि सारा कार्य पाँच माह मे पूरा हो जायेगा। वास्तव मे सारे कार्य का अनुमानतः व्यय रु० ६३·०३ हजार ही था। इस पर भी ठेकेदार को सारा कार्य समाप्त करने में एक वर्ष से अधिक समय लग गया। निर्माण कार्य

१. एन० डी० पामर—'द इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम' १९६१ पृ० १२।

आरम्भ होने से पूर्व ही गोलीबार स्थगित हो चुका था। लोकलेखा समिति के समक्ष अपना साक्ष्य देते हुए सुरक्षा-सचिव ने स्वीकार किया कि यदि युद्ध पुन. आरम्भ होता तो निर्माण कार्य के निर्धारित समय मे समाप्त न होने के फलस्वरूप निश्चित भारतीय वायु सेना की कार्य-दक्षता पर आघात पहुँचता। समिति ने अपनी ४८वें प्रतिवेदन मे, जो लोकसभा के १६ अप्रेल, १६६६, को भेजा था, सुझाव दिया कि अनुभव के आधार पर सबक सीखते हुए, प्रतिरक्षा के अधिकारियो के लिए, भविष्य मे ऐसे आपत्तिकालीन कार्य, जिसमे जनता का अत्यधिक धन लगता है, हाथ मे लेते समय सतर्कतापूर्वक कार्य करना चाहिये।

ख—प्राक्कलन समिति—"प्राक्कलन समितियाँ स्थायी, तथा निरन्तर कार्य करने वाली मशीनरी के समान है जो व्यय की दृष्टि से अर्थ-व्यवस्था मे बचत की सभावना की जाँच करती है और उसके लिए सुझाव प्रस्तुत करती है।"[1]

भारत मे सघीय प्राक्कलन समिति के २५ सदस्य हैं जो ससद द्वारा एकल सक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार निर्वाचित किये जाते हैं। समिति के अध्यक्ष को लोकसभा का अध्यक्ष मनोनीत करता है। प्रत्येक वर्ष प्राक्कलन समिति कतिपय मत्रालयो के वित्तीय अनुमानो की जाँच करके लोक सभा को प्रतिवेदन भेजती है। विशेषकर प्राक्कलन समिति विभिन्न मत्रालयो मे बचत तथा निपुर्णता हासिल करने के लिए सुझाव देती है। समयानुसार प्राक्कलन समिति ने कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। उदाहरण के लिए अपने प्रतिवेदन २ मे समिति ने भारत सरकार के सचिवालय और विभिन्न प्रशासकीय विभागो के सगठन के लिए सुझाव दिये हैं। प्रतिवेदन ६ मे कतिपय प्रशासकीय तथा वित्त सबधी सुधारो के लिए सुझाव दिये हैं। इसी प्रतिवेदन मे समिति ने वित्त मत्रालय के लिए सुझाव दिया है कि बहुत काम एक साथ इकट्ठा न हो, विभिन्न प्रशासकीय विभाग अपनी योजनाएँ वित्त मत्रालय को कम से कम एक वर्ष पूर्व भेजे। इसी तरह प्रतिवेदन २० मे समिति ने सरकार को यह सुझाव भेजा है कि जब भी सरकार ऋण लेने जाये तब ससद को सूचना देना आवश्यक है।

प्राक्कलन समिति के सुझाव सरकार को भेज दिये जाते हैं, जो इनको कार्यान्वित करने का प्रयत्न करती है। समिति को, उसके कार्यों मे, ससद-सचिवालय द्वारा सहायता मिलती है और विभागीय अधिकारियो को यदि समिति यह चाहती है तो उसके समक्ष उपस्थित होना आवश्यक है। प्राक्कलन समिति लोकलेखा समिति के समान प्रशासन के क्षेत्र मे निरर्थक व्यय पर रोक लगाती हैं। प्राक्कलन समिति के महत्व के सम्बन्ध मे प्रो० मोरिस जोन्स ने कहा है—

---

१. एम० पी० 'शर्मा—पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन थियोरी एण्ड प्रेक्टिश', १६६० पृ० ३७७

"एक महत्वपूर्ण सीमा तक यह समिति केवल मितव्ययता या कार्य दक्षता की भावना से प्रेरित होकर ही नही परन्तु कार्यपालिका की निरकुशता को रोकने के विचार से एक वास्तविक विरोधी दल की एवजी मे, महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती है। सचमुच मे एक अविकसित देश मे इस तरह की व्यवस्था अधिक उपयुक्त है। अन्त मे यह उल्लेखनीय है कि प्राक्कलन समिति न कि लोकलेखा समिति दो कार्यों को करती है, जो भारत मे महत्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम, यह सदन के सदस्यो के लिए महत्वपूर्ण प्रशिक्षण स्थल है। द्वितीय समिति के प्रतिवेदनो का, सदन मे तथा सदन के बाहर बहुत शैक्षणिक मूल्य है। इसकी सहायता मे लोकमत के उस स्तर का निर्माण हो सकता है जो शासक और शासित वर्गों के मध्य की खाई को दूर करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।"[१]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि वित्तीय प्रशासन पर ससद का नियन्त्रण आन्तरिक तथा बाह्य साधनो द्वारा निरन्तर बना रहता है।

ससद की अन्य शक्तियाँ—सविधान द्वारा ससद को कतिपय अन्य शक्तियाँ भी प्रदत्त हैं, जिनका निम्नलिखित वर्गीकरण के आधार पर अध्ययन किया जा सकता है :—

१—**ससद की सकटकालीन स्थिति सबधी शक्तियाँ**—सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा घोषित सकटकालीन उद्घोषणा को ससद के समक्ष उसकी सहमति के लिए रखना आवश्यक है। जब देश में सकटकालीन स्थिति है, तब अनुच्छेद २५० के अनुसार ससद को सघ तथा समवर्ती सूचियो के अतिरिक्त उन विषयो पर भी विधि-निर्माण करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, जो राज्य-सूची मे उल्लिखित हैं। ऐसी स्थिति मे ससद को राज्यो के प्रशासकीय अधिकारियो को सविधान के अन्तर्गत कोई भी कार्य सौंपने का अधिकार है।

२—**सविधान मे सशोधन का अधिकार**—पूर्व मे देखा जा चुका है कि सविधान मे सशोधन हेतु, सविधान के प्रावधानो को तीन वर्गों मे रखा जा सकता हैं। सर्व प्रथम, सविधान के ऐसे प्रावधान है, जिनको ससद साधारण बहुमत से विधि पारित कर सशोधित किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप इस प्रक्रिया-नुसार नये राज्यो का निर्माण या वर्तमान राज्यो के नाम या सीमाओ मे, राज्यो की विधान सभाओ के मत को जानने के पश्चात् परिवर्तन किया जा सकता है। राज्यो की विधान सभाओ मे द्वितीय सदन समाप्त किये जा सकते हैं या जिन विधान सभाओ मे द्वितीय सदन नही है, वहाँ द्वितीय सदन स्थापित किये जा सकते हैं, नागरिकता अनुसूचित क्षेत्रो का प्रशासन, अनुसूचित जातियो और

१ डब्ल्यु एच० मोरिस जोन्स—पूर्वोक्त, १९५७ पृ० ३०७-३०८।

केन्द्रीय-प्रशासित क्षेत्र से सबंधित विषयो से सम्बद्ध सविधान के सारे प्रावधान ससद मे साधारण बहुमत के आधार पर पारित विधि द्वारा सशोधित किये जा सकते हैं।

द्वितीय, सशोधन की दृष्टि से, सविधान की द्वितीय श्रेणी मे जो प्रावधान रखे गये हैं, उनका मूल रूप से सबध दोनो, सघीय राज्य सरकारो से है। अर्थात् यह सविधान के ऐसे प्रावधान हैं, जो सघवाद की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अतएव इनके सशोधन मे सघ तथा राज्यो दोनो को भागीदार बनाया गया है। सविधान के ये विषय निम्नलिखित हैं —

(क) अनुच्छेद ५४ तथा अनुच्छेद ५५ जिनके अनुसार राज्य विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्यो को राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्वाचक मण्डल का एक हिस्सा माना गया है। अनुच्छेद ७३ तथा अनुच्छेद १६२ जो राज्यो की कार्यपालिका शक्तियो से सबधित है, और अनुच्छेद २४१ जो सघीय क्षेत्रो मे स्थित उच्च न्यायालयो से सबधित है।

(ख) सविधान के पाँचवें हिस्से के चौथे अध्याय के अनुच्छेद जो कि सघीय न्यायपालिका से सबधित है, सविधान के छठे भाग का पाँचवा अध्याय जो राज्यो मे स्थित, न्यायालयो से सबधित है, और सविधान के ग्यारहवें हिस्से का प्रथम अध्याय जो सघ राज्यो के सबध पर है।

(ग) राज्यो का ससद मे प्रतिनिधित्व।

(घ) सविधान का अनुच्छेद ३६८ जिसमे सविधान सशोधन-प्रक्रिया उल्लिखित है।

सविधान के उपर्युक्त उपलिलखित ऐसे प्रावधान हैं, जिनमे सघ तथा राज्यो, दोनो के हित निहित है, अतएव इन प्रावधानो का सशोधन करने के लिए निम्नलिखित प्रक्रियानुसार सघ ससद तथा कम से कम आधे राज्यो की विधान सभाओ की सहमति आवश्यक है। सर्वप्रथम, इनमे से किसी प्रावधान के सशोधन के लिए ससद के प्रत्येक सदन म विधेयक, सदन की पूर्ण सदस्यता के बहुमत एव उपस्थित सदस्या के दो तिहाई बहुमत से पारित होना चाहिये। जब ससद ने सशोधन-विधेयक उपर्युक्त रूप मे पारित कर दिया, तत्पश्चात् कम से कम आधे राज्यो की विधान सभाओ द्वारा विधेयक को सहमति मिलना आवश्यक है।

तृतीय, सविधान के अन्य प्रावधान (उपर्युक्त दो श्रेणियो मे उल्लिखित प्रावधानो को छोडकर) ससद के प्रत्येक सदन म सम्पूर्ण सदस्यता के बहुमत तथा उपस्थित सदस्या से दो तिहाई बहुमत के आधार पर सशोधित किये जा सकते हैं।

अत यह स्पष्ट है कि ससद का एक महत्वपूर्ण कार्य सविधान का (कुछ प्रावधानो को छोडकर जिनके लिये आधे राज्यो की विधान सभाओ की सहमति आवश्यक है) सशोधन करना है।

३—ससद देश का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है, जहाँ पर जनता की शिकायतो को दूर करने का प्रयत्न, उनके प्रतिनिधियो द्वारा किया जाता है। प्रो० मोरिस जोन्स के अनुसार शिकायते दूर करने के कई अवसर हैं, पर निस्सदेह प्रश्न समय सबसे महत्वपूर्ण है। पर यह नही कहा जा सकता है कि सारे प्रश्नो का उद्देश्य शिकायतो को दूर करना होता है।

उदाहरण स्वरूप ससद के १९५३ के शरद्कालीन अधिवेशन मे बीस से अधिक प्रश्न निम्नलिखित विषयो पर पूछे गये—सूती कपडा, चर्खा तथा खादी-उद्योग, डाक-कर्मचारी, सेना, अवकर, आकाशवाणी, वैज्ञानिक अनुसधान, कोयला तथा खदाने, रेलवे दुर्घटनाएँ, मार्ग, एव सबसे अधिक प्रश्न रेलवे मार्ग पर पूछे गये।

अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भारतीय ससद को, सविधान के अन्तर्गत सघवाद की सीमाओ मे, महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त है। इनके द्वारा ससद कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखकर, उसे अपनी नीतियो, तथा कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहरा सकती है। परन्तु भारत मे ससदीय प्रणाली की सफलता निर्वाचक गण तथा ससद मे जनता के प्रतिनिधियो की सतर्कता तथा कार्यकुशलता पर निर्भर है।

९

संघीय कार्यपालिका एवं संसद के संबंध

सघीय कार्यपालिका तथा ससद के सबधो का दो सबधित प्राधारो पर अध्ययन करना उचित होगा। ये दोनो प्राधार, भारत में ससदीय सरकार के सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक पक्षो से सबधित हैं। अत भारत मे कार्यपालिका तथा ससद के सबधो को ज्ञात करने के लिए हमारे समक्ष मूल तथा मार्गदर्शक तथ्य यह है कि सविधान द्वारा भारत में ससदीय प्रणाली की स्थापना की गई है। ससदीय कार्य-प्रणाली मे सैद्धान्तिक रूप मे, वास्तविक कार्यपालिका (मत्री मण्डल) ससद के निचले सदन के प्रति उत्तरदायी है, फलस्वरूप कार्यपालिका (मत्री मण्डल) ससद के अधीन है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यदि, कार्यपालिका तथा ससद के सबधों का विश्लेषण किया जाये तो यह विदित होगा कि वर्तमान काल मे, ससद का सैद्धान्तिक रूप से कार्यपालिका पर नियन्त्रण होने पर भी, व्यवहार मे कार्यपालिका शक्तिशाली हो गई है।

सक्षेप मे सघीय कार्यपालिका (मत्री मण्डल) तथा ससद के सबधो का अध्ययन निम्नलिखित दो प्राधारो पर किया जा सकता है।

१—ससदीय प्रणाली के सिद्धान्तो के अनुसार सघीय कार्यपालिका (मत्री-मण्डल) सबध।

२—सघीय कार्यपालिका (मत्री मण्डल) तथा ससद के ससदीय प्रणाली में व्यावहारिक दृष्टिकोण से सबध।

१—ससदीय प्रणाली के सिद्धान्तानुसार सघीय मत्री मण्डल तथा ससद के सबध—सैद्धान्तिक रूप से, ससदीय प्रणाली के अन्तर्गत मत्री मण्डल (वास्तविक कार्यपालिका) प्रत्यक्ष रूप से, ससद के निचले सदन के प्रति उत्तरदायी है, जबकि नाम मात्र कार्यपालिका का, सरकार की नीतियो तथा कार्यो के लिए कोई उत्तरदायित्व नही है। चूंकि ससदीय प्रणाली मे कार्यपालिका के दो हिस्से होते हैं, प्रश्न यह है कि इन दोनो हिस्सो से ससद के किस प्रकार के सबध हैं।

(क) मत्री मण्डल (वास्तविक कार्यपालिका) से सबध मे ससद की शक्तियां—ससदीय प्रणाली का प्राधार भूत सिद्धान्त भारत सविधान के अनुच्छेद ७५ (३) म निहित है, जिसके अनुसार मत्री मण्डल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति

उत्तरदायी है। सविधान के इस अनुच्छेद के अध्ययन के फलस्वरूप यह स्पष्ट है कि मत्री मण्डल सामूहिक रूप से लोकसभा के अधीन है और लोकसभा सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर मत्री मण्डल का नियन्त्रण करती है। विभिन्न साधनो के माध्यम से लोकसभा मत्री मण्डल पर अपना नियन्त्रण रखती है, परन्तु सबसे प्रभावशाली साधन लोकसभा द्वारा मत्री मण्डल के विरुद्ध-अविश्वास प्रस्ताव पारित करना है। ससदीय प्रणाली मे मत्री मण्डल पर नियन्त्रण रखने के लिए निचले सदन द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित करना, अन्तिम तथा सबसे कठोर तरीका है। श्री लालबहादुर शास्त्री तथा श्रीमती गाधी के कार्यकाल मे विपक्षी दलो द्वारा सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करने के प्रयत्न किये गये, परन्तु इसमे वे सफल नही हुए।

सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करने के अतिरिक्त अन्य साधारण साधन भी है, जिनका उपयोग ससद मे प्राय प्रतिदिन मत्रीमण्डल पर नियन्त्रण रखने के लिए किया जाता है। आगे लिखे हुए साधनो को इस कार्य के लिए प्रस्तुत किया जाता।

१—समिति प्रणाली।
२—ससदीय प्रश्न।
३—ससदीय प्रस्ताव।
४—ससद मे बहस।

समिति प्रणाली

जनतान्त्रिक राज्य मे समितियो को व्यवस्थापिका के कुशलता पूर्वक कार्य करने के लिए आवश्यक माना जाता है। समितियाँ, न केवल व्यवस्थापिका के कार्यों को पूरा करने, परन्तु ससद के सदस्यो के हितो की रक्षा करने के लिए भी आवश्यक है। ससदीय समितियो को किसी लेखक ने ससद के—'आंखो तथा कानो' के रूप मे माना है। समितियो के माध्यम से ससद विभिन्न विषयो पर तकनीकी तथा साधारण जानकारी हासिल करती है। "ससदीय समितियां प्रशासन पर महत्वपूर्ण नियन्त्रण रखती है। वे प्रशासन की कार्यवाही की जांच तथा निरीक्षण भी करती है।"[1] भारतीय ससद में, समितियो की भूमिका का विशेष महत्व है, क्योकि एक प्रभावशाली विपक्षी दल की अनुपस्थिति मे, सरकार की निरकुश प्रवृत्तियो पर समितियाँ रोक लगाती है। "इन समितियो मे ही विपक्षीय दल सरकार की नीतियो को प्राय· प्रभावित कर सकते हैं। इन समितियो के कार्य भारतीय ससदीय

१. सी० पी० भाम्भरी—लोक प्रशासन, १९६० भाग ४ पृ० ९०।

प्रणाली के एक मनोरंजक पहलु हैं। सरकार पर एक प्रभावशाली नियन्त्रण वित्त समितियों का है। प्रो० मोरिस जोन्स ने ससद पर अपने महत्वपूर्ण अध्ययन में यह मत अभिव्यक्त किया है कि "इस प्रकार की समिति न केवल मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता के विचार से, परन्तु एक दमनकारी और निरंकुश कार्यपालिका पर अवरोध के रूप में होने के विचार से प्रेरित होकर (ससद में) एक वास्तविक विरोधी दल की एवजी में, महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती हैं।"[1]

भारत में समितियों से एक महत्वपूर्ण लाभ यह भी है कि सरकार द्वारा प्रस्तावित विषयों पर समितियों में अधिक सहयोग मिलने की सम्भावना के साथ विपक्षी दल सरकार को अधिक प्रभावित कर सकते हैं।

ससद में एक संगठित तथा प्रभावकारी विपक्षी दल की अनुपस्थिति में, यह स्वाभाविक ही है कि संसदीय समितियों का महत्व अधिक हो गया है, क्योंकि ऐसी स्थिति में समितियों के माध्यम से ही सरकार की नीतियों तथा कार्यों को, जन कल्याण के लिए प्रभावित किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, लोकसेवा समिति की जाँच के फलस्वरूप हीराकुण्ड बाँध और जीप कान्ट्रैक्ट संबंधी अनियमितताएँ प्रकाश में लाई गई। प्राक्कलन समिति सरकार को बचत संबंधी सुझाव देती है। आश्वासन समिति सरकार पर सतर्कता पूर्वक निगाह रख कर उसकी निरंकुशता पर रोक लगाती है। इसी तरह प्रत्यायोजितविधि समिति कार्यपालिका की नियम निर्माण शक्ति पर एक अंकुश के सदृश है।

लोकसभा की प्रक्रिया तथा कार्यवाही के संचालन के नियम १९५७ द्वारा संसद की विभिन्न समितियों के लिए प्रावधान किया गया है। इनको दो वर्गों में रखा जा सकता है :—(i) स्थायी समितियाँ, और (ii) विशेष समितियाँ। समितियों की नियुक्ति सदन के प्रस्ताव पर होती है। समितियों के अध्यक्ष की नियुक्ति करने की शक्ति अध्यक्ष में निहित है, जिससे विपक्षी तथा सत्तारूढ़ दलों में से सदस्यों को समितियों में लिया जा सके। संसद की निम्नलिखित समितियाँ महत्वपूर्ण हैं।

१—कार्य संबंधी परामर्श समिति—(बिजिनेस एडवाइजरी कमेटी) सदन के अधिवेशन के आरम्भ में कार्य संबंधी परामर्श समिति का निर्माण संसद के कार्यक्रम के निर्धारण के लिए किया जाता है। इसके १५ सदस्य हैं। इसका अध्यक्ष लोकसभा का अध्यक्ष है।

---

१. आर वर्नहैम—पार्लियामेन्ट एण्ड डेमोक्रेसी इन इण्डिया, (इन स्टडीज इन इण्डियन डेमोक्रसी) सम्पादित एस० पी० अय्यर और आर० श्रीनिवासन, सन् १९६५ पृ० १५८-५९।

२—साधारण (प्राइवेट) सदस्य-विधेयक तथा संकल्प संबंधी समिति (कमेटी आन प्राइवेट मेम्बर्स बिल एन्ड रिजोल्युशन)—इस समिति का कार्य साधारण सदस्य-विधेयकों की जाँच कर, उन्हें सदन के विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत करना है। इसमें भी १५ सदस्य होते हैं। लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा समिति का अध्यक्ष, इसके सदस्यों में से मनोनीत किया जाता है। यदि लोकसभा का उपाध्यक्ष समिति का सदस्य है, वह स्वत: समिति का अध्यक्ष बन जाता है।

३—प्रवर समिति (सेलेक्ट कमेटी)—प्रवर समिति की नियुक्ति उस वक्त होती है, जब सदन में प्रस्ताव पारित किया जाता है कि विधेयक को प्रवर समिति के समक्ष रखा जावे। अपने कार्यों के लिए, प्रवर समिति विशेषज्ञों की सम्मति लेती है, आवश्यकतानुसार साक्षी लेती है, तथा कागजात का भी निरीक्षण करती है। प्रवर समिति की सदस्यता सदन में राजनीतिक दलों की शक्ति के अनुपात में निर्धारित की जाती है। लोकसभा का अध्यक्ष समिति के अध्यक्ष का मनोनीत करता है, परन्तु यदि लोकसभा का उपाध्यक्ष समिति का सदस्य है तो वह स्वत: समिति का अध्यक्ष हो जाता है। महत्वपूर्ण विधेयकों के लिए संसद के दोनों सदनों की संयुक्त समिति में लोकसभा के दो-तिहाई और राज्यसभा के एक-तिहाई सदस्य होते हैं। संयुक्त समिति के सदस्यों की संख्या, प्रायः ४० होती है। सामान्यतः एक प्रवर समिति में ७ से १५ तक सदस्य होते हैं।

४—याचिका संबंधी समिति (कमेटी आन पिटीशन्स)—सदन के अधिवेशन के आरम्भ में, इस समिति के सदस्यों को लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा मनोनीत किया जाता है। याचिका संबंधी समिति के १५ सदस्य होते हैं। समिति का कार्य उसको प्रेषित की गई याचिकाओं को जाँचना है, यह अपना प्रतिवेदन सदन को देती है। समिति सदन के समक्ष विधेयक के संबंध में याचिकाएँ ग्रहण करती है और याचिकाओं की प्रतियों को सदन में विधेयक पर विचार विमर्श करने के पूर्व वितरित करवाती है। इन याचिकाओं द्वारा संसद के समक्ष विधेयकों पर जनमत का ज्ञान विदित होता है और फलस्वरूप संसद में आवश्यक कार्यवाही की जाती है।

५—प्राक्कलन समिति (एस्टिमेट्स कमेटी)—संसद की दो वित्तीय समितियों में से प्राक्कलन समिति एक है। प्राक्कलन समिति की नियुक्ति संसद के प्रथम अधिवेशन के ही आरम्भ में प्रतिवर्ष होती है। इसके सदस्यों की संख्या ३० होती है, जिनका चुनाव लोकसभा में अनुपातिक आधार पर होता है। "प्राक्कलन समिति का कार्य विस्तार पूर्वक बजट अनुमानों तथा व्ययों की जाँच करना है, इसलिए यह सरकार को न केवल वित्तीय क्षेत्र में, वरन् अन्य क्षेत्रों में भी प्रभावित करने के लिए शक्तिशाली स्थिति में है।"[1]

---

१. एम. वी. पायली—'इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन, १९६२, पृ० २१२।

लोकसभा की प्रक्रिया तथा कार्य सचालन नियमो (नियम ३१०) के अनुसार प्राक्कलन समिति के चार प्रमुख कार्य हैं।

(१) यह प्रतिवेदन देना कि प्राक्कलन मे उल्लिखित नीति के अनुकूल किस तरह मितव्ययिता, सगठन मे सुधार, कार्यकुशलता तथा प्रशासन मे सुधार लाये जा सकते हैं।

(२) प्रशासन मे कार्यकुशलता तथा मितव्ययिता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियो का सुझाव प्रस्तुत करना।

(३) यह जाँच करना कि प्राक्कलन में निहित नीति के अनुसार धन का उचित वितरण किया गया है या नही।

(४) यह सुझाव देना कि प्राक्कलनो को ससद के समक्ष किस रूप मे प्रस्तुत किया जाना चाहिये।

प्राक्कलन समिति के कार्यों के सबध मे, ध्यान रखने योग्य तथ्य यह है कि ससद द्वारा बजट के पारित होने के पश्चात् इसके कार्य समाप्त नही हो जाते हैं। समिति सारे वर्ष सरकार के किसी भी विभाग या अभिकरण को लेकर सारे वर्ष जाँच का कार्य करती है। प्राक्कलन समिति के प्रतिवेदन, सरकार को दिये गये सुझाव के रूप मे होते हैं। सरकार इनको स्वीकृत कर सकती है। यदि सरकार इन्हे अस्वीकृत करती है तो सरकार को ऐसा करने के लिए कारण बतलाने होंगे। यदि समिति अपने मत पर दृढ है तो अन्तिम निर्णय ससद के हाथ मे होगा।

६—लोकलेखा समिति—"लोकलेखा समिति प्राक्कलन समिति की जुड़वाँ-बहन है। यदि प्राक्कलन समिति प्राक्कलनो की जाँच से सबधित है तो लोकलेखा समिति का सबध लोक-निधि के व्यय करने के तरीको तथा नतीजो से है।"[1]

लोकलेखा समिति के २२ सदस्य होते हैं, १५ लोकसभा मे तथा ७ राज्य सभा मे से। ये सदस्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्वाचित होते हैं। लोकलेखा समिति के कार्यों का उल्लेख ससद की प्रक्रिया तथा कार्यवाही सचालन के नियमो मे किया जाता है, जो निम्नानुसार है।

भारत सरकार के वित्तीय लेखो और महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन की जाँच करके, लोकलेखा समिति निम्नलिखित बातें विदित करती है।

(१) लेखों मे जिस धन राशि का वितरण बतलाया गया है, क्या वह वैधानिक रूप से प्राप्त थी या नही, और जिस सेवा मे या उद्देश्य के लिए व्यय किया गया, क्या वह वैधानिक आधार पर किया गया।

---

१. एम० वी० पायली—'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० २१२।

(ii) व्यय उचित अधिकार के अनुसार है या नहीं।

(iii) वित्त का प्रत्येक पुनर्विनियोग, इस सबंध मे, सक्षम अधिकारी द्वारा निर्मित नियमो के अनुकूल है या नहीं।

(iv) लोकलेखा समिति सरकारी निगमो के लेखों, व्यापारिक तथा निर्माण योजनाओं की जाँच करती है।

लोकलेखा समिति का सबसे महत्वपूर्ण कार्य नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन की जाँच कर यह निर्धारित करना है कि ससद द्वारा स्वीकृत धन-राशि का उपयोग, उचित रूप से किया गया है या नहीं। समिति के प्रतिवेदन ससद के समक्ष रखे जाते हैं, जो प्राय इन्हे स्वीकृत कर लेती है।

लोकलेखा समिति की भूमिका की प्राय आलोचना की जाती है कि समिति द्वारा वित्तीय मामलो की जो जाँच होती है, वह देर से होने के कारण व्यर्थ हो जाती है, क्योकि इसका कोई प्रभाव नहीं रहता। यह भी कहा जाता है कि समिति के कार्य शव-परीक्षा (पोस्टमार्टम) के समान है, क्योकि धन का व्यर्थ व्यय एक बार होने के पश्चात् उसको पुन वापिस नहीं पाया जा सकता है। पर जैसा डा० माम्मरी ने कहा है—"यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि पोस्ट-मार्टम की अपनी उपयोगिता है।"[1] धन के व्यय पर समिति द्वारा निरीक्षण उन लोगो पर एक बडी रोक है जिनको धन व्यय करने का कार्य सौंपा गया है। 'केवल इस तथ्य का अहसास कि जो कुछ किया गया है, उसकी जाँच के लिए कोई है, कार्यपालिका की सुस्ती और लापरवाही पर एक महान अवरोध है। यदि जाँच उचित रूप मे हुई है तो इसके द्वारा प्रशासन मे कार्य-कुशलता प्राप्त होती है।"[2]

७—प्रत्यायोजित-विधि सबधित समिति (कमेटी आन डेलिगेटेड लेजीस्लेशन)—इस समिति के सदस्यो की सख्या १५ तक होती है। इन्हे लोकसभा का अध्यक्ष मनोनीत करता है। इसका कार्य विभिन्न नियमों, उपनियमों आदि की जाँच करके ससद को प्रतिवेदन देना है, कि यह ससद या सविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति के अनुसार है या नहीं। ससद के अभिकर्त्ता के रूप मे इस समिति का महत्वपूर्ण कार्य कार्यपालिका की नियमो को निर्माण करने की शक्ति का सतर्कतापूर्ण निरीक्षण करना है, जिससे यह विदित किया जा सके कि कार्यपालिका ने अपने निर्धारित क्षेत्र मे रहकर ससद या सविधान द्वारा प्रत्यायोजित शक्ति अनुसार विधि निर्माण

१. सी० पी० भाम्मरी—'पूर्वोक्त पुस्तक' भाग ३, पृ० ८२।

२. जी० वी० मावलकर 'स्पीचेज एण्ड राइटिंग्ज—स्पीच टू पब्लिक अकाउन्ट्स कमेटी, अप्रैल, १० सन् १६५० पृ० ७६।

किया है या नहीं। इन दृष्टिकोण से यह समिति कार्यपालिका की निरंकुश वचन की प्रवृत्ति पर एक प्रभावशाली अंकुश है। इस समिति पर मंत्रियों की नियुक्ति नहीं की जा सकती है।

८—विशेषाधिकार समिति (कमेटी आन प्रिवीलेजेज)—इस समिति का गठन लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा सदन के अधिवेशन के आरम्भ में होता है। इसके १५ सदस्य होते हैं। इस समिति का कार्य विशेषाधिकार या विशेषाधिकार उल्लंघन संबंधी प्रश्नों की जांच करना है। जांच करने के पश्चात् समिति अपना प्रतिवेदन सदन को देती है। समिति का अध्यक्ष लोकसभा का अध्यक्ष होता है।

९—सरकारी आश्वासनों-सम्बन्धित समिति (कमेटी आन गवर्नमेण्ट एश्युरेन्सेस)—इस समिति में १५ सदस्य होते हैं। इस समिति का कार्य मंत्रियों द्वारा संसद में दिये गये आश्वासनों तथा वचनों की जांच, इस उद्देश्य से करना है कि मंत्रियों द्वारा वे कहाँ तक कार्यान्वित किये गये हैं। श्री एम० एन० कौल ने इस समिति की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"इस समिति ने प्रशासकीय कार्य-कुशलता पर चौकसी रखने के साथ पुरानी प्रणाली में से कई दोषों को दूर किया है। मंत्री, अब वचन देने में सतर्क हैं, और प्रशासन द्वारा दिये हुए वचन पर तत्काल कार्यवाही की जाती है। सरकार के मंत्री अब संसद के प्रति अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हैं।"[1]

१०—सदन में अनुपस्थित रहने वाले सदस्यों संबंधी समिति (कमेटी आन ऐबसेन्ट मेम्बर्स)—इस समिति की सदस्य संख्या भी १५ ही है, जिनको लोकसभा का अध्यक्ष एक वर्ष के लिए मनोनीत करता है। सदन के सदस्यों की अनुपस्थिति के संबंध में, आवेदन पत्रों की जांच यह समिति करती है। समिति प्रत्येक ऐसे मामले की जाँच करती है, जिसमें कोई सदस्य ६० या इससे भी अधिक दिनों तक बिना अनुमति के अनुपस्थित रहा है। समिति ऐसे मामले में, सदन को प्रतिवेदन भेजती है कि सदस्य की अनुपस्थिति माफ की जाये या उसका स्थान रिक्त घोषित किया जाय।

११—नियम समिति (रूल्स कमेटी)—इस समिति में १५ सदस्य हैं, जो लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। लोकसभा का अध्यक्ष ही इस समिति का अध्यक्ष होता है। इस समिति का कार्य सदन की प्रक्रिया तथा कार्य-वाही संचालन के नियमों की जाँच करना है, जिससे सदन की प्रक्रिया तथा कार्यवाही संचालन में आवश्यक संशोधन किया जा सके।

---

१ एम० एन० कौल—'पार्लियामेन्टरी प्रोसिजर सिन्स इनडिपेन्डेन्स (इन सिविक अफेयर्स) मार्च १९५७, पृ० १४।

भारतीय संसद मे विभिन्न समितियो की भूमिका का अध्ययन करने के पश्चात्, यह स्पष्ट है कि ससद मे एक सुसंगठित तथा प्रभावशाली दल के अभाव मे समितियाँ कार्यपालिका पर सतुलित तथा जनतान्त्रिक रूप से प्रभाव पहुँचाने मे सहायक हुई है।

ससदीय प्रश्न

ससद के हाथो मे, सरकार पर नियन्त्रण स्थापित रखने के लिए दूसरा साधारण साधन ससदीय प्रश्नो के रूप मे है। ससद के सदस्यो को मन्त्रियो से उनके विभागो से सबधित मामलो पर प्रश्न पूछने का अधिकार है। प्रश्न, ससदीय जनतत्र का एक मूल्यवान साधन है। "प्रश्न समय एक तेज प्रकाश वाले लैम्प के समान है, जिसका प्रकाश मन्त्रियो की कार्यवाही पर डाला गया है। यह एक स्वस्थ अवरोध है जो मंत्रियो को कार्य करने के लिए बाध्य करता है, जिससे वे किसी भी दिन सदन के किसी भी कोने से उठाये गये आलोचनात्मक प्रश्नो तथा अतिरिक्त प्रश्नो का सामना कर सकें। यह सदन के सदस्यो को वह अवसर देता है, जिसके द्वारा न केवल जानकारी हासिल की जा सकती है, परन्तु सत्ता के दुरुपयोग, इसकी असफलता तथा जनता की मागो की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। एक पीडित नागरिक के लिए जो अपने प्रतिनिधि को अपनी मागो के लिये प्रश्न पूछने के लिए कहता है, यह एक मूल्यवान उपचार है।"[1]

ससद मे प्रत्येक दिन बैठक के पहले घंटे मे प्रश्न पूछे जाते है। प्रश्न पूछने के लिए मंत्रालयो को तीन वर्गो मे बाँट दिया गया है। प्रत्येक वर्ग के सबंध मे प्रश्न पूछने के लिए सप्ताह मे दिन निर्धारित किये गये है। ये तीन वर्ग निम्न-लिखित है :—

क—विदेशी मामले, वैज्ञानिक अनुसधान, वाणिज्य-उद्योग कानून तथा पुनर्वास।

ख—कृषि, आवागमन, खाद्य, रेलवे, खदान, और शक्ति।

ग—प्रति रक्षा, शिक्षा, वित्त, स्वास्थ्य, गृह-मामले, व सूचना-प्रसार।

इस तरह प्रत्येक मंत्रालय से संबंधित विषयो पर सप्ताह मे प्रश्न पूछे जा सकते हैं। प्रश्न पूछने के लिए दो दिन की पूर्व सूचना देना आवश्यक है। सदस्यो को, सदन के नियमो के अनुसार अतिरिक्त प्रश्न पूछने का भी अधिकार है। प्रश्न,

---

१. एम० पी० शर्मा—'द गवंमेण्ट ऑफ द इण्डियन रिपब्लिक', १९६१ पृ० १८९।

यदि नियमानुसार नहीं पूछे गये हैं तो इनको सदन की कार्यवाही से अलग किया जा सकता है।

सामान्यत प्रश्नोत्तर मत्रियो के अधीन अधिकारियो द्वारा तैयार किये जाते हैं और मत्री उत्तरो को सदन मे पढ देते हैं। यदि स्पष्ट या सतोषजनक उत्तर नहीं दिया जाता है तो कोई भी सदस्य अतिरिक्त प्रश्न पूछ सकता है। अत प्रश्नो द्वारा ससद सदस्य किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर जनता का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। प्रश्न न केवल मत्रियो को सतर्क करते, अपितु प्रशासकीय अधिकारियो को भी सतर्क तथा कार्य कुशल होने के लिए बाध्य करते हैं। श्री ह्यु गेटस्केल कहते हैं—'जिस किसी न प्रशासकीय विभाग की आन्तरिक स्थिति को देखा है, वह मुझसे सहमत होगा कि लोक कर्मचारियो को अत्यत सतर्क, भीरु तथा सावधान और अपने लेख प्रमाण तैयार रखने के लिए सबसे महत्वपूर्ण तत्व ससदीय प्रश्न का डर है।"[1]

औपचारिक दृष्टि से ससदीय प्रश्न का उद्देश्य मत्रियो से जानकारी हासिल करना है। परन्तु वास्तव म प्रश्न को इस तरह रखा जाता है, कि विपक्षी दल को सरकार का नीचा दिखाते हुए कोई राजनीतिक उपलब्धि हो, या जिससे प्रशासकीय बुराई तथा सत्ता के दुरुपयोग पर ध्यान केन्द्रित हो। अत ससदीय प्रश्न का यह स्वरूप उनको एक तेज धार वाले अस्त्र के रूप म प्रदत्त है, जिसका उपयोग विपक्षी दल प्रभावपूर्वक कर सकते हैं।

ससदीय प्रस्ताव

ससद मे विभिन्न विषयो पर प्रस्ताव पारित करके सरकार को प्रभावित किया जा सकता है। प्रस्ताव प्रश्नो से भिन्न हैं, और उतने प्रभावकारी नही होत हैं। "प्रस्ताव प्रश्नो से दो तरह से भिन्न होते हैं। सर्वप्रथम ये प्रश्नो के समान प्रतिदिन उपयोग मे नही आते हैं। प्रायवेट सदस्य विधेयक के समान मतदान द्वारा इनको प्राथमिकता दी जाती है। द्वितीय, इनका उद्देश्य जानकारी हासिल करना नही परन्तु सरकार को कार्य करने का सुझाव देना है।'[2] प्रस्ताव पारित करने के लिए भी पूर्व सूचना देना आवश्यक है। प्रस्तावो को स्वीकृत होने का अर्थ यह नही है कि सरकार इनको मान्यता दे, क्योकि वास्तव मे ये सुझावो के रूप म ही होते हैं।

ससद सरकार पर स्थगन प्रस्ताव पारित कर प्रभाव डाल सकती है। इन प्रस्तावो का उद्देश्य, सामान्य कार्यों को छोडकर किसी महत्वपूर्ण सार्वजनिक विषय

१ एच० गेटस्केल, हेनसार्ड, अक्टू० २१,१९४७।
२ एम० पी० शर्मा—'पूर्वोक्त पुस्तक', पृ० १८६।

पर विचार-विमर्श करना होता है। स्थगन प्रस्ताव, प्रश्न—समय समाप्त होने के तत्काल पश्चात् किसी भी दिन रखा जा सकता है। तथापि, जो प्रस्ताव किसी सार्वजनिक महत्व के विषय से सबधित नही हैं, या किसी तरह स्पष्ट नही है, या अन्य क्षेत्राधिकार मे हैं या किसी न्यायालय के समक्ष हैं, वे सदन के अध्यक्ष द्वारा अस्वीकृत कर दिये जाते है।

स्थगन प्रस्ताव का सदन द्वारा पारित होना सरकार के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव पारित होना है। अतएव सरकार प्राय प्रयत्न करती है कि स्थगन प्रस्ताव पर मतदान न हो।

ससदीय बहस

ससद मे बहस एक अन्य महत्वपूर्ण साधन है, जिसके द्वारा ससद सरकार पर नियन्त्रण करती है। बहस द्वारा ससद सरकार तथा प्रशासन की नीतियो एव कार्यों के सबध मे जानकारी प्राप्त करती है। बहस का महत्व केवल उस समय होता है, जब ससद के समक्ष किसी नयी विधि के निर्माण या पुरानी विधि मे सशोधन या समाप्ति के लिए विधेयक है। वस्तुस्थिति यह है कि, प्राय सार्वजनिक महत्व के विषयो पर बहस होती है। 'एक तरह से हम कह सकते है कि ससद के सदन प्राय किसी न किसी विषय पर बहस करते है। विधेयक के प्रत्येक उपबन्ध, बजट के मुख्य हिस्से, तथा प्रत्येक प्रस्ताव पर विचार-विमर्श, वास्तव मे बहस ही है। एक सुस्पष्ट ससदीय परम्परा के अनुसार प्रधान मन्त्री कभी भी विपक्षी दल के नेता के किसी विषय पर बहस करने के निवेदन को अस्वीकृत नही करता है।"[१]

इस प्रकार बहस का महत्व यह है कि इसके द्वारा सरकार को अपनी नीति के किसी पहलू के स्पष्टीकरण और बचाव करने के लिए बाधित होना पडता है। और उसको उक्त विषय पर भिन्न मतो को मापने मे सहायता मिलती है। "इनके द्वारा विपक्षी दल, किसी नीति के क्षीण तत्वो को प्रकाश मे लाकर उनमे सुधार के लिए रचनात्मक सुझाव दे सकते है। सदनो म हुए विचार-विमर्श प्रेस तथा जनता के समक्ष आते हैं, जिससे उक्त विषय पर जनमत का निर्माण होता है।"[२]

ससद मे बहस का सबसे महत्वपूर्ण विषय बजट है। जब ससद विचार विमर्श करने के दौरान विभिन्न विभागो की वित्तीय मागो की कडी जाँच करती है, उस वक्त प्रत्येक प्रशासकीय विभागो की नीतियो तथा कार्यों का ससद को निरीक्षण करने का अवसर प्राप्त होता है।

---

१. एम० पी० शर्मा—'पूर्वोक्त पुस्तक', पृ० १९० ।
२ वही पृ० १९० ।

अतएव बजट पर बहस के समय प्रत्येक मंत्रालय के कार्य को संसद की कड़ी नजर के समक्ष लाया जाता है। संक्षेप में, प्रश्नों तथा बहस द्वारा, प्रशासन का निरन्तर एवं अनवरत पुनरीक्षण होता है। "छोटे-छोटे विषय के अत्यधिक महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं। क्योंकि विपक्षी दलों द्वारा सारा समय, कार्यपालिका की दुर्बलताओं पर दृष्टिपात करने में व्यतीत होता है और यदि एक बार यह विदित हो जाये तो विपक्षी दल उनका उपयोग निरन्तर करते हैं।"[१]

अतः जैसा अर्ल एटली का कथन है—"मेरे विचार में सदन में प्रश्न का समय वास्तविक जनतंत्र का सर्वोत्तम उदाहरण है—मंत्रियों से प्रश्न पूछने का, और सार्वजनिक रूप से सदन में पूछे गये प्रश्नों का प्रभाव सारी लोकसेवा को सतर्क करता है।"[२]

संसद की राष्ट्रपति के संबंध में शक्तियाँ

भारतीय संविधान द्वारा संसद को, राष्ट्रपति पर नियन्त्रण के लिए कतिपय शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं। राष्ट्रपति के संबंध में संसद की निम्नलिखित शक्तियाँ हैं :—

१—राज्य विधान समाओं के निर्वाचित सदस्यों के साथ मिलकर संसद के निर्वाचित सदस्यों द्वारा राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल का गठन होता है। उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों द्वारा किया जाता है।

२—राष्ट्रपति पर अनुच्छेद ६१ के अन्तर्गत महाभियोग लगाकर संसद उसे पदच्युत कर सकती है। परन्तु इस संबंध में, जैसे देखा जा चुका है, एक गंभीर त्रुटि यह है कि जब संसद का सत्र नहीं हो रहा है और यदि ऐसे समय राष्ट्रपति संविधान का उल्लंघन करता है तो राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाना संभव नहीं होगा क्योंकि संसद सत्र में नहीं है और संसद के अधिवेशन आमंत्रित करने का अधिकार केवल राष्ट्रपति को ही है।

३—विधि-निर्माण-कार्य मुख्य रूप से संसद का ही उत्तरदायित्व है, परन्तु जब संसद के दोनों सदनों द्वारा विधेयक पारित होता है तब उसे राष्ट्रपति की सहमति के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति विधेयक पर या तो अपनी सहमति

---

१. एन० वी० गाडगिल, अकाउन्टेबिलिटि आफ पब्लिक एडमिनीस्ट्रेशन द इण्डियन जनरल आफ द पब्लिक एडमिनीस्ट्रेशन, न्यू देहली भाग—१ न० ३, पृ० १६६।

२. सी० एटली—"सिविल सर्विस इन ब्रिटेन एण्ड फ्रान्स, सम्पादित, डब्ल्यू ए० राबसन द्वारा—१९५६, पृ० २०।

देता है या ससद के पुनर्विचार के लिए वापिस भेजता है। राष्ट्रपति के निषेधाधिकार के बावजूद भी ससद ही सर्वोच्च है।

४—अनुच्छेद १२३ के अन्तर्गत जब ससद अधिवेशन मे नही है, तब राष्ट्रपति आवश्यकता होने पर अध्यादेश जारी कर सकता है। राष्ट्रपति के अध्यादेश लागू करने के अधिकार पर सविधान निर्माताओ ने कतिपय महत्वपूर्ण अवरोधो के लिए सविधान म प्रावधान किया है। यह अवरोध विशेषकर ससद की उस शक्ति के रूप मे है, जिसके द्वारा ससद अपनी बैठक मे अध्यादेश को समाप्त कर सकती है। यह सत्य है कि राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति को दुरुपयोग मे लाने से रोकने के लिए ससद को कुछ शक्ति है परन्तु यह स्पष्ट है कि यह पर्याप्त नही है, क्योंकि ससद को स्थागित रखने का अधिकतम समय छ माह है और इस दृष्टि से एक अध्यादेश का कार्यकाल ६ माह का हो सकता है। इस अत्यधिक समय मे कार्यपालिका अध्यादेश द्वारा असीमित शक्तियाँ प्राप्त कर निरकुश बन सकती है। "किसी भी देश मे जहाँ लिखित सविधान तथा ससदीय सरकार है वहाँ राष्ट्राध्यक्ष को इस तरह की अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त नही हैं।"[१]

राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश जारी करने की शक्ति के माध्यम से, कार्यपालिका असीमित शक्तियो का अपहरण कर सकती है।

इस शक्ति की तुलना, भारत सरकार के अधिनियम १९१९ तथा १९३५ के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति से की जा सकती है, जिसने ब्रिटिश राज म कार्य पालिका को अत्यन्त शक्तिशाली बनाया था। यद्यपि यह सत्य है कि भारत मे सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति, मत्री मण्डल की सलाहानुसार ही अध्यादेश जारी करेगा, परन्तु सविधान मे कोई प्रभावपूर्ण आश्वासन नही है कि कार्यपालिका इस शक्ति का दुरुपयोग नही करेगी। केवल राष्ट्रपति ही इस बात का निर्णायक है कि किन कारणो के वश अध्यादेश जारी किया जाये। न्यायालय, राष्ट्रपति के इस कार्य की उपयुक्तता के प्रश्न की जाँच नही कर सकते है न ही इस बात की भी कि अध्यादेश जारी करने के लिए आवश्यकता भी थी या नही थी। न्यायालय केवल इस प्रश्न की ही जाँच कर सकते हैं कि अध्यादेश सविधान द्वारा प्रदत्त राष्ट्रपति को शक्ति के अनुसार लागू किया गया है अथवा नही।

सविधान सभा मे वाद-विवाद के दौरान डा० अम्बेदकर ने, यह प्रश्न रखकर, राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति का औचित्य बतलाने का प्रयत्न

---

५ ए० बी० लाल–'द इण्डियन पार्लियामेन्ट, १९५६, पृ० २३।

किया, "उन परिस्थितियों की कल्पना करने मे कोई कठिनाई नही हो सकती है, जब वर्तमान कानून किसी अकस्मात एव तत्काल रूप से निर्मित परिस्थिति के लिए प्रर्याप्त न हो। कार्यपालिका तब क्या करे ? ऐसी गभीर समस्या का मुकाबला करना होगा, और मेरे मतानुसार इस समस्या का केवल यही समाधान है कि राष्ट्रपति को उक्त समस्या का सामना करने के लिए कानून लागू करने की शक्ति प्रदत्त की जाये क्योकि व्यवस्थापिका सत्र मे नही है।"[1]

राष्ट्रपति की अध्यादेश लागू करने की शक्ति के औचित्य का परीक्षण दो विकल्पो को ध्यान मे रखकर करना आवश्यक होगा। सर्वप्रथम, चूंकि राष्ट्रपति को सविधान के अन्तर्गत ससद को आमन्त्रित करने का अधिकार है तो क्या ससदीय प्रणाली के सदर्भ मे यह उचित नही होता कि किसी महत्वपूर्ण तथा गमीर प्रश्न के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति के स्थान पर अमरीकी राष्ट्रपति की शक्ति के समान भारतीय राष्ट्रपति को संघीय व्यवस्थापिका सभा के विशेष सत्र आमन्त्रित करने की शक्ति सविधान द्वारा प्रदत्त की जानी चाहिये थी, अथवा, द्वितीय, यदि राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्रदान करना अति आवश्यक है तो क्या सविधान निर्माताओ को अध्यादेश के कार्यकाल को निश्चित रूप से निर्धारित करना आवश्यक नही था ? और साथ ही, उचित होता कि सविधान मे इस विषय पर यह प्रावधान भी रखते कि अध्यादेश के जारी होने के तुरन्त बाद ससद का अधिवेशन आमन्त्रित किया जाये।

संविधान मे इस प्रकार के प्रावधानो का अभाव जनतत्र के लिए हानिकारक है। श्री अनन्त शयन अय्यगार (लोक सभा के एक अध्यक्ष) ने "भारत मे विधि तथा जनतत्र", विषय पर १६५६ मे भाषण देते हुए कहा था कि राष्ट्रपति कि अध्यादेश लागू करने की शक्ति 'ससदीय पद्धति मे निषेधात्मक है।'[2]

५—यदि राष्ट्रपति सतुष्ट है कि भारत की सुरक्षा को, युद्ध या वाह्य आक्रमण या आन्तरिक व्यवस्था को खतरा है, तो वह सविधान के अनुच्छेद ३५२ (१) के अन्तर्गत, आपत्कालीन स्थिति की घोषणा कर सकता है। राष्ट्रपति, अनुच्छेद ३५२ (३) के अनुसार उपर्युक्त वर्णित खतरे की समावना मे भी आपत्कालीन स्थिति की घोषणा कर सकता है। "आपत्कालीन शक्तियाँ राष्ट्रपति मे निहित हैं। यह राष्ट्रपति को निर्धारित करना है कि सकटकालीन स्थिति है, राष्ट्रपति को इसकी घोषणा करना है और राष्ट्रपति को इसको समाप्त करना है। आपत्-

---

१. बी० आर० अम्बेदकर, कान्स्टीट्युएन्ट असेम्बली डिबेट्स भाग ८, पृ० २१३।

२. ए० अय्यगर—'ट्रिब्यून' अम्बाला, फरवरी ६, १६५६।

कालीन स्थिति मे, ऐसा प्रतीत होता है कि सविधान स्थिति का सामना करने के लिए राष्ट्रपति पर निर्भर है।[1]

तथापि, सविधान सभा के वाद-विवादो म श्री अल्लादी स्वामी अय्यर ने यह स्पष्ट किया कि 'सविधान मे, वास्तव म, 'राष्ट्रपति' शब्द का तात्पर्य मत्री मण्डल, (वास्तविक कार्यपालिका) से है, जो लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है"[2] इस विषय पर सविधान मे विद्यमान कतिपय त्रुटियो को ध्यान मे रखना चाहिय।

अनुच्छेद ३५२ (२) के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा की गई आपत्कालीन घोषणा दो माह के बाद समाप्त हो जायेगी, यदि इसी बीच ससद के दोनो सदनो द्वारा वह स्वीकृत नही होती है। यदि घोषणा ऐसे समय हुई है, जब लोकसभा विघटित हो चुकी है या होने जा रही है, तब घोषणा के लिए दो माह के अन्दर राज्यसभा की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है और तत्पश्चात् नई लोकसभा की बैठक के तीस दिन के अन्दर उसकी स्वीकृति होना भी आवश्यक है। यदि नई लोकसभा द्वारा घोषणा अस्वीकृत की जाती है तो लोकसभा की बैठक के तीस दिन के बाद घोषणा स्वत समाप्त हो जायेगी। सविधान के अनुसार कार्यपालिका को ससद के समक्ष आपत्कालीन घोषणा प्रस्तुत करने के लिए, दो माह की लम्बी अवधि दी गई है। जहां तक आपत्कालीन शक्तियो को कार्यपालिका मे निहित करने का प्रश्न है, इसके सबध मे कोई आपत्ति नहो है, परन्तु यह अत्यावश्यक है कि इसके साथ ही इस विषय पर ससद की भूमिका को और अधिक प्रत्यक्ष, निश्ट, तथा प्रभावशाली करना चाहिये था, जिससे आपत्कालीन शक्तियो के कार्यपालिका द्वारा उपयोग पर ससद वास्तविक रूप से अकुश रख सकती है। इग्लैण्ड मे कार्यपालिका आपत्कालीन स्थिति की घोषणा करती है और तत्पश्चात् ससद सहमति प्रदत्त करती है, परन्तु ब्रिटिश पद्धति, भारतीय पद्धति, से महत्वपूर्ण रूप मे भिन्न है। इग्लैण्ड म आपत्कालीन घोषणा का तात्पर्य ससद का स्वत पाच दिनो मे आमन्त्रित होना है जबकि भारत मे घोषणा के ससद के समक्ष प्रस्तुत होने के लिए दो माह तक रोका रखा जा सकता है। अत यह स्पष्ट है कि ससद का कार्यपालिका पर, आपत्कालीन घोषणा की दृष्टि से, अपर्याप्त नियत्रण है क्योकि यह तत्काल तथा प्रत्यक्ष नही है। इसका उपचार यह है कि ससद, विशेषकर लोकसभा, को और अधिक शक्तिशाली बनाया जाये। जब तक सदन (लोकसभा) सत्र मे है और बहुमत इसका विरोध करता है, कोई राष्ट्रपति सविधान के अनुच्छेद ३५२ का

---

१ के० वी० राव०—'पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी इन इण्डिया, १९६१, पृ० २३१।

२ ए० के अय्यर,—'कान्स्टीट्युएन्ट असेम्बली डिबेट्स भाग—९, पृ० ५४५-४६।

दुरुपयोग नही कर सकता है और, यदि, सविधान निर्माताओ द्वारा पूर्व मे, ही कुछ सावधानी के उपाय, जो निम्नलिखित हैं, किये जाते तो उचित होता।

एक—राष्ट्रपति की लोकसभा को आमन्त्रित, स्थगित एव विघटन करने की शक्तियाँ आपत्कालीन समय म स्थगित रह।

दो—यदि ससद सत्र म नही है तो ऐसे समय मे आपत्कालीन घोषणा होने से ससद की बैठक सात दिन के अन्दर स्वत आमन्त्रित हो,

तीन—यदि ऐसे आपत्कालीन समय म लोकसभा विघटित है और आम चुनाव सम्पन्न नही हुए हैं तो पुरानी लोकसभा स्वत पुन प्रभावी हो। भविष्य मे ऐसी आकस्मिक स्थिति की सभावना को कि राष्ट्रपति लोकसभा को भग करके आपत्कालीन घोषणा करे, दूर करने के लिए यह प्रावधान आवश्यक है,

चार—लोकसभा को अपने को स्थगित करने, या अपना कार्यकाल बढाने का अधिकार होना चाहिये। उपर्युक्त प्रावधान सविधान के आपत्कालीन प्रावधानो का दुरुपयोग रोकने एव ससद की सार्वभौमिकता स्थायी रखने के लिए सविधान निर्माताओ की इच्छा के और अधिक अनुकूल होगे।

६—राष्ट्रपति भारतीय सेनाओ का सेनापति है। अनुच्छेद ५३ (२) के अनुसार राष्ट्रपति भारतीय सेनाओ का सर्वोच्च अधिकारी है। परन्तु इस हैसियत मे राष्ट्रपति को ससद द्वारा निर्मित विधि के अनुसार कार्य करने होंगे। अनुच्छेद २४६ के अनुसार ससद को, सातवीं अनुसूची म उल्लिखित प्रथम सूची मे दिये हुए सारे विषयो पर विधि निर्माण करने का अधिकार है। इस सूची (सघ सूची) म विषय क्रमाक १,२ और १५ भारतीय सेना युद्ध तथा शान्ति विषयो से सबधित हैं। इगलैण्ड मे युद्ध घोषणा तथा शान्ति स्थापित करने का अधिकार कार्यपालिका का है, परन्तु भारत मे राष्ट्रपति बिना ससद की अनुमति के या बिना ससद की अनुमति के पूर्वज्ञान के न युद्ध की घोषणा कर सकता है, न ही भारतीय सेनाओ का उपयोग कर सकता है। अतएव राष्ट्रपति भारतीय सेनाध्यक्ष होने पर भी स्वततापूर्वक ससद की इच्छा के विरुद्ध, सैन्य शक्ति का उपयोग नही कर सकता है।

सघीय कार्यपालिका तथा ससद के विभिन्न सम्बन्धो का सैद्धान्तिक आधार पर अध्ययन करने के पश्चात्, हमारे समक्ष प्रश्न है कि भारत के सविधान के अन्तर्गत व्यवहारिक दृष्टि से सघीय कार्यपालिका तथा ससद मे क्या सम्बन्ध हैं?

व्यावहारिक दृष्टि से सघीय कार्यपालिका तथा ससद के सबध

सैद्धान्तिक दृष्टि से सघीय कार्यपालिका तथा ससद के विभिन्न सम्बन्धो का विश्लेषण करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि ससद अत्यन्त शक्तिशाली है

ग्रौर कार्यपालिका सम्पूर्ण रूप से ससद के ग्रधीन है। परन्तु, ससदीय पद्धति की कार्यप्रणाली की व्याख्या के फलस्वरूप, कतिपय ऐसे तत्व ध्यान मे रखे जा सकते हैं, जिन्होंने मत्री मण्डल को वास्तव मे, एक ग्रत्यन्त शक्तिशाली सस्था बना दिया है। फलस्वरूप ससदीय पद्धति मे कार्यपालिका व्यवस्थापिका के सम्बन्धो की स्थिति, बिल्कुल पलट गई है। १६वी शताब्दी मे विशेषकर ब्रिटेन की ससदीय प्रणाली की दृष्टि से, ससद की प्रभुसत्ता पर बल दिया जाता था, किन्तु २०वी शताब्दी मे, मत्री मण्डल की ग्रसीमित शक्तियाँ प्राय चर्चा का विषय है। इसी विषय के सदर्भ मे प्रो० मोरिस जोन्स का कथन है "भारत म ससद को एक बाह्य दिखावट के समान बतलाया गया है जो कठिनता से, एक शक्तिशाली निरकुश तत्र को छिपा सकता है। इस मत के लिए श्रेय कुछ तो काग्रेस दल की शक्तिशाली स्थिति को है। तथापि यह बतलाना उपयोगी होगा कि मत्री मण्डल की निरकुशता के ग्रारोप से, भारत के बाहर भी (लोग) सुपरिचित हैं, वे लोग जिनका यह विचार था कि स्वतत्रता का ग्रर्थ (सरकारी) कार्यों के शक्तिशाली निर्देशन का ग्रन्त होगा, उनको यह सीखना होगा कि ब्रिटिश ससदीय प्रणाली मे शक्तिशाली सरकारो को प्रोत्साहन मिलता है।"[1]

भारत मे केन्द्र मे, ससदीय कार्यपालिका (मत्री मण्डल) की स्थिति ग्रत्यन्त शक्तिशाली है। ग्रतएव कार्यपालिका तथा ससद के सम्बन्धो का व्यवहारिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए हमारा उद्देश्य यहाँ पर उन तत्वो का ग्रध्ययन करना है, जिनके फलस्वरूप वास्तविक कार्यपालिका (मत्री मण्डल) भारतीय राजनीतिक प्रणाली मे, एक शक्तिशाली सस्था हो गई है।

ससद के सबध मे मत्री मण्डल की शक्तियाँ

ससदीय प्रणाली मे मत्री मण्डल ससद के निचले सदन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। भारतीय सविधान के ग्रनुसार मत्रियो को ससद का सदस्य होना ग्रावश्यक है। ग्राधुनिक समय मे मत्री मण्डल ससदीय प्रणाली मे वास्तविक कार्यपालिका के रूप में एक ग्रत्यन्त शक्तिशाली सस्था बन गया है।

मत्री मण्डल के ग्रत्यन्त शक्तिशाली होने पर भी, ससद केवल एक शक्तिविहीन सस्था नही रह गई है। भारतीय सविधान के लागू होने के पश्चात्, भारतीय ससदीय पद्धति की जडो को शक्तिशाली करने मे एव सरकार के एक उपयोगी ग्रग के रूप मे कार्य करने मे समय-समय पर ससद ने निश्चित ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इगलैण्ड मे भी ससद के ग्रत्यन्त शक्तिशाली तथा उपयोगी सस्था होने

---

१. डब्ल्यु एच० मोरिस जोन्स-पार्लियामेन्ट इन इण्डिया, १६५७ पृ० ३२८।

पर भी, मंत्री मण्डल की शक्तियों में वृद्धि हुई है। अतः ब्रिटिश मंत्री मण्डल के लिए यह कहा जाता है कि यह निरंकुश हो गया है। "जब इसको बहुमत प्राप्त है, इसकी स्थिति विज्ञप्तियों द्वारा नियंत्रित निरंकुशता है।"[1]

भारत में मंत्री मण्डल की शक्तियों में वृद्धि के निम्नांकित कारण हैं।

१—भारत में, कांग्रेस दल को १९७१ फरवरी-मार्च के मध्यावधि चुनाव में लोकसभा में भारी बहुमत प्राप्त हुआ है। एक राजनीतिक दल के रूप में कांग्रेस दल ने अपने संगठन एवं कार्यों के दृष्टिकोण से एक विशाल यंत्र का रूप धारण कर लिया है, जिसका सम्पूर्ण अस्तित्व तथा सफलता एक केन्द्रीय इंजिन पर निर्भर रहता है। डा० एम० पी० शर्मा का कथन है—'कांग्रेस संगठन का मुख्य आधार व्यवस्थापिका में या बाहर शक्तियों का निम्न-समितियों के अपेक्षा उच्च समितियों में, तथा साधारण सदस्यों की अपेक्षा नेताओं में केन्द्रीयकरण होना है। यह इसके दलीय अनुशासन एवं संसदीय पद्धति के अनुसार कार्य करने के लिए जैसा कि ब्रिटेन में समझा जाता है, अत्यन्त उत्तम है।'[2]

दल में अनुशासन की कठोरता के परिणाम स्वरूप सदस्यों को अपनी सरकार का संसद में आंख-मूंदकर अनुमोदन के सिद्धान्त से, संसद में, सामान्य तौर से सरकार के पक्ष में बहुमत बना रहता है। इसी कारण जब श्रीलालबहादुर शास्त्री एवं श्रीमती गांधी की सरकारों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाये गये, दलीय अनुशासन के कारण प्राप्त हुए बहुमत से इन प्रस्तावों को विफल कर दिया गया।

संसदीय प्रणाली में दलीय अनुशासन के कारणों तथा परिणामों पर प्रो० लास्की के ब्रिटिश संसदीय पद्धति से संबंधित कतिपय विचारों को, जिन्हें समान रूप से भारतीय पद्धति में भी उपयोगिता-पूर्वक लागू किया जा सकता है, ध्यान में रखना लाभदायक होगा।

'दल में अनुशासन की कठोरता में वृद्धि के कारण, साधारण नहीं हैं। कुछ मात्रा में, यह इस तथ्य के कारण है कि आधुनिक ब्रिटेन के लिए विस्तृत दलीय संगठन की आवश्यकता है। कुछ मात्रा में (समाज के कार्यों में) राज्य द्वारा हस्तक्षेप की आवश्यकता के फलस्वरूप संसद में सरकारी कार्यों में भी वृद्धि हुई है, और यदि उन कार्यों को समय में ही करना है तो और अधिक कठोर दलीय अनुशासन आवश्यक है। कुछ मात्रा में कदाचित इसलिए भी कि आधुनिक मतदातागण, सिद्धान्तों पर व्यक्तित्व के सन्दर्भ में विचार करते हैं, वे सदस्यों का निर्वाचन, उनके स्वयं की अपेक्षा उनके नेताओं के कारण अधिक करते हैं। सम्पूर्ण दलीय व्यवस्था

१. आर० मूर, हाउ ब्रिटेन इज गवर्नड्, १९३८ पृ० ८९।
२. एम० पी० शर्मा—'पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २९५।

आवश्यक रूप से व्यावसायिक हो गई है। और उसके कार्यों के विस्तार के कारण इसको ऐसे अनुशासन की आवश्यकता है जो कि सैनिक अनुशासन के समान है।"[1]

भारत म भी मत्री मण्डल की स्थिति के शक्तिशाली हो जान का एक कारण यही है कि दलीय अनुशासन की कठोरता के कारण, मत्री मण्डल को ससद मे सामान्यत बहुमत प्राप्त रहता है।

२—मत्री मण्डल की शक्तिशाली स्थिति का एक अन्य कारण सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है। मत्री मण्डल के एक इकाई के रूप मे कार्य करने पर ही सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है। लोकसभा के प्रति मत्री मण्डल के उत्तरदायित्व के सिद्धान्त द्वारा न केवल मत्री मण्डल मे एकता बनी रहती है, परन्तु इसी से प्राप्त बहुमत क आधार पर मत्री-मण्डल ससद की कार्यवाई का निर्देशन तथा नियन्त्रण कर सकता है।

३—मत्री मण्डल की शक्तिशाली स्थिति का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण ससद को भग करवाने की उसकी शक्ति है। ससदात्मक पद्धति म सामान्यत राष्ट्राध्यक्ष प्रधान मत्री के परामर्शानुसार ही ससद के निचले सदन लोकसभा को भग कर सकता है। इगलैण्ड मे यदि मत्री मण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो चुका है तो उसको अपना इस्तीफा देना आवश्यक है। परन्तु ससदात्मक पद्धति की एक सुस्पष्ट परम्परा के अनुसार अपना इस्तीफा देने के पूर्व प्रधान मत्री ससद के निचले सदन को भग कराने के लिए राष्ट्रपति से अनुरोध कर सकता है, जिससे आम-चुनाव करवाये जा सकें। आम चुनाव से यह ज्ञात किया जाता है कि वास्तव मे, मतदातागण, ससद के मत्री मण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करने के बावजूद भी मत्री मण्डल के समर्थक है या नही। सामान्यत, प्रधान मत्री के अनुरोध पर सम्राट् ससद को भग करता है। तत्पश्चात्, यदि आम-चुनाव म मत्री मण्डल को बहुमत प्राप्त हो जाता है तो वह पुन. सत्तारूढ हो जावेगा, अन्यथा मत्री मण्डल को इस्तीफा देना ही होगा। भारत म भी चूंकि सविधान के अन्तर्गत ससदात्मक पद्धति स्थापित की गई है, इसलिए उपर्युक्त परम्परा को मान्यता दी गई है। सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को लोकसभा को भग करने का अधिकार है। किन्तु सामान्यत राष्ट्रपति इस अधिकार का उपयोग प्रधान मत्री की सलाह के अनुसार ही करेगा।

ससदात्मक प्रणाली मे, ससद के निचले सदन को भग करने के लिए प्रधान मत्री का राष्ट्रपति को सलाह देने का अधिकार निश्चय ही ऐसा एक प्रभावशाली साधन है, जिससे मत्री मण्डल निचले सदन पर नियन्त्रण करता है। यदि ससद के

---

१. एच० लास्की, 'पार्लियामेण्ट–गवर्नमेन्ट इन इण्डिया' १९३८, पृ० ७४।

निचले सदन को मंत्री मण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करने का अधिकार है तो मंत्री मण्डल को राष्ट्रपति को सदन भंग कराने की सलाह देने का अधिकार है। संसदात्मक प्रणाली के इतिहास के अध्ययन के द्वारा यह स्पष्ट हो जायेगा कि मंत्री मण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करना एक सरल कार्य नहीं है, क्योंकि जैसा देखा जा चुका है, कठोर दलीय अनुशासन के कारण मंत्री मण्डल को प्राय बहुमत का समर्थन रहता है। ऐसी स्थिति में यदि मंत्री मण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करने का प्रयत्न किया जाता है, तो मंत्री मण्डल इसका बदला सदन को भंग करने की सलाह देकर चुका सकता है, क्योंकि संसद के भंग होने के परिणाम कतिपय सदस्यों के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं। उनको ज्ञात है कि संसद के भंग होने के पश्चात् उनको पुन. आम-चुनाव का सामना करना होगा, जिसमें उनको समय और धन व्यय करना होगा, और इसके उपरान्त यह भी सम्भव है कि वे निर्वाचित न हो सकें। परिणाम स्वरूप, संसद को भंग करने की चेतावनी, सदस्यों पर एक महत्वपूर्ण अंकुश है जिससे मंत्री मण्डल के विरुद्ध उनके कार्य करने पर रोक लगती है। भारतवर्ष में फरवरी मार्च १९७१ में मध्यावधि आम-चुनाव कराने के लिए प्रधान मंत्री श्रीमती गांधी की सलाह पर राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि महोदय ने दिसम्बर १९७० में संसद को भंग किया। वैसे तो विरोधी दल संसद भंग होने के पूर्व बारम्बार आम-चुनाव की मांग कर रहे थे, किन्तु जब संसद को प्रधान मंत्री की सलाह से राष्ट्रपति ने आम-चुनाव कराने के लिए भंग किया तो विरोधी दलों ने एक नया राग अलापना आरम्भ किया कि प्रधानमंत्री को संसद के भंग कराने के लिए राष्ट्रपति को सलाह देने का अधिकार नहीं था। विरोधी दलों की इस विचित्र मनोवृत्ति का कारण यह था कि आम-चुनाव चाहते हुए भी उनको चुनाव का भय था, यद्यपि चुनाव के पूर्व अपने वक्तव्यों में उन्होंने सदा आशा व्यक्त की कि श्रीमती गांधी की नयी कांग्रेस को वे आसानी से पराजित करेंगे। इस मनोवृत्ति के कारण जब चुनाव की वास्तविकता का उनको सामना करना पड़ा तो उन्होंने प्रधान मंत्री पर प्रहार करना प्रारम्भ किये कि प्रधान मंत्री को राष्ट्रपति द्वारा संसद भंग करवाने का कोई अधिकार नहीं था। प्रधान-मंत्री द्वारा संसद को भंग करने के लिए राष्ट्रपति को दी गई सलाह का औचित्य विशेषकर इसमें है कि संसद को भंग करने का उद्देश्य आम-चुनाव सम्पन्न कराके मतदाताओं की इच्छा ज्ञात करना था, जिसके आधार पर नयी सरकार की स्थापना की जा सके। संसदीय प्रणाली में, सरकार के प्रति मतदातागण की इच्छा को आम-चुनाव के माध्यम से ज्ञात करने के अधिकार के संबंध में कोई मतभेद नहीं हो सकता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि प्रधान मंत्री का, आम-चुनाव करवाने के लिए राष्ट्रपति को संसद भंग करने की सलाह देने का अधिकार तथा कठोर दलीय

अनुशासन संसद में मंत्री मण्डल की स्थिति को शक्तिशाली करने में सहायक हैं।

डा० एच० फाईनर ने ब्रिटिश संसदीय पद्धति के दृष्टिकोण (और यह भारतीय संसदीय पद्धति पर पूर्णतया लागू होता है) से, निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है कि किस प्रकार कठोर दलीय अनुशासन के कारण प्रत्येक दलीय सदस्य, सरकार का प्रायः समर्थन करता है। "जब मंत्री मण्डल दलीय सचेतकों द्वारा यह सूचना प्रसारित करता है कि मामला अत्यधिक महत्वपूर्ण है तब न केवल दल के हठीले सदस्यों को उस पर विचार करना पड़ता है, किन्तु विपक्षी दल को भी गंभीरता पूर्वक विचार करना पड़ता है कि वास्तव में क्या मामला आम-चुनाव की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण है और क्या उनके द्वारा सरकार स्थापित की जा सकने की कोई संभावना है। यदि राजनीतिक स्थिति उनके अनुकूल नहीं है, तो वे पूर्णतया या कुछ मात्रा में समर्थन कर देंगे—परन्तु जहाँ विपक्षी दल अल्पमत में है या जब तक सरकारी दल में फूट की संभावना नहीं है वहाँ मुश्किल से ही ऐसे प्रश्न सामने आते हैं।"[1]

४—इस प्रकार मंत्री मण्डल की शक्तियों में वृद्धि का एक और अन्य महत्वपूर्ण कारण हमारे समक्ष आता है वह है कि संघीय संसद में एक संगठित तथा शक्तिशाली विपक्षी दल का अभाव। १९५० से, जब भारत के संविधान को लागू किया गया था, संसद में एक संगठित विपक्षीय दल के स्थान पर कई राजनीतिक दल हैं, जिनमें सत्तारूढ़ दल की आलोचना करने की, किन्तु उसके स्थान पर एक वैकल्पिक सरकार के निर्माण करने की क्षमता नहीं है। यह अभाव वास्तव में भारतीय संसदीय प्रणाली की एक गंभीर त्रुटि है, क्योंकि संसदीय प्रणाली की कार्यपालिका पर कोई प्रभावशील अंकुश न होने से, कार्यपालिका निरंकुशता के पथ पर अग्रसर हो सकती है।

५—प्रत्यायोजित-विधि के कारण भी भारत में कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है। सामान्यतः विधि के तीन प्रकार हैं।

क—सर्वोच्च विधि—जो लिखित संविधान के रूप में देश का सर्वोच्च कानून है।

ख—साधारण विधि—जिसका निर्माण, संविधान के अन्तर्गत स्थापित व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा संविधान के अनुसार किया जाता है।

ग—प्रत्यायोजित विधि—साधारणतया, विधि-निर्माण-कार्य व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा किया जाता है, परन्तु आधुनिक समय में, जनतांत्रिक राज्य में,

१ एच० फाईनर—'द थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस आफ माडर्न गवर्नमेण्ट', १९५० पृ० ६२०.

व्यवस्थापिका सभा पर कार्यभार बहुत हो गया है। प्रत्येक सत्र में व्यवस्थापिका को एक बड़ी संख्या में विधेयक पारित करने होते हैं। भारतीय संसद भी, देश के विकास के लिए अनेकों विधेयकों को पारित करती है। भारतीय संविधान का उद्देश्य एक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य के कार्य क्षेत्र में व्यापक वृद्धि होना स्वाभाविक है। लोक कल्याणकारी राज्य में विधि-निर्माण-कार्य के लिए विशिष्ट तकनीकी निपुणता की आवश्यकता है। अतएव यह आवश्यक है कि तकनीकी विषयों पर नियमों का निर्माण कार्य, प्रशासकीय विशेषज्ञों द्वारा विचार किये जाने के लिए छोड़ दिया जाये। परन्तु इन विशेषज्ञों को तकनीकी विषयों पर नियमों का निर्माण संसद द्वारा पारित विधि के क्षेत्र में ही करना होगा। अतः संसद विधि की रूपरेखा प्रायः निर्धारित करती है, जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका, संसद द्वारा प्रदत्त शक्ति के अनुसार नियमों का निर्माण करती है। इसको प्रत्यायोजित-विधि कहा जाता है। कार्यपालिका, प्रत्यायोजित-विधि का उपयोग, संसद द्वारा पारित विधि के निर्धारित क्षेत्र में, नियमों का निर्माण करने के लिए करती है, जिससे संसदीय विधि को प्रभावपूर्वक कार्यान्वित किया जा सके। प्रत्यायोजित विधि के रूप में निर्मित नियमों का प्रभाव संसदीय विधि के समान ही होता है और इनको न्यायालय में तब ही चुनौती दी जा सकती है जब मूल विधि, जिसके अन्तर्गत इसका निर्माण हुआ है, अवैधानिक हो। अतः अप्रत्यक्ष रूप से, भारत में प्रत्यायोजित विधि से कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है।

६—अन्तिम महत्वपूर्ण कारण, जिससे भारत में कार्यपालिका को शक्तिशाली बनने में सहायता मिली है, प्रशासकीय न्याय है। "चूंकि सरकार अपने विभिन्न प्रकार के कार्यों को पूरा करे, अतः प्रशासकीय अंगों को विधि निर्माण तथा निर्णय देने के अधिकार प्रदत्त करने की परम्परा बन गयी है।"[1] विभिन्न प्रशासकीय विभागों को नियमों का निर्माण करने के अतिरिक्त, विभिन्न विवादों पर निर्णय देने का भी अधिकार है। उदाहरण के लिए, आय-कर अपीलीय न्यायाधिकरण का संगठन, अपीलीय सहायक कमिश्नरों के आदेशों से अपील सुनने के लिए किया गया है। आयकर अपीलीय न्यायाधिकरण के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति संघीय विधि मंत्रालय, संघीय लोकसेवा आयोग की सलाह से करता है। प्रशासकीय न्यायाधिकरण रूपी साधन का उपयोग एक स्थायी न्यायिक तंत्र के समान प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में लिया जाता है, जैसे—औद्योगिक संबंध, (श्रमिक न्यायालय, औद्योगिक न्यायाधिकरण, राष्ट्रीय न्यायाधिकरण एवं वेतन

१. ए० पी० हरसुमानी—'सम प्रॉबलेम्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव ला इन इण्डिया' १९६४ पृ० ४

आयोग) निर्वाचन संबंधी विवाद, (निर्वाचन-न्यायाधिकरण) रेलवे कर, (रेलवे कर न्यायाधिकरण) आदि । कभी-कभी न्यायाधिकरणों की स्थापना किसी तदर्थ उद्देश्य के लिए की जाती है । इस तरह, जीवन-बीमा अधिनियम १६५६ द्वारा केन्द्रीय सरकार को एक या अधिक न्यायाधिकरणों की स्थापना करने के लिए अधिकृत किया गया है, जो विभिन्न जीवन बीमा कम्पनियों के मुआवजे को, उनके व्यवसाय को निगम के लेने के कारण निर्धारित करेंगे ।[1]

एक अन्य उदाहरण प्रशासकीय-न्याय का प्रस्तुत किया जा सकता है । विदेशी मुद्रा अधिनियम १६५७ के अनुसार विदेशी मुद्रा अधिकारी (डायरेक्टर) को यह निर्णय देने का अधिकार है कि किसी व्यक्ति ने विदेशी मुद्रा संबंधी नियमों का उल्लंघन किया है या नहीं । डायरेक्टर की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है । डायरेक्टर के निर्णय के विरुद्ध विदेशी मुद्रा आयोग को, जिसका अध्यक्ष एक सदस्य होता है, अपील की जा सकती है । आयोग के सदस्यों को केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती है । इस आयोग का निर्णय अंतिम होता है ।

इन उदाहरणों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि भारत में कार्यपालिका के प्रशासकीय न्याय के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य हैं । अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपर्युक्त तत्वों के कारण भारत में मंत्री-मण्डल (वास्तविक कार्य-पालिका) की स्थिति शक्तिशाली है ।

संसद के संबंध में राष्ट्रपति की शक्तियाँ

यद्यपि संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को संसद के संबंध में कतिपय शक्तियाँ प्रदत्त हैं, फिर भी यह विदित रहना अत्यावश्यक है कि इन शक्तियों का उपयोग राष्ट्रपति, संविधान द्वारा स्थापित संसदीय प्रणाली की पार्श्वभूमि में ही कर सकता है । यह सत्य है कि राष्ट्रपति इन शक्तियों से संसद पर प्रभाव डाल सकता है, परन्तु यह प्रभाव संसदीय पद्धति के अनुकूल ही होना आवश्यक है । संसद के संबंध में राष्ट्रपति की निम्नलिखित शक्तियाँ हैं :—

१—संविधान के अनुच्छेद ८५ के अनुसार राष्ट्रपति को संसद को आमंत्रित तथा स्थगित करने का अधिकार है ।

२—अनुच्छेद १०८ (१) के अनुसार राष्ट्रपति को संसद के दोनों सदनों में, किसी साधारण विधेयक संबंधी मतभेद दूर करने के लिए दोनों की संयुक्त बैठक आमंत्रित करने का अधिकार है ।

---

१. ए० पी० हस्मानी—'सम प्रॉबलेम्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव ला इन इन्डिया' १६६४ पृ० ६ ।

३—राष्ट्रपति को संविधान के अनुच्छेद ८६ के अन्तर्गत संसद में अभिभाषण देने तथा संदेश भेजने का अधिकार है। इस अधिकार द्वारा राष्ट्रपति संसद को, जन कल्याण के लिए, अपने अनुभव तथा व्यक्तित्व से प्रभावित कर सकता है। राष्ट्रपति किसी भी विषय के विधेयक के संबंध में संसद को संदेश भेज सकता है। राष्ट्रपति के भाषण देने तथा संदेश भेजने के अधिकारों की आलोचना करते हुए प्राय यह कहा जाता है कि संसदीय पद्धति की पृष्ठ भूमि में यह अधिकार असंगत है। परन्तु वास्तव में इसकी उपयोगिता इस तथ्य में स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को अपने अनुभवानुसार संसद को मार्गदर्शन देने का अवसर प्राप्त होता है जिसमें वह जनता के प्रतिनिधियों को आवश्यकतानुसार प्रोत्साहित करे, सलाह तथा चेतावनी दे।

४—संसद के संबंध में राष्ट्रपति को एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त है, जिसको निषेधाधिकार कहा जा सकता है। राष्ट्रपति के निषेधाधिकार का उद्देश्य संसद द्वारा जल्दबाजी में पारित विधेयक पर एक संतुलित एवं जनतान्त्रिक अवरोध लगाना है, जिसमें संसद उक्त विधेयक पर पुन विचार कर सके। जब संसद एक विधेयक को पारित करती है, उसको राष्ट्रपति के विचार के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति उक्त विधेयक पर अपनी सहमति दे सकता है, या यदि वह धन विधेयक नहीं है तो संसद के पुनर्विचार के लिए वापिस लौटा सकता है। अनुच्छेद १११ के अनुसार यदि संसद उक्त विधेयक को पुन पारित कर भेजती है तो राष्ट्रपति को सहमति देना आवश्यक होगा। अत राष्ट्रपति के निषेधाधिकार को जनतान्त्रिक कहना उचित है क्योंकि उसके उपयोग द्वारा वह संसद को जनता की इच्छा के अनुकूल पुनर्विचार करने के लिए बाध्य कर सकता है। किन्तु विधेयक को वह न तो स्वयं ही संशोधित कर सकता है, न समाप्त ही कर सकता है। विधेयक पर संसद की शक्ति अंतिम है। अमरीका में, जहाँ पर संघीय सरकार की कार्यप्रणाली शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध तथा सन्तुलन के सिद्धान्तों के अद्भुत मिश्रण पर आधारित है, अमरीकी राष्ट्रपति को भी, संविधान के अन्तर्गत निषेधाधिकार के रूप में, व्यवस्थापिका सभा (कांग्रेस) का विधि निर्माण शक्ति पर एक जनतान्त्रिक अवरोध है। अमरीका में यदि कांग्रेस किसी विधेयक को पारित करती है तो उसे राष्ट्रपति द्वारा विचार किये जाने के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति को दस दिन के अन्दर अपनी सहमति देना चाहिये।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत यदि राष्ट्रपति विधेयक के संबंध में अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करता है और संसद उस विधेयक को अपने दो तिहाई बहुमत से पुन पारित कर देती है, तो विधेयक, राष्ट्रपति की आपत्ति के बावजूद भी विधि हो जायेगा।

५--अन्त मे अनुच्छेद १२३ (१) के अनुसार भारत के राष्ट्रपति को अध्यादेश लागू कराने का अधिकार है। जब ससद सत्र मे नही है और ऐसी परिस्थिति मे किसी विषय पर कानून निर्माण करने की आवश्यकता है तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। जैसा, पूर्व मे देखा जा चुका है, राष्ट्रपति की अध्यादेश लागू करने की शक्ति ससद की कानून निर्माण शक्ति का अपहरण नही तो उस पर अतिक्रमण तो है।

इस विषय के अध्ययन के अन्त मे इस मूल बात पर बल देना आवश्यक है कि अन्य ससदीय प्रणालियो के समान, भारत मे भी ससद के कार्यपालिका पर नियन्त्रण के मूल सिद्धान्त को सविधान द्वारा मान्यता दी गई है, चाहे व्यावहारिक जीवन मे मंत्री मण्डल शक्तिशाली क्यो न बन गया हो। भारतीय सविधान के अन्तर्गत संसद तथा कार्यपालिका के सबंधो का विश्लेषण करते हुए हमने देखा कि इन दोनो को एक दूसरे के प्रति अवरोध के रूप मे कतिपय शक्तियाँ प्रदान की गई है, जिससे संघीय सरकार के ये दोनो अग ससदीय सीमाओ मे उचित रूप से कार्य कर सके। सविधान मे इस विषय पर कतिपय त्रुटियाँ है, जिनको दूर करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति के महाभियोग के संबध मे ससद की भूमिका अपूर्ण है, उस स्थिति मे जब कि संसद के विराम-काल मे राष्ट्रपति द्वारा संविधान का उल्लघन किया गया है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति की अध्यादेश लागू करने की शक्ति भी, कुछ परिस्थितियो मे गम्भीर सिद्ध हो सकती है। भारतीय ससद मे एक अन्य महत्वपूर्ण त्रुटि यह है कि एक ओर तो काग्रेस दल को भारी बहुमत प्राप्त है तो दूसरी ओर इस भारी बहुमत को जनतान्त्रिक रूप से सन्तुलित करने के लिए कोई संगठित तथा प्रभावशाली विपक्षी दल नही है। ऐसी स्थिति मे ससद की स्वतन्त्रता केवल सतारूढ दल की जनतन्त्र मे आस्था पर ही निर्भर है। अस्तु, इन परिस्थितियो मे, भारत मे कार्यपालिका पर संसद की स्वतन्त्रता स्थापित रखने का, विशेष उत्तरदायित्व है।

१०

भारतीय संसद में प्रतिपक्ष दल

लोकतन्त्र की एक श्रेष्ठ परम्परा तथा आवश्यकता यह है कि उसमें जनता की सरकार के कार्यों की उन्मुक्त आलोचना प्रत्यालोचना करने की स्वीकृति दी जाती है, उन लोगों को नई सरकार को निर्वाचित करने के लिए नियमित रूप से अवसर एवं स्वतन्त्रता दी जाती है, जो प्रचार कार्य द्वारा संगठन निर्माण करते है तथा जिनका उद्देश्य शान्तिपूर्ण तरीको से जनमत को परिवर्तित कर सरकार मे परिवर्तन लाना है।[१]

लोकतन्त्र मे सार्वभौमिकता जनता मे ही निहित होती है। जनता का अधिकार है कि अपने शासको का सामयिक निर्वाचन करें। मतदाताओ को, प्राय. एक निश्चित अवधि के बाद अपने शासको की नीतियो तथा कार्यों की समीक्षा करते हुए यह अधिकार है कि वे निर्णय दें कि उन्हे पुन सत्ता सौंपी जाये अथवा नही? अर्थात् आम-चुनाव के समय प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को मतदाताओ की सामयिक जाँच का सामना करना होता है। "इस प्रकार राजनीतिज्ञ को अपने कार्यों का लेखा देने की आवश्यकता रूपी पुनर्जीवित-अवरोध का सामना करना होता है।"[२]

परन्तु लोकतन्त्र में सरकार के कार्यों तथा नीतियो के जाँचने का का यदि केवल आम चुनाव के दौरान ही किया जाये, तो सत्तारूढ दल को दो आम चुनाव के दरम्यान निरंकुश बनने मे आसानी रहेगी। लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता की कीमत जनता का निरन्तर सतर्क होना है। लोकतन्त्र की इस-आवश्यकता की पूर्ति मे राजनीतिक दलो की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इंग्लैण्ड तथा अमेरिका जैसे जनतान्त्रिक देशो मे मुख्यत दो-दलीय पद्धति पाई जाती है। यूरोप के कतिपय देशो तथा भारतवर्ष मे बहु दलीय पद्धति है। राजनीतिक दलो की संख्या चाहे कितनी हो, मूल बात तो यह है कि लोकतन्त्र मे जनता को व्यवस्थापिका मे अपने प्रतिनिधियो को निर्वाचित करने का अधिकार होता है। जनता का अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके उपयोग द्वारा जनता प्रतिपक्षी दल को सत्तारूढ और सत्तारुढ दल को प्रति-

---

१. एम० स्टुअर्ट—ब्रिटिश एप्रोच टू पॉलिटिक्स, १९३८ पृ० २१५।
२. बी० वार्ड—डेमोक्रेसी ईस्ट-वेस्ट, १९४९ पृ० १०।

पक्षी दल मे परिवर्तित कर सकती है। अतएव एक सगठित प्रतिपक्षी दल भावी वैकल्पिक सभा शासक दल हो सकता है, जिसका अस्तित्व 'सरकार पर एक आवश्यक जनतान्त्रिक अवरोध' के रूप मे है।

अत लोकतत्र मे राजनीतिक दलो की आवश्यकता के दो कारण है।

सर्वप्रथम राजनीतिक दलो के माध्यम से जनता अपने शासको का निर्वाचन करती है।

द्वितीय, राजनीतिक दलो द्वारा विभिन्न प्रकार की वैकल्पिक नीतियाँ तथा कार्यक्रम जनता के समक्ष रखे जाते है, जिनसे जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त होता है और वे यह निर्णय ले सकते है कि किस प्रकार की सरकार स्थापित की जायेगी।

'एक राजनीतिक दल से हमारा तात्पर्य जनता के ऐसे सगठन से है जो कतिपय राजनीतिक सिद्धान्तो तथा उद्देश्यो को मानते हुए, सवैधानिक साधनो के माध्यम से एक साथ कार्य करते है।"[1] लोकतत्र मे कोई भी राजनीतिक दल यदि आम-चुनाव मे जनता का विश्वास अपनी नीतियो तथा कार्यक्रमो द्वारा प्राप्त कर लेता है, तो सरकार की बागडोर को सम्हालने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा जाता है। अन्य राजनीतिक दल, जो भविष्य म सरकार निर्माण करने की क्षमता रखता है और जिसकी नीतियाँ व कार्यक्रम है, व्यवस्थापिका मे प्रतिपक्षी दल के रूप मे होगा।

ससद मे सत्तारूढ दल की नीतियो की सतत जाँच करने के लिए एक प्रतिपक्ष दल की आवश्यकता होती है, अन्यथा प्रजातत्र मे निरकुशता के प्रवेश का सदैव भय बना रहेगा। अत ससदीय पद्धति मे राजनीतिक दलो की भूमिका का अपना विशिष्ट महत्व है। जैसा कि लार्ड लिण्डसे का कथन है–'उत्तम प्रतिनिधि सरकार के लिए न केवल एक शक्तिशाली प्रतिपक्षी दल की आवश्यकता है किन्तु उसके लिए यह भी आवश्यक है कि प्रतिपक्षी दल वैकल्पिक सरकार के सदृश हो।"[2]

लोकतत्र म राजनीतिक दलो का महत्व दो प्रकार का है। सर्वप्रथम, वे जनता को राजनीतिक विषयो के सबध मे शिक्षित तथा सजग करते हैं जो सरकार की निरकुश प्रवृतियो को रोकने के लिए आवश्यक है। द्वितीय, व्यवस्थापिका मे वे स्वय सरकार पर एक अकुश के रूप में है, और विभिन्न साधनो द्वारा सरकार को उसके दायित्वो के प्रति सजग रखते हैं। वस्तुत लोकतत्र का अस्तित्व प्रतिपक्षी दल या दलो की स्वतत्रता पर निर्भर है, जिसके आधार पर वे सरकार की नीतियो

१. एम० पी० शर्मा—द गवंमेन्ट आफ इण्डियन रिपब्लिक १९६० पृ०२७७।
२. ए डी. लिण्डसे-द इसेन्शल्स आफ डेमोक्रेसी १९४८ पृ० ४३-४४।

तथा कार्यों मे निहित त्रुटियो की आलोचना करते हैं और मतदाताओं के समक्ष वैकल्पिक नीतियों तथा कार्यक्रम को प्रस्तुत कर सकते हैं। "लोकतंत्र की मान्यता है कि एक सगठित तथा निश्चित प्रतिपक्ष सरकार के विरुद्ध हो। बिना इस प्रकार के प्रतिपक्ष के, निरकुशता की ओर अग्रसर होते हुए लोकतंत्र का विनाश होगा।"[1]

ससदीय लोकतंत्र बिना ससदीय प्रतिपक्ष के सफल नहीं हो सकता है। ब्रिटिश संसदीय-पद्धति की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि 'ससदीय प्रतिपक्ष' को औपचारिक मान्यता 'साम्राज्ञी का प्रतिपक्ष' के नाम से प्रदत्त है। प्रो० लावेल के मतानुसार ब्रिटिश ससद मे प्रतिपक्ष को 'साम्राज्ञी का प्रतिपक्ष' सज्ञा देना उन्नीसवी शताब्दी मे राजनीति-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण योगदान है। ब्रिटिश ससद में प्रतिपक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका को सर सिडनी लो ने निम्नलिखित शब्दो मे स्पष्ट किया है—"इगलैण्ड मे प्राय: यह सभावना है कि ससद में बहुमत एक शक्तिशाली तथा अविवेकी मन्त्री मण्डल से प्रेरित होकर आवेशपूर्वक व्यवस्थापन का कार्य करे। एक हठी सरकार तथा जल्दबाज व्यवस्थापिका पर वास्तविक अवरोध एक वैकल्पिक दल के विद्यमान होने मे है, जिसके सदस्य हजारों-हजारों की संख्या में निर्वाचन क्षेत्रों मे और नेता कामन्स सभा मे हैं। पदासीन मन्त्रीमण्डल पर अवरोध 'पद से बाहर मंत्री मण्डल' (वैकल्पिक दल) है।"[2] अतः वस्तु स्थिति यह है कि जबकि बहुमत दल जनता के समर्थन से सत्ता की बागडोर अपने हाथों मे लेता है, अन्य दल प्रतिपक्षी (विरोधी) दल का कार्य करता या करते हैं। यदि आम चुनाव मे प्रतिपक्षी दल जनता का बहुमत प्राप्त कर लेता है तो सत्ता उसे सौंपी जायेगी।

यदि किसी राज्य में दो से अधिक राजनीतिक दल हैं तो जिन दलों के हाथ मे सत्ता नही है, उनको प्रतिपक्षी (विरोधी) दल की भूमिका निभाना पड़ती है। प्रतिपक्षी दल का कार्य यह नही है कि सर्वदा सरकार का विरोध करे। अनेक समय यह देखा गया है कि प्रतिपक्षी दल सरकार को अपना सहयोग देते है, विशेषकर राष्ट्रीय सुरक्षा तथा विदेश नीति जैसे महत्वपूर्ण मामलो मे।

यहाँ यह समझ लेना उपयुक्त होगा कि ससदीय प्रणाली मे प्रतिपक्ष की परिभाषा क्या होगी ? ससदीय प्रतिपक्ष की एक उपयुक्त परिभाषा श्री एस. वी. राजू (स्वतंत्र दल के केन्द्रीय कार्यालय के कार्यकारिणी-सचिव) द्वारा दी गई है, जो निम्नानुसार है।

---

१. के. सी. जेना-पोलिटिकल अप्पोजीशन इन इण्डिया, इण्डियन रिव्यू १९५९। पृ० ४५६।

२. एस० लो० 'द गवर्नेन्स आफ इग्लंण्ड-१९३१ पृ० १२५।

"जिस सन्दर्भ मे यहाँ प्रतिपक्ष शब्द का उपयोग किया गया है, उसका अर्थ एक सगठित समुदाय जो (क) जनतात्रिक मूल्यों तथा परम्पराओ म आस्था रखते हुए सरकारी नीतियो की रचनात्मक आलोचना करता है, (ख) इस स्थिति मे है कि सत्तारूढ दल से भिन्न वकल्पिक नीतियो को प्रस्तुत कर सके, (ग) राज्य तथा केन्द्रीय स्तरो पर आवश्यक प्रभाव तथा सगठन रखता हैं, जिससे कि राष्ट्र के राजनीतिक जीवन म उसकी उपस्थिति महसूस की जा सके, एव (घ) जिसका नतृत्व दक्ष एव स्वस्थ है, जिसस न केवल उसकी उत्तम तस्वीर प्रस्तुत हो वरन् जब सत्ता की बागडोर सम्हालने के लिए मतदाता नेतृत्व मागते है, तो नेतृत्व करने की क्षमता भी हो।"[1]

श्री के० वी० राजू कहते है—"इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि कोई भी विरोधी दल देश म (भारत) वास्तविक प्रतिपक्ष दल (विरोधी) होने का दावा नहीं कर सकता है।'[2]

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत मे ससदीय पद्धति की स्थापना की गई है। किन्तु भारतीय ससदीय पद्धति की यह एक गभीर त्रुटि है कि सविधान के लागू होने के इतने वर्षो बाद भी एक सगठित एव सशक्त ससदीय प्रतिपक्षी दल (विरोधी) का विकास नही हुआ है। यह सत्य है कि ससद मे, विरोधी दल है, परन्तु इनमें से एक भी ससदीय प्रतिपक्षी दल नही माना जा सकता है, क्योकि किसी भी प्रतिपक्षी दल मे वैकल्पिक सरकार स्थापित करने की क्षमता नहीं है। भारत म एक सगठित एव प्रभावशाली प्रतिपक्षी दल के होने की कितनी आवश्यकता है यह निम्नलिखित मुद्दो के विस्तृत अध्ययन द्वारा विदित हो सकता है।

१—प्रतिपक्षी दल के कार्य।

२—भारतीय ससद मे प्रतिपक्षी दल का स्वरूप।

१—प्रतिपक्षी दल के कार्य-सर्वप्रथम, राजनीतिक दलो का प्राथमिक कार्य लोकमत को सगठित करना है। आम-चुनाव के दौरान राजनीतिक दलो के कार्य होते हैं—प्रचार द्वारा मतदाताओ मे अपनी नीतियो एव कार्यक्रम के प्रति विश्वास पैदा करना। राजनीतिक दलो के अन्य कार्य भी हैं, जो उन्हे आम-चनाव के समाप्त होने पर भी करने पडते हैं। इनको ये कार्य निरन्तर करने होते है। सत्तारूढ दल, जिसने आम-चुनाव के दौरान मतदाताओ का विश्वास प्राप्त किया है, प्रचार तथा अन्य कार्यो द्वारा उस विश्वास को और अधिक दृढ बनाने के लिए

---

१. के० वी० राजू—'प्रॉबलेम्स आफ डेवलेपिंग एन अपोजिशन इन इण्डिया' स्टडीज इन इण्डियन डेमोक्रेसी, १९६५, पृ० ६१७।

२. वही पृ० ६१७।

प्रयत्न करता है क्योंकि वह अगले आम-चुनाव मे पुन. विजय प्राप्त करना चाहेगा। इसी प्रकार विरोधी दल और अधिक सगठन, प्रचार तथा कार्यों द्वारा मतदाताओ का विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। "अतएव यह कहा जा सकता है कि सत्तारूढ या प्रतिपक्षी दल विचारो के दलाल हैं, जो दल की विचारधारा को निरन्तर स्पष्ट क्रमबद्ध एवं प्रतिपादित करने मे लगे हैं—वे मतदाता की शिक्षा मे वृद्धि करते है, उसकी स्वतन्त्रता पूर्वक चुनाव करने की प्रवृति को और तीक्षा करते हैं।"[1]

यदि आगामी आम चुनाव मे मतदाताओ को प्रतिपक्षी दल की नीतियो एव विचारधारा पर विश्वास हो जाता है, तो वे उसको सत्ता सौंप सकते हैं। नि सदेह, एक सगठित तथा प्रभावशाली प्रतिपक्षी दल के विद्यमान होने से, मतदाताओ के समक्ष एक वैकल्पिक सरकार विद्यमान रहती है। अतएव मतदाता सत्तारूढ तथा प्रतिपक्षी दलो की नीतियो और विचारधाराओ की तुलनात्मक समीक्षा करके निर्णय दे सकते हैं कि सत्ता किस दल को सौंपा जाये। वस्तुत: इस तुलनात्मक आधार पर मतदाताओ के लिए यह सभव है कि प्रत्येक विषय को सही परिपेक्ष्य मे देख सकें।

द्वितीय—प्रतिपक्षी दल का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह है कि यह वास्तव मे जनता तथा सरकार के बीच की एक महत्वपूर्ण कडी है। चूंकि राजनीतिक दलो का उद्देश्य सत्ता की बागडोर पर कब्जा करना होता है, अत. इस राजनीतिक सघर्ष के परिणाम स्वरूप राजनीति के क्षेत्र म दो विभिन्न वर्गो का निर्माण होता है।

इन दलो को हम सत्तारूढ और सत्ताविहीन वर्ग मे वर्गीकृत कर सकते हैं। यह सभव है कि सत्तारूढ वर्ग सत्ता के उन्माद मे भ्रष्ट होकर जनता की आवश्यकताओ से सम्पर्क छोड दे। अनुत्तरदायी सत्तारूढ दल प्रजातन्त्र के मार्ग मे एक बडा रोडा होता है। इसी कारण से प्रतिपक्षी दल का अत्यधिक महत्व होता है। वह जनता को जाग्रत करता है। विलोमत. यह भी सत्य है कि आम-चुनाव मे हार जाने से प्रतिपक्षी दल सत्तारूढ दल की नकारात्मक आलोचना करने मे सतोप प्राप्त करने का प्रयत्न करे। ऐसी स्थिति म सत्तारूढ दल, को सरकार व जनता को जोडने वाली कडी माना जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि सरकार तथा प्रतिपक्षी दल एक दूसरे पर आवश्यकतानुसार अवरोध तथा सन्तुलन का कार्य करते हैं। यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि सत्तारूढ तथा प्रतिपक्षी दल ससदात्मक पद्धति के दो पेन्डो के सदृश हैं और यदि एक मे भी कुछ त्रुटि हो जाती है तो ससदात्मक सरकार के सतुलन की

---

१ एस न्यूमेन—'मॉडर्न पोलिटिकल पोर्टोज' १९५६ पृ० ३९६।

स्थिति बिगड़ जायेगी। ब्रिटिश संसदात्मक पद्धति के दृष्टिकोण से सर आइवर जैनिंग्ज का कथन है—"सरकार प्रतिपक्षी दल को, एक ऐसी मोटर पर ब्रेक के सदृश मानती है, जो पहाड़ पर चढ़ रही है, जबकि प्रतिपक्षी दल का विचार है कि मोटर पहाड़ से उतर रही है।"[1]

"निःसंदेह संसदात्मक पद्धति में प्रतिपक्षी दल का कार्य जटिल है। प्रतिपक्षी दल, व्यवस्थापिका का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसके कार्य अप्रत्यक्ष रूप से सरकार के कार्यों से संबंधित है। प्रतिपक्षी दल का उद्देश्य सरकार की रचनात्मक आलोचना करते हुए उसको उचित पथ पर चलने के लिए बाध्य करना है।"[2] यह तो स्पष्ट है कि यदि प्रतिपक्षी दल का अस्तित्व न हो, सत्तारूढ़ दल जनता की मौलिक स्वतन्त्रताओं को कुचलते हुए निरंकुश बन सकता है। वस्तुतः, प्रतिपक्षी दल सरकार को सजग सक्रिय तथा सजीव रखने में सहायक है। प्रतिपक्षीय दल के सदस्य अपने भाषणों द्वारा जनता को आश्वस्त करने का प्रयत्न करते हैं कि उनके दल की नीतियाँ तथा कार्यक्रम ही सर्वश्रेष्ठ हैं। यह स्वाभाविक है कि सत्तारूढ़ दल को अपनी नीतियों तथा कार्यक्रम को जनता के समक्ष स्पष्ट रूप से रखना आवश्यक है, क्योंकि तब ही वह सत्तारूढ़ रह सकेगा। सर आइवर जैनिंग्ज ने ब्रिटिश पद्धति के दृष्टिकोण से कहा है—"प्रतिपक्षी दल सरकार के स्थान पर एक विकल्प हैं और जनता के असन्तोष को केन्द्रभूत करता है। इसके कार्य सरकार के कार्यों के समान ही महत्वपूर्ण हैं। यदि प्रतिपक्षी दल नहीं है तो जनतन्त्र भी नहीं हो सकता है। इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी के प्रतिपक्षी दल के महत्व का स्थान सरकार के महत्व से दूसरे स्थान पर है।"[3]

आधुनिक युग में संसदात्मक पद्धति में संसद की शक्तियों में परिवर्तन हुआ है। संसद में सत्तारूढ़ दल का बहुमत होता है, जिसमें से मंत्री मण्डल (सरकार) का निर्माण होता है। चूंकि साधारणतया बहुमत सरकार के पक्ष में ही होता है अतः सरकार पर संसद का नियन्त्रण अत्यन्त कम हो गया है आधुनिक समय में संसद अधिकतर वाद विवाद व आलोचना के मंच के रूप में ही रह गई है। सत्तारूढ़ दल के सदस्य सरकार की आलोचना बहुत कम करते हैं। यह कार्य अब प्रतिपक्षी दल ही करते हैं। "प्रतिपक्षी दल से जो अपेक्षा की जाती है, वह है प्रभावशाली आलोचना।'[4]

---

१ आइ जैनिंग्ज—'पार्लियामेन्ट' १९५७, पृ० १६७।
२. आई जैनिंग्ज—'केबीनेट गवर्नमेंट' १९५९ पृ० १५।
३. वही पृ० ४०६।
४. आई जैनिंग्ज—'पार्लियामेन्ट' १९५७ पृ० ८२।

संसदात्मक सरकार की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सत्तारूढ़ दल तथा प्रतिपक्षी दल के मध्य परस्पर विश्वास हो तथा संविधान के सिद्धान्तों से वे पूर्णतया परिचित हों, जिससे व्यावहारिक जीवन में, राष्ट्रहित के लिए इनका पालन किया जा सके। प्रतिपक्षी दल या दलों को अपने विभिन्न दायित्वों को समझते हुए, हिंसात्मक साधनों को नहीं अपनाना चाहिये।

संक्षेप में, प्रतिपक्षी दल को एक उत्तरदायी प्रतिपक्षी दल होना चाहिये। क्योंकि अनुत्तरदायी प्रतिपक्षी दल से उतनी ही हानि हो सकती है, जितनी एक अनुत्तरदायी सरकार से।

व्यावहारिक राजनीति में प्रतिपक्षी दल के अत्यधिक महत्व के कारण, इंग्लैण्ड में मन्त्रियों के वेतन अधिनियम १९३३ के अन्तर्गत प्रावधान किया गया है कि प्रतिपक्षीय दल के नेता को २,००० पौण्ड प्रति वर्ष वेतन मिले। कामन्स सभा के स्पीकर द्वारा निर्धारित किया जाता है कि किस व्यक्ति को प्रतिपक्षी दल का नेता स्वीकृत कर यह वेतन दिया जाये। यह वेतन संचित निधि में से दिया जाता है, जिस पर मतदान नहीं हो सकता है। यद्यपि इंग्लैण्ड में प्रतिपक्षी दल के कार्यों का औपचारिक रूप से निर्धारण न तो कानून, न ही सदन के नियमों द्वारा किया गया है, उसकी स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। "साम्राज्ञी का प्रतिपक्षीय दल साम्राज्ञी की वैकल्पिक सरकार है। प्रतिपक्षी दल का नेता साम्राज्ञी का वैकल्पिक प्रधान मन्त्री है।"[1]

संसदात्मक पद्धति में प्रतिपक्षी दल के कार्यों तथा भूमिका के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसदीय प्रजातन्त्र का कोई मूल्य नहीं होगा यदि वहाँ उपयुक्त, परिपक्व, तथा प्रभावशाली प्रतिपक्षी दल नहीं है। "वस्तुतः गैर-साम्यवादी राष्ट्रों में प्रतिपक्षी दलों का स्थान तथा शक्ति आज एक उच्च स्तर पर है।"[2]

भारतीय संसद में प्रतिपक्षीय दल

यह विदित करने के लिए कि भारतीय संसद में विभिन्न विरोधी दलों द्वारा भारतीय संसदात्मक पद्धति के आवश्यक तत्वों के रूप में भूमिका निभाई जाती है या नहीं यहाँ पर आवश्यक है कि इन विभिन्न विरोधी दलों की स्थिति का अध्ययन किया जाय।

कई वर्ष पूर्व प० नेहरू ने कांग्रेस तथा प्रजा सोशलिस्ट दलों के पारस्परिक सहयोग के विषय पर श्री जयप्रकाश नारायण से वार्ता करने के पश्चात्, भारत की राजनीतिक स्थिति पर एक वक्तव्य दिया, जो आज की राजनीतिक स्थिति के सबंध में भी सही माना जा सकता है। वह इस प्रकार है।

---

१ आई जेनिंग्ज—'पार्लियामेण्ट' १९५७ पृ० ९७।
२ के० सी० ह्वेअर 'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० ४५७

"कांग्रेस को छोड़कर, जो राजनीतिक दल भारत में विद्यमान हैं, उनको चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ दल हैं जिनकी विचारधारा आर्थिक है। अपने सम्बंधित संगठनों के साथ साम्यवादी दल हैं। विभिन्न साम्प्रदायिक दल पृथक नाम के हैं किन्तु जो संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधारा का अनुसरण कर रहे हैं, और कई स्थानीय दल और संगठन हैं जिनका आधार केवल प्रान्तीय वरन् स्थानीय है।"[1]

भारत की वर्तमान राजनीतिक स्थिति का अध्ययन, यदि पं० नेहरू द्वारा किये गये राजनीतिक दलों के उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर किया जाय तो राजनीतिक दलों को मुख्यतः निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है।

(क) पहले वर्ग में उन महत्वपूर्ण राजनीतिक दलों को रखा जा सकता है जिनकी न केवल आर्थिक विचारधाराएँ हैं परन्तु जिन्होंने जनतंत्र तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य का पोषण करना अपना उद्देश्य मान रखा है। उदाहरण स्वरूप कांग्रेस, सोशलिस्ट दल एवं स्वतंत्र दल।

(ख) दूसरे वर्ग में वे दल रखे जा सकते हैं जिनकी उत्पत्ति धर्म तथा सम्प्रदाय के आधार पर हुई है। ये हैं भारतीय जनसंघ तथा मुस्लिम लीग।

(ग) तीसरे वर्ग में उन राजनीतिक दलों को रखा जा सकता है, जो हिंसा में विश्वास करते हैं, और संविधान में जिनकी आस्था संदेहप्रद है, जैसे साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)।

१९५० में संविधान लागू होने के पश्चात् कई राजनीतिक दलों की उत्पत्ति हुई। वर्तमान समय में निम्नलिखित प्रमुख राजनीतिक दल हैं —

(१) कांग्रेस—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदय सन् १८८५ में हुआ। उस समय इसका उद्देश्य समस्त भारतवासियों के लिए एक सामान्य मंच की स्थापना करना था जिससे राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति हो सके। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में महात्मा गांधी के नेतृत्व में यह एक अत्यंत शक्तिशाली दल बन गया। १८८५–१९४७ तक राष्ट्रीय आंदोलन की बागडोर, मुख्यतः कांग्रेस के हाथों में ही रही और इस दौरान कांग्रेस को प्रत्यक्ष रूप से जनता से सम्पर्क स्थापित करने के अवसर प्राप्त हुए। अतएव यह स्वाभाविक था कि जब कांग्रेस ने स्वतंत्र भारत की सरकार की बागडोर सम्हाली, जनता का इसको अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त था, क्योंकि जनता की दृष्टि कांग्रेस राष्ट्र की एकता तथा आकांक्षा का ठोस प्रतीक थी। संविधान के लागू होने के पश्चात तीन आम चुनावों (१९५२, १९५७, और

---

१ 'द हिन्दुस्तान टाइम्स' मार्च १९, १९६३ में प्रकाशित पं० नेहरू का भाषण।

१९६२) मे कांग्रेस को विशाल बहुमत प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप संसद एवं राज्य विधान सभाओ मे (केरल को छोडकर) कांग्रेस का पूर्ण आधिपत्य रहा। परन्तु १९६७ के आम चुनावो मे कांग्रेस को गहरा धक्का पहुँचा, क्योंकि न केवल कई राज्य विधान सभाओ मे इसका बहुमत समाप्त हो गया किन्तु संघ संसद मे भी इसका बहुमत घटकर केवल ५४% ही रह गया। तत्पश्चात आतंरिक द्वन्द्व तथा मतभेदो के कारण १९६९ मे कांग्रेस मे बडी फूट हुई, जिसके फलस्वरूप संसद मे कांग्रेस के एक हिस्से ने डा० रामसुभगसिंह के नेतृत्व मे विपक्षी सदस्यो का स्थान, संगठन कांग्रेस के नाम से ग्रहण किया। कांग्रेस का शेष परन्तु प्रमुख हिस्सा, श्रीमती गांधी के नेतृत्व मे, नई कांग्रेस के नाम से सरकार की बागडोर दिसम्बर १९७० तक, कतिपय निर्दलीय सदस्यो तथा विरोधी दलो के समर्थन के आधार पर सम्हाले रहा। दिसम्बर १९७० मे राष्ट्रपति श्री गिरी ने, आम चुनाव सम्पन्न करवाने हेतु, संसद को प्रधानमंत्री की सलाह पर भंग किया। १९७१ फरवरी–मार्च मे चुनाव सम्पन्न हुए, जिनके आधार पर श्रीमती गांधी की नई कांग्रेस को लोकसभा मे विशाल बहुमत प्राप्त हुआ है। कांग्रेस की शक्तिशाली स्थिति का एक मुख्य कारण यह है कि न केवल इसके साथ राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास जुडा है और एक राष्ट्रीय संगठन के रूप मे इसकी शाखाएँ देश के कोने-कोने मे हैं, वरन कांग्रेस नाम के साथ महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू तथा सरदार पटेल जैसे राष्ट्रीय नेताओ के नाम जुडे हैं।

अन्य राजनीतिक दलो की तुलना मे नई कांग्रेस का संगठन राष्ट्रव्यापी है, जिससे जनता तक पहुँचना आसान हो जाता है। नई कांग्रेस की वर्तमान आर्थिक विचारधारा के मौलिक पहलू, जनता की आवश्यकताओ से प्रत्यक्ष संबंध रखते हैं। इनमे गांधीजी के सर्वोदय के आदर्श के साथ समाजवाद के विचार कि, उत्पादक के साधनो को राज्य के अधिकार मे होना चाहिए, निहित हैं। इसके अतिरिक्त, निजी आर्थिक प्रयत्नो को भी प्रोत्साहन देने के सिद्धान्त पर बल दिया गया है। कांग्रेस द्वारा इस आर्थिक विचारधारा को अपनाने के फलस्वरूप समाजवादी तथा साम्यवादी दलो की भूमिका के महत्व मे कमी हो जाती है, क्योंकि जनता न तो उग्रवादी नीतियो के पक्ष मे है न ऐसे राजनीतिक दलो के जो किसी विदेशी राजनीतिक दल से प्रेरणा लेते और उनके सलाहानुसार कार्य करते हैं।

राजनीतिक विचारधारा के दृष्टिकोण से भी, कांग्रेस की आस्था लोकतंत्र तथा धर्म-निरपेक्ष राज्य मे है। अन्य राजनीतिक दलो के इतिहास को देखते हुए, जनता को, इन राजनीतिक मूल्यो के संदर्भ मे कांग्रेस पर अधिक विश्वास है।

संक्षेप मे, इन तत्वो के कारण कांग्रेस की स्थिति विशेषकर संसद मे, अत्यंत शक्तिशाली है। इस बात की पुष्टि कांग्रेस द्वारा प्रत्येक आम चुनाव मे जितने स्थान लोक सभा मे प्राप्त हुए हैं, उनसे की जा सकती है।

पहला आम चुनाव १९५२	लोकसभा मे स्थान प्राप्त ३६४
दूसरा आम चुनाव १९५७	लोक सभा मे स्थान प्राप्त ३७१
तीसरा आम चुनाव १९६२	लोकसभा मे स्थान प्राप्त ३६१
चौथा आम चुनाव १९६७	लोकसभा मे प्राप्त स्थान २८१
पाँचवा आम चुनाव १९७१	लोकसभा मे प्राप्त स्थान ३५०

(२) **प्रजा सोशलिस्ट दल**—सितम्बर १९५२ मे समाजवादी एव किसान मजदूर दल के मिलने से प्रजा सोशलिस्ट दल की उत्पत्ति हुई। वस्तुत सोशलिस्ट दल की उत्पत्ति १९३४ मे काग्रेस मे से ही हुई, क्योंकि श्री जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन एव श्री अशोक मेहता जैसे नेताओ को काग्रेस पर पूजीपतियो का आधिपत्य पसद नही था। स्वतत्रता के पूर्व इस दल को काग्रेस-सोशलिस्ट दल कहा जाता था। १९४२ मे भारत छोडो आदोलन के समय इस दल के नेता भूमिगत हो गये। मार्च १९४७ मे इस दल के नेताओ की बैठक कानपुर मे हुई जिसमे उन्होने काग्रेस से पृथक होकर एक स्वतत्र एव भिन्न दल के निर्माण करने का निर्णय लिया। यह निर्णय इसलिए लिया गया था क्योंकि इन नेताओ की राय मे काग्रेस का स्वरूप एक राष्ट्रीय सगठन से बदल कर एक राजनीतिक दल का हो गया था। इन नेताओ का यह विश्वास भी था कि चूंकि स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात काग्रेस सत्तारूढ हो गई थी अत एक प्रभावशाली प्रतिपक्षी दल का निर्माण करना अत्यत आवश्यक था, जो कि सत्तारूढ दल की निरकुश प्रवृतियो पर अकुश लगा सके। इसके अतिरिक्त, सोशलिस्ट दल का यह विश्वास भी था कि काग्रेस द्वारा प्रभावपूर्ण आर्थिक एव सामाजिक सुधार लाना असभव था।

प्रजा सोशलिस्ट दल का विश्वास लोकतात्रिक समाजवाद मे रहा है और उनके अनुसार विकेन्द्रित लोकतत्र, जनता के सार्वजनिक मामलो मे हिस्सा लेने के लिए आवश्यक है। इसका उद्देश्य एक नियोजित आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिसमे महत्वपूर्ण उद्योग, जैसे—कोयला, इस्पात आदि का राष्ट्रीयकरण हो। अत: प्रजा सोशलिस्ट दल तथा काग्रेस के सिद्धान्तो मे मुख्य अन्तर यह है कि काग्रेस द्वारा स्वीकृत आर्थिक व्यवस्था एक मिश्रित आर्थिक व्यवस्था है, जिसमे निजी एव सार्वजनिक व्यवस्थाओ को समान रूप से स्थान प्राप्त था; जबकि प्रजा सोशलिस्ट दल का विश्वास केवल ऐसी व्यवस्था मे रहा है जिसका स्वरूप सार्वजनिक हो होगा।

१९५२–मे किसान मजदूर दल तथा समाजवादी दल का एकीकरण हुआ, जो अधिक लाभप्रद सिद्ध नही हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि किसान मजदूर दल का उद्देश्य 'सर्वोदय' प्राप्त करना था, समाजवादी दल की प्रेरणा का

स्रोत मार्क्सवाद था। फलस्वरूप, शीघ्र ही दल मे दरारे पडने लगी और दल दो भागो मे विभाजित हो गया।

(क) दक्षिणपथी-जो काग्रेस के साथ सहयोग के पक्ष मे थे, एव (ख) वामपथी-जो काग्रेस से कोई सबध नही रखना चाहते थे। इसलिए जब प० नेहरू ने श्री *जयप्रकाशनारायण को राष्ट्र निर्माणात्मक कार्यो मे प्रजा सोशलिस्ट दल के सह*योग के लिए आमन्त्रित किया तो प्रजा सोशलिस्ट दल के वामपथी नेताओ मे डा० लोहिया तथा श्री मधुलिमये को यह बात पसन्द नही आई। तत्पश्चात्, प्रजा सोशलिस्ट दल के आन्तरिक मतभेद स्पष्ट रूप से सामने उभर कर आये। जब काग्रेस ने अपने अवाडी (मद्रास) अधिवेशन मे भारत म समाजवाद स्थापित करने के लक्ष्य को स्वीकृत किया तो प्रजा समाजवादी दल के अध्यक्ष ने इस पर अपना हर्ष व्यक्त किया और कहा कि यह लोकतात्रिक समाजवाद की प्रगति का एक सबूत था। डा० लोहिया के सहयोगियो ने इसे एक बडा धोखा बताया। इसी समय श्री मधुलिमये ने, जो डा० लोहिया के निकट के सहयोगी थे, श्री अशोक मेहता की कडी आलोचना की, फलस्वरूप उनको दल से निलम्बित कर दिया गया। परन्तु दल की उत्तरप्रदेश की कार्यपालिका ने श्री लिमये का समर्थन किया और उनको गाजीपुर मे दल के अधिवेशन को सबोधित करने हेतु आमन्त्रित किया। इस कार्य को दलीय अनुशासन के विरुद्ध मानते हुए समस्त प्रदेश कार्यपालिका को निलम्बित कर दिया गया। अन्त मे जुलाई १६५५ मे डा० लोहिया को दल से निष्कासित कर दिया गया। दिसम्बर १६५५ मे डा० लोहिया ने समाजवादी दल का निर्माण किया जो कि प्रजा समाजवादी दल के विरुद्ध था, क्योकि प्रजा समाजवादी दल का काग्रेस से सहयोग करने मे विश्वास था। इस दल को सयुक्त सोशलिस्ट दल (एस०एस०पी) के नाम से पुकारा जाता है। मई १६६३ मे डा० लोहिया लोकसभा के लिए निर्वाचित हुए।

प्रजा समाजवादी दल को विभिन्न आम-चुनाव मे न तो ससद मे न ही राज्य विधान सभाओ मे अधिक स्थान प्राप्त हुए। १६५२ के आम-चुनाव मे लोकसभा मे इसे २१ स्थान मिले। १६५७ के आम-चुनाव मे इसे लोकसभा मे केवल १६ स्थान ही प्राप्त हुए। १६६२ के आम-चुनाव मे लोकसभा मे केवल १२ स्थान प्राप्त हुए और मार्च १६६७ के आम-चुनाव मे १३ स्थान प्राप्त हुए। मार्च १६७१ के आम-चुनाव मे प्रजा सोशलिस्ट दल को लोकसभा मे केवल २ स्थान ही मिले।

डा० लोहिया के समाजवादी दल को १६६२ के आम-चुनाव मे ६ स्थान प्राप्त हुए और १६६७ के आम-चुनाव मे २३ स्थान मिले। १६७१ के आम-चुनाव मे इसे केवल ३ स्थान लोकसभा मे प्राप्त हुए।

३—भारतीय जनसघ—भारतीय जनसघ की स्थापना १६५१ मे डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी द्वारा की गई। जनसघ को दक्षिण पथी दल माना जा सकता है।

समाजवादी एवं साम्यवादी दलों को वामपंथी माना जाता है। जनसंघ का प्रभाव मुख्यत भारत म उत्तरी क्षेत्र म है, विशेषकर पंजाब, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, मध्य-प्रदेश एव राजस्थान। १९५६ म जनसंघ, रामराज्य-परिषद तथा हिन्दु महासभा के एकीकरण करने के प्रयत्न किये गये, परन्तु यह सफल नहीं हुए। इन तीनों दलों की प्राय आलोचना की जाती है कि ये साम्प्रदायिक हैं।

'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ एक सांस्कृतिक संगठन होने का दावा करता है, परन्तु इनकी राजनीतिक गतिविधियाँ जनसंघ द्वारा, संचालित की जाती है। डा० मुकर्जी एक महान राष्ट्रीय नेता थे जिनका राष्ट्रीय सेवा का रिकार्ड है। जून १९५३ म उनकी दुःखपूर्ण मृत्यु के पश्चात जनसंघ राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का एक मंच बन गया।"[1] यद्यपि इसकी स्थापना के बाद, जनसंघ के स्वरूप म परिवर्तन हुआ है, अपनी सफलता के लिए जनसंघ को आवश्यक है कि अपनी विचारधाराओं को जनतान्त्रिक एवं धर्म निरपेक्ष सिद्धान्तों पर आधारित करे, जिससे अल्पसंख्यकों का विश्वास इसे प्राप्त हो सके। १९५२ के आम चुनाव म जनसंघ को लोकसभा में ३ स्थान प्राप्त हुए। १९५७ के आम-चुनाव म इसे ४ स्थान लोकसभा में मिले और १९६२ के आम-चुनाव में १४ स्थान-लोकसभा म इसे मिले। १९६७ के आम चुनाव म जनसंघ को लोकसभा में ३३ स्थान और १९७१ मार्च के आम-चुनाव मे २२ स्थान लोकसभा म मिले।

१९६२ के आम चुनाव के पश्चात् जनसंघ की लोकप्रियता म थोडी वृद्धि हुई है किन्तु एक वास्तविक प्रतिपक्षी दल के रूप म विकसित होने के लिये, जनसंघ को लोकतान्त्रिक एवं धर्म निरपेक्ष स्वरूप को अपनाना होगा।

४—स्वतंत्र दल—स्वतंत्र दल की उत्पत्ति १९५९ मे एक लोकतान्त्रिक अनुदार दल के रूप म हुई है। स्वतंत्र दल के उद्देश्य तथा नीतियों का उल्लेख श्रीमती ऐलन रॉय ने निम्नलिखित रूप से किया है, "हमारी राय है कि सामाजिक न्याय तथा लोककल्याण को तथाकथित समाजवाद के साधनों के अलावा अन्य निश्चित् एवं उपयुक्त साधनों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सामाजिक न्याय और लोक कल्याण को हिंसा या राज्य शक्ति द्वारा नहीं लाया जा सकता है—किन्तु इनकी स्थापना गांधीजी द्वारा प्रतिपादित न्यास-पद्धति के द्वारा की जा सकती है। सरकार की शैक्षणिक गतिविधियाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इस प्रकार की होनी चाहिये जिससे इस बात पर बल दिया जाये कि जिन लोगों के पास धन है, वे इसको समाज की धरोहर के रूप म रखे, और जीवन के ऐसे सिद्धान्त पर भी जो इस नैतिक कर्त्तव्य पर आधारित है, इसके बजाय कि ऐसे सामाजिक

---

१ एम० जी० गुप्ता, 'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० ४८०

वृद्धि होती गई है। १९७१ के आम चुनाव मे भारतीय साम्यवादी दल (सी० पी० आई०) को २३, भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) (सी० पी० एम) को २५ स्थान लोकसभा मे मिले हैं।

उपर्युक्त विवरण से भारतीय संसद के निचले सदन (लोकसभा) म मुख्य राजनीतिक दलो की स्थिति स्पष्ट होती है और यह विदित होता है कि इनमे से किसी दल को 'वास्तविक संसदीय प्रतिपक्षी दल' की सज्ञा नही दी जा सकती है। परन्तु इन मुख्य राजनीतिक दलो के अतिरिक्त लोकसभा मे कुछ अन्य स्थानीय एव छोटे दलो का प्रतिनिधित्व रहा है, जो निम्नलिखित हैं —

१—गणतन्त्र परिषद–१९६२ के आम-चुनाव म लोकसभा मे इसे उडीसा से ४ स्थान प्राप्त हुए।

२—किसान एव मजदूर दल–१९६२ मे इसको लोकसभा मे कोई स्थान प्राप्त नही हुआ, परन्तु १९६७ मे २ स्थान प्राप्त हुए। यह दल महाराष्ट्र का है।

३—मुस्लिम लीग–१९६२ मे इसे २ और १९६७ मे ३ स्थान प्राप्त हुए। इसका प्रभाव प्रमुख रूप से केरल मे है।

४—अकाली दल–१९६२ मे इसको लोकसभा मे ३ स्थान प्राप्त हुए, १९६७ मे पुन. इसको ३ स्थान पजाब से प्राप्त हुए।

५—फारवर्ड ब्लाक–१९६२ मे इसको २ स्थान लोकसभा मे प्राप्त हुए, और १९६७ मे भी २ स्थान प्राप्त हुए। इस दल का प्रभाव मद्रास और पश्चिम बगाल म है।

६—द्रविड मुनेत्र कडगम–१९६२ के आम-चुनाव मे इसे लोकसभा मे ७ स्थान मिले, और १९६७ के आम-चुनाव मे इसे २५ स्थान लोकसभा म मिले। इस दल का प्रभाव मद्रास (तमिलनाडू) मे है।

७–झारखण्ड दल–१९६२ के आम-चुनाव म इसे लोकसभा मे ३ स्थान मिले। १९६७ के आम-चुनाव मे इसे कोई स्थान नही मिला। यह दल बिहार प्रान्त का है।

८–हिन्दू महासभा–१९६२ मे इसे लोकसभा मे केवल १ स्थान मिला, परन्तु १९६७ मे इसे कोई स्थान नही मिला।

९–राम राज्य परिषद–१९६२ के आम-चुनाव मे मध्यप्रदेश तथा राजस्थान मे २ स्थान लोकसभा मे प्राप्त हुए।

१०–रिपब्लिकन दल–उत्तरप्रदेश से इस दल को लोकसभा मे १९६२ के आम-चुनाव मे ३ स्थान प्राप्त हुए और १९६७ मे इसे केवल १ ही स्थान प्राप्त हुआ।

११—१९६२ में लोकसभा के लिये २७ निर्दलीय सदस्य निर्वाचित हुए। १९६७ में ४२ निर्दलीय सदस्य लोकसभा में निर्वाचित हुए।

१२—आल इण्डिया हिल लीडर्स कान्फ्रेंस-१९६७ में असम से इस दल ने लोकसभा के लिए १ स्थान प्राप्त किया था।

१३—महागुजरात जनता परिषद-१९६७ में गुजरात से इस दल को लोक सभा के लिए १ स्थान मिला था।

१४—नेशनल कान्फ्रेंस-१९६७ में जम्मू तथा काश्मीर में १ स्थान लोकसभा के लिए मिला।

१५—नागा नेशनल आरगनाईजेशन-१९६७ में आम-चुनाव में इसको नागा-लैण्ड से लोकसभा में १ स्थान प्राप्त हुआ था।

उपर्युक्त अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्रतिपक्षी दलों में से किसी की भी स्थिति इस प्रकार नहीं है कि उसको एक वास्तविक संसदीय प्रतिपक्षी दल की संज्ञा दी जा सके। इसके विपरीत १९७१ के आम चुनाव में नई कांग्रेस को एक विशाल बहुमत प्राप्त हुआ है। अतएव केवल कुछ समय को छोड़कर, संविधान लागू होने से आज तक लोकसभा में कांग्रेस का एक पक्षीय आधिपत्य रहा है, जब कि प्रत्येक विपक्षी दलों को केवल नाम मात्र के स्थान प्राप्त हुए हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय संसदीय पद्धति की कार्यप्रणाली पर इसका हानिकारक प्रभाव हो सकता है; क्योंकि जब कई विपक्षीय दल हैं और इनमें से किसी को भविष्य में सरकार निर्माण करने की उम्मीद नहीं है तो व्यावहारिक जीवन में ऐसे दल प्रायः अनुत्तरदायी होकर सरकार की नकारात्मक रूप से आलोचना में लगे रहते हैं, और उनका उद्देश्य केवल यह ही हो जाता है कि किसी प्रकार संसद में कुछ और स्थान प्राप्त कर लें। क्योंकि, वे भली-भाँति जानते हैं कि सरकार के निर्माण करने का अवसर उनको नहीं मिल सकेगा। इससे यह प्रतीत होता है कि अनेक विपक्षीय दलों के स्थान पर यदि एक या अधिक से अधिक दो दल हों, तो इनमें सार्वजनिक विषयों के सम्बन्ध में, संसद में एवं संसद के बाहर, ठोस उत्तरदायित्व की भावना जागृत हो सकेगी। इनकी नीतियों तथा कार्यक्रमों में पृथकता तथा स्पष्टता लायी जा सकेगी जिससे मतदाताओं को भी मतदान के कार्य में सहूलियत होगी।

वस्तु स्थिति यह है कि लोकसभा में जब नई कांग्रेस का प्रचण्ड बहुमत है तो नई विपक्षीय दलों के पृथक अस्तित्व के कारण एक 'वास्तविक संसदीय प्रतिपक्ष' का विकास संभव नहीं है। इस अभाव की दृष्टि से भारतीय संसदीय पद्धति के सम्बन्ध में एक उपमा दी जा सकती है कि यह एक ऐसी मोटर गाड़ी के सदृश है जो घाटी में उतर कर आ रही है और जिसके 'ब्रेक' में त्रुटियाँ हैं। संसदीय प्रति-

पक्षी दल एक 'ब्रेक' के समान है, जिसका कार्य सरकार रूपी मोटर गाड़ी पर आवश्यक नियन्त्रण करना है जिसके बिना सरकार नियन्त्रण से बाहर होकर निरंकुशता की ओर अग्रसर हो सकती है।

यद्यपि भारतीय संसद में प्रतिपक्षी दलों में कई त्रुटियाँ हैं और 'संसदीय प्रतिपक्ष' का स्वरूप असन्तोषजनक है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि सरकार पर इन दलों का कोई प्रभाव नहीं रहा है। यह कुछ हद तक सरकार पर एक जनतान्त्रिक अवरोध के रूप में है। मुख्यतः दो प्रकार के ऐसे साधन हैं जिनके आधार पर प्रतिपक्षी दल सरकार पर एक जनतान्त्रिक अवरोध का कार्य करते हैं।

१—सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करने का उग्र साधन। परन्तु यह यह सर्व सामान्य साधन नहीं है, जिससे प्रतिपक्षी दल प्रति दिन सरकार का नियन्त्रण करते हैं।

२—कतिपय ऐसे साधन हैं, जिनसे प्रतिपक्षी दल सरकार का दैनिक नियन्त्रण करते हैं। ये दैनिक साधन, निम्नलिखित हैं।

(क) समिति प्रणाली प्राय संसद की विभिन्न समितियों पर प्रतिपक्षी दलों के प्रतिनिधि होते हैं। जिस हद तक सरकार के कार्यों से सबन्धित समितियों का क्षेत्राधिकार है, प्रतिपक्षी दल समितियों में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से सरकार की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखते हैं।

(ख) संसदीय प्रश्न,

(ग) संसदीय प्रस्ताव,

(घ) वाद विवाद,

(ङ) स्थगन प्रस्ताव आदि, ये ऐसे साधन हैं, जिनके माध्यम से प्रतिपक्षी दल सरकार पर निरन्तर दैनिक नियन्त्रण रख सकते हैं।

संसद में प्रतिपक्षी दल सरकार की नीतियों तथा कार्यों पर विचार विमर्श करने के लिए समय की माग करते हैं। अतएव प्रतिपक्षी दलों को सरकार की नीतियों तथा कार्यों की आलोचना करने का जो अधिकार है यह भारतीय संसद में वाद विवाद की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण जनतान्त्रिक अधिकार है। यह अधिकार संसद में, सरकार की आलोचना तक ही सीमित नहीं है जो केवल नकारात्मक कार्य है। रचनात्मक या सकारात्मक रूप से संसदीय प्रतिपक्षीय दल का यह कार्य है कि सरकार को, राष्ट्रीय हितों से सबन्धित मूलभूत मुद्दों पर अपना सहयोग दे। उदाहरण स्वरूप, राष्ट्रीय हितों से सबन्धित किसी विधेयक को जब संसद पारित करती है, उसमें प्रतिपक्षी दलों का सहयोग रहता है। ब्रिटिश पद्धति

के सम्बन्ध में विपक्षीय दल के नेता ने १९३२ में कहा—"यद्यपि यह सरकारी विधेयक है परन्तु इसका निर्माण सदन के सदस्यों के सहयोग से हुआ है जहाँ पर कुछ सदस्य सिद्धान्तों पर विधेयक का विरोध करते हैं फिर भी वे उसको क्रियान्वित करने में भी सक्रिय रहते हैं।"[1]

अन्य मामलों में भी, जो राष्ट्रीय हितों से सबंधित है, प्रायः प्रतिपक्षी दलों का सहयोग सरकार को मिलना चाहिये १९६२ तथा १९७१ में पाकिस्तानी आक्रमणों के दौरान प्रतिपक्षी दलों ने सरकार को अपना ठोस सहयोग दिया।

इसके बावजूद भी कि भारतीय संसद में प्रतिपक्ष द्वारा सरकार पर कुछ हद तक अंकुश लगाया जाना है, यह स्पष्ट है कि जब तक भारतीय संसद में एक संगठित तथा प्रभावशाली लोकतन्त्रीय प्रतिपक्ष का विकास नहीं होता है, तब तक वर्तमान स्थिति संतोषप्रद नहीं मानी जा सकती है। भारतीय संसद में एक संगठित एवं प्रभावशाली लोकतन्त्रीय प्रतिपक्ष की आवश्यकता, श्री एम० आर० मसानी के निम्नलिखित शब्दों से समझी जा सकती है, "मेरे विचार में भारतीय बौद्धिक वर्ग के प्रत्येक सदस्य को यह स्पष्ट हो गया होगा कि संसदात्मक जनतन्त्र प्रभावशाली नहीं हो सकता है यदि एक प्रभावशाली प्रतिपक्ष का अभाव है। वस्तुतः, आप में से जिन्होंने श्री डी० एफ० एम० इरबीन की पुस्तक पढ़ी है—आपको स्मरण होगा कि वे कहते हैं कि 'जनतन्त्र की समस्त कसौटियों में मूल कसौटी यह है कि एक प्रतिपक्षी दल और वैकल्पिक सरकार विद्यमान है या नहीं है। कोई संविधान जनतान्त्रिक नहीं हो सकती है, यदि व्यवहार में सिवाय सत्तारूढ़ दल के अन्य कोई दल सरकार की बागडोर लेने को तैयार नहीं है। इरबीन सही था।"[2]

भारतीय संविधान में विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार नागरिकों को दिया गया है, जिसके फलस्वरूप वे सरकार की आलोचना कर सकते हैं। अतएव संविधान के अन्तर्गत संसदीय प्रतिपक्ष के विकास के लिए पर्याप्त आधार है। प० नेहरू ने कहा है कि—"मेरा विश्वास पूर्णतया ऐसी सरकार में है, जिसके आलोचक निडर हैं, और जिसको विरोध का सामना करना है। बिना आलोचना के जनता तथा सरकार लापरवाह हो जाती है। समस्त संसदीय प्रणाली, इस प्रकार की आलोचना पर आधारित है—मैं संसद में (सरकार की) आलोचना चाहता हूँ।"[3]

---

१. ए० बी० कीथ—'द ब्रिटिश केबीनेट सिस्टम', १९५२ पृ० २४२-२४३।

२. एम० आर० मसानी—'पार्टी पालिटिक्स इन इण्डिया,' (इन थाईटल स्पीचेज एण्ड डाक्युमेन्ट्स आफ द डे) जुलाई, १५, १९५२ पृ० ४६१।

३. प० नेहरू—'नेहरूज स्पीचेज' भाग-३ अगस्त १९५७ पृ० १५२। पब्लिकेशन्स डिविजन, मिनीस्ट्री आफ इन्फारमेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग।

अतएव मूल प्रश्न यह है कि भारतीय ससद मे एक सगठित एव प्रभावशाली लोकतन्त्रीय प्रतिपक्ष के विकास मे कौन-कौन सी बाधाएँ है, और उनको किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

(१) भारत म राजनीतिक नेतृत्व की मुख्य त्रुटि यह है कि यह नकारात्मक तथा काल्पनिक प्रभावो से मुक्त नही है। लोकतन्त्र म राजनीतिक नेतृत्व का विकास एक आसान कार्य नही है क्योकि इसके लिए असीम धैर्य एव चित की स्थिरता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त नेतृत्व के लिए आत्म-बलिदान की आवश्यकता होती है, जिससे जनता पर उचित प्रभाव हो सके। परन्तु भारत मे यह देखा गया है कि राजनीतिक दलो के कई सदस्यो ने अपने असन्तोष के कारण जल्द ही धैर्य खो दिया है और सत्तारूढ दल मे सम्मिलित हो गये। कई सदस्यो ने प्रजा सोशलिस्ट तथा स्वतन्त्र दलो की सदस्यता छोडकर काग्रेस मे प्रवेश ले लिया। इसके अतिरिक्त, कई विपक्षी दलो का नेतृत्व ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे है जो पूर्व मे काग्रेस मे थे। अतएव एक साधारण नागरिक के मन मे स्वाभाविक रूप से यह विचार पैदा होता है कि व्यक्तिगत, न कि राजनीतिक कारणो से इन व्यक्तियो ने काग्रेस छोडकर विपक्षी दलो मे सदस्यता ग्रहण की है। 'यह कोई आश्चर्य नही है कि जनता इनको अव्यावहारिक, भक्की या असन्तुष्ट नेताओ के रूप म मानती है। जनता अपना भविष्य ऐसे व्यक्तियो के नेतृत्व मे छोडना सुरक्षित नही समझती है।"[१]

कई राजनीतिक दलो के नेतृत्व मे आन्तरिक कलह तथा झगडे है जिससे उन दलो के सदस्यो मे असन्तोष की भावना बढती है और साथ ही जनता पर बुरा प्रभाव पहुँचता है, जैसा डा० सोमजी, प्रजा सोशलिस्ट दल के लिए कहते हैं "नेतृत्व के दृष्टिकोण से इसको अपने सस्थापको की असामयिक राजनीतिक सेवा निवृत्ति होने से और अन्य सदस्यो के व्यक्तिगत भेद-भाव तथा झगडो के कारण अधिक हानि सहनी पडी है।"[२] यह सत्य है कि यदि आरम्भ से ही विपक्षी दलो का उचित नेतृत्व तथा कार्यक्रम होता, तो कदाचित ससद मे एक सगठित लोकतान्त्रिक प्रतिपक्ष के विकसित होने मे कई कठिनाइयाँ दूर हो सकती थी। परन्तु जैसा स्पष्ट है भारत मे विभिन्न राजनीतिक दल जनतान्त्रिक, साम्यवादी तथा साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित होने के अतिरिक्त प्राय. आन्तरिक झगडो मे उलझे रहते हैं, जिसके

---

१. जी० वी० कान्तिकर—'प्रोबलेम्स आफ अपोजीशन इन इण्डिया इन स्टडीज इन इण्डियन डेमोक्रेसी' १९६५ पृ० ६२९।

२. ए० एच० सोमजी—'मोटिवेशन्स एण्ड प्रोपेगेण्डा इन सेमीनार' ३० फरवरी १९३२।

फलस्वरूप लोकतंत्र का मूल उद्देश्य–लोक कल्याण, इनकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। "एक प्रभावशाली प्रतिपक्ष का निर्माण ऐसा कार्य है, जिसके लिए धैर्य की, विशेषकर भारत–जैसे आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से पिछडे हुए देश के लिए आवश्यकता है। निरन्तर विरोध मे रहना, प्रतिपक्षी दल का उद्देश्य नहीं हो सकता। एक प्रभावशाली प्रतिपक्ष को सत्तारुड दल का बडा विरोध करते हुए, मतदाताओ मे विश्वास की भावना का निर्माण करना है कि वह सरकार की बागडोर सम्हालने के लिए तैयार है। इस दृष्टिकोण से प्रतिपक्ष को वैकल्पिक सरकार के सदृश कार्य करना है। इस बात पर बल दिया जाना आवश्यक है कि एक प्रभावशाली दल के निर्माण के लिए कोई छोटा मार्ग नहीं है। इसके पूर्व कि उसके द्वारा लेबर सरकार की स्थापना की गई ब्रिटिश लेबर (मजदूर) दल को प्रतिपक्ष म कई वर्षों तक रहना पडा। दुर्भाग्यवश वह सहनशीलता तथा धैर्य जो एक प्रभावशाली प्रतिपक्ष के लिए आवश्यक है, भारत के दलो मे नही है। प्रतिपक्ष की सदस्यता छोडकर सत्तारुढ मे प्रवेश करना मुख्यत धैर्य की कमी का सूचक है, यद्यपि कई बार यह दर्शाया जाता है कि यह विश्वास से प्रेरित होकर किया गया है।"[1]

(२) केवल निष्ठावान एव उत्तम नेतृत्व ही एक प्रभावशाली लोकतान्त्रिक प्रतिपक्ष के निर्माण के लिए पर्याप्त नही है, क्योकि जनता को प्रभावित करने के लिए एक अन्य तत्त्व आवश्यक है।

इस तथ्य को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता है कि स्वतत्रता के पश्चात् आर्थिक असमानता, आवश्यक वस्तुओ के दामो मे वृद्धि, प्रशासन मे लाल फीताशाही तथा भ्रष्टाचार के कारण जनता मे असन्तोष बढा है। परन्तु यह एक विडम्बना है कि इन सब कारणो के होते हुए भी जनता ने लगातार, सविधान लागू होने के पश्चात् केवल एक ही दल (काग्रेस) को केन्द्रीय सरकार की बागडोर सौंपी। इस विचित्र राजनीतिक घटना के क्या कारण है यहाँ पर दो कारणो का उल्लेख किया जा सकता है।

सर्वप्रथम, कई प्रतिपक्षी दलो द्वारा पाश्चात्य राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक आदर्शो या नमूनो को अपनाया गया है। परन्तु आरम्भ से ही काग्रेस मे भी इसी प्रकार के राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक सिद्धान्तो को अपनाया है। अतएव एक साधारण नागरिक के लिए कभी-कभी यह समझना कठिन है कि 'लोकतान्त्रिक समाजवाद' की घोषणा करने वाले इतने अधिक राजनीतिक दल

---

१ एम० आर० दण्डवते—प्रोबलेम्स आफ अपोजिशन इन इण्डिया इन स्टडीज इन इण्डियन डेमोक्रेसी, १९६५, ६२८।

क्यों हैं, जबकि कांग्रेस ने इस सिद्धान्त की घोषणा की है और इसको कार्यान्वित करने का दावा करती है। "केवल यह कहना कि हम वही चाहते हैं, जो सत्तारुढ दल चाहता है किन्तु हम उसे बेहतर रूप मे करेंगे, जनता को आश्वस्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है।"[१] उदाहरण स्वरूप, प्रजा सोशलिस्ट दल का आन्ध्र प्रदेश में शासन, साम्यवादी दल का केरल म शासन, उत्तर प्रदेश में सयुक्त विधायक दल का शासन-इनसे विपक्षी दलो के दावो की पुष्टि नही होती है कि वे कांग्रेस से बेहतर प्रशासन देने की क्षमता रखते हैं। "सामान्यत जनता मे समस्त राजनीतिज्ञो के प्रति एक प्रकार की अविश्वास की भावना हो गई है। उनको विश्वास है कि केवल सरकार के परिवर्तन का अर्थ एक उत्तम एव सक्षम प्रशासन नही होगा। इसलिए वे नये तथा अज्ञात सगठन के बजाय एक ज्ञात सगठन को समर्थन देते रहते हैं।"[२]

द्वितीय, सत्तारुढ दल (कांग्रेस) की त्रुटियो के कारण उसके प्रति असन्तोष होते हुए भी जनता को यह विदित है कि इसके अलावा कोई वैकल्पिक राजनीतिक दल नहीं है जो उनका एक दृढ, सक्षम एव स्वस्थ प्रशासन देने की स्थिति म हैं। अतएव यह विपक्षी दल या दलो के लिए एक चुनौती है, जिसका सामना करने के लिए उनको जनता के समक्ष अपनी एक प्रभावशाली तस्वीर रखनी होगी। यह प्रतिपक्षी दलो के रचनात्मक कार्यों से ही सभव है। उदाहरण स्वरुप, विशेषकर सहकारिता के क्षेत्र मे राजनीतिक दल योजनाओ की सफलता के लिए अपना योगदान दे सकते हैं और जनता के समक्ष यह साबित कर सकते हैं कि इनके सगठित कार्यकर्ताओ म प्रशासन एव प्रबन्ध-सबधी समस्याओ के समाधान करने की क्षमता है। अतएव प्रतिपक्षी दलो के व्यवहार एव कार्य ऐसे होने चाहिये जिससे जनता मे उनके प्रति विश्वास की भावना जागृत हो सके।

१९६७ के आम-चुनाव के बाद विभिन्न प्रतिपक्षी दलो ने, विभिन्न राज्यो मे सयुक्त सरकारें स्थापित की। ये सयुक्त सरकारें उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बगाल, पजाब, हरियाणा और मध्यप्रदेश मे स्थापित की गई थीं।

परन्तु सिवाय आन्तरिक झगडो मे अपना समस्त समय व्यय करने के इन सरकारो ने जनता के हित मे कोई विशेष कार्य नहीं किया। "इसके अतिरिक्त, कई राज्यो मे, विधान सभाओ के कई सदस्यो ने राजनीतिक नैतिकता को ठुकराते हुए अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए दल-बदल और दलीय निष्ठा मे परिवर्तन या खण्डित दलो का निर्माण किया जैसे बगाल मे पीपुल्स डेमोक्रेटिक फ्रन्ट और बिहार

---

१. जी० वी० कान्तिकर-पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० ६३२।
२ वही पृ० ६३२।

में सोशिनदल। ऐसे विधायकों के कारण जो उचित या अनुचित साधनों से मन्त्री पद हड़पने में ही प्राथमिक रूप से रुचि रखते हैं—एक सामान्य व्यक्ति की ससदीय जनतन्त्र में आस्था डगमगा गई है और लोकतन्त्र के अस्तित्व को ही डर हो गया है।"[1]

(३) जब तक राजनीतिक दलों की संख्या अत्यधिक रहेगी और वे साम्प्रदायिक, स्थानीय या अन्य किसी सकीर्ण तत्वों से प्रभावित होकर कार्य करेंगे, यह स्पष्ट है कि इनके द्वारा संसद में कोई किसी प्रभावशाली लोकतान्त्रिक प्रतिपक्ष के निर्माण की सम्भावना नहीं है। "राजनीतिक दलों की अत्यन्त तुच्छ कारणों के आधार पर तोड़कर कई दलों को पैदा किया है। एक ऐसा देश जहाँ पर प्रतिपक्ष दल निर्बल है, इस प्रकार का राजनीतिक विभाजन नहीं वहन कर सकता है। ब्रिटेन जैसे देश में, लेबर दल में आन्तरिक अस्थिरता होने के बावजूद मजदूर दल के नेता श्री एन्यूरिन बेवन समान वाम पंथी उग्र नेताओं ने कभी भी लेबर दल को विभाजित कर एक नया सगठन स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। ब्रिटिश लेबर दल द्वारा प्रस्तुत सबक भारत के प्रतिपक्षी दलों की दृष्टि से कभी ओझल नहीं होना चाहिये।"[2]

यह स्पष्ट है कि यदि भारत में एक प्रभावशाली लोकतान्त्रिक प्रतिपक्ष का विकास करना है, तो जो राजनीतिक दलों की वर्तमान संख्या अत्याधिक है, उसको कम करके दो या अधिक से अधिक तीन तक सीमित करना आवश्यक है। यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है, किन्तु असम्भव नहीं है। इसे संसदीय प्रणाली के अस्तित्व के लिए स्वीकार करना अत्यावश्यक है। इसके लिए जिन दलों की विचारधारा एवं आदर्श समान हैं, उनका एकीकरण होना आवश्यक है। "यह सत्य है कि सम्पूर्ण प्रतिपक्ष की एकता सम्भव नहीं है और तीन प्रवृत्तियाँ, उदाहरणतः लोकतान्त्रिक सामाजिक, साम्यवादी एवं 'यथापूर्व स्थितिवादी' प्रतिपक्ष में बनी रहेंगी। समगत प्रवृत्तियों का एकीकरण अवाछनीय है। तथापि, इन तीन प्रवृत्तियों के अलावा प्रतिपक्षी दलों का बहुसंख्या में होना, एक प्रभावशाली तथा सैद्धान्तिक प्रतिपक्ष के स्वस्थ विकास में हानिकारक होगा। अतएव वर्तमान आवश्यकता यह है कि समान विचार वाले दलों का तत्काल एकीकरण हो। समाजवादी एकता की दिशा में किये गये प्रयत्न स्वागत योग्य हैं। जनसंघ तथा स्वतन्त्र दल, जिनके आर्थिक—सामाजिक समस्याओं के प्रति लगभग समान विचार

---

१. के० सी० सक्सेना-'विदर इण्डियन डेमोक्रेसी' इन सोशलिस्ट कांग्रेसमैन, मार्च २५, १९६८।

२. एम० आर० दण्डवते पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६२६-६२७।

निःसंदेह, इस प्रकार के अस्थायी समझौते, किसी सीमित उद्देश्य की पूर्ति के लिए सफल नहीं हो सकते हैं। "आदर्शों की एकता, संगठन, अनुशासन एवं ठोस नेतृत्व सत्तारूढ़ दल के लिए जितने आवश्यक हैं, उतने प्रतिपक्ष दल के लिए भी आवश्यक है। इन गुणों को अस्थायी निर्वाचन संबंधी समझौतों के माध्यम से जिनकी निर्वाचन के बाद तक विद्यमान रहने की संभावना नहीं रहती है, प्राप्त नहीं किया जा सकता है।"[1]

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रतिपक्षी दलों के समान अस्थायी तथा अवसरवादी समझौते करने की प्रवृत्ति कांग्रेस (सत्तारूढ़) दल ने भी भारत के कतिपय राज्यों में प्रदर्शित की है। १९५७ में कांग्रेस ने अकाली दल से समझौता किया। इसी प्रकार केरल में श्री यू० एन० ढेबर के नेतृत्व में कांग्रेस ने साम्यवादी दल से सहयोग करने के प्रयत्न किये। प्रश्न यह नहीं था कि साम्यवादी सरकार अच्छी या बुरी थी, किन्तु प्रश्न लोकतान्त्रिक तथा धर्म निरपेक्ष आदर्शों का है, अर्थात् क्या एक लोकतान्त्रिक, धर्म निरपेक्ष दल को एक ऐसे दल के साथ सहयोग करना चाहिये जो एक जनतांत्रिक संविधान द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता का लाभ अनुचित रूप से लेते हुए, स्वयं संविधान तथा जनतंत्र के विनाश करने पर तत्पर है?

संक्षेप में राजनीतिक दलों द्वारा समझौते किये जाते हैं, उनके लिए निम्न-लिखित मुद्दों पर ध्यान रखना आवश्यक है।

(क) राजनीतिक समझौते समान विचारधारा, नीतियों एवं उद्देश्यों पर आधारित होने चाहिये, तब ही वे स्थायी एवं लाभप्रद हो सकते हैं।

(ख) समझौते का उद्देश्य केवल सत्तारूढ़ दल को पराजित करने का नहीं, परन्तु रचनात्मक नीतियों एवं कार्यक्रमों के आधार पर एक वैकल्पिक सरकार की स्थापना करना होना चाहिये। यदि भारतीय राजनीतिक जीवन में विशेष रूप से इन दो मुद्दों पर ध्यान रखा जावे तो इससे संसदीय लोकतंत्र की नींव को दृढ़ होने में सहायता मिलेगी।

(४) भारत में एक संगठित एवं प्रभावशाली लोकतंत्रीय प्रतिपक्षी दल के विकास में जो एक और उल्लेखनीय रुकावट है, अधिकांश जनता की निरक्षरता है, लगभग ८५ प्रतिशत भारत की जनता निरक्षर है, जिसको जनतंत्र के मार्ग में रोड़ा कहा जा सकता है। इसके परिणाम स्वरूप, चतुर राजनीतिज्ञों द्वारा उत्तेजना पूर्ण भाषणों से जनता को प्रभावित कर, इनके मत प्राप्त करने में सफलता मिल जाया करती है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार के तथा कथित सामाजिक,

---

१. एलीटिरियो सोमारेज—'पार्लियामेन्टरी अपोजीशन, इन द इण्डियन रिप्यू नव० १९५१ पृ० ५२०।

आर्थिक, धार्मिक प्रलोभनो, आकर्षणो द्वारा भी निरक्षर मतदाताओ को थोडे से समय के लिए प्रभावित कर उनके मत हडपे जा सकते हैं। ब्रिटेन म मताधिकार शनै -शनै दिया गया, जबकि भारत म एक ही बार यह अधिकार भारतीय नागरिको को सविधान द्वारा दिया गया है। अतएव, ब्रिटन म मताधिकार प्रदत्त करने के पूर्व ब्रिटिश नागरिको को पर्याप्त राजनीतिक शिक्षा प्राप्त हुइ है। भारत म, इसके बिल्कुल विपरीत हुआ है, अर्थात भारतीय नागरिक को पहले मताधिकार प्राप्त हुआ और इसके उपयोग में लाने के साथ साथ उनको स्वत कुछ सीमा तक राजनीतिक शिक्षा मिली है। लोकतत्र म शिक्षित नागरिक की महत्वपूर्ण भूमिका है। एक शिक्षित नागरिक लोकतन्त्र की समस्याओ को सरलता पूर्वक समझकर अपने दायित्वो को निभा सकता है। किन्तु एक निरक्षर या अनपढ नागरिक के लिए यह सभव नही है। अत नागरिक की शिक्षा विशेपकर राजनीतिक-शिक्षा पर लोकतत्रीय व्यवस्था मे विशेष ध्यान देना चाहिये। श्री एस० वी० राजू इस विषय पर कहते हैं—"मतदाता की व्यापक निरक्षरता और उनके मत के अर्थ को समझने की अक्षमता का, जिससे भ्रष्टाचार बढा है, कुशलतापूर्वक कई अन्य तरीको से शोषण किया गया है।

एक मध्यावधि चुनाव के दौरान लेखक को व्यक्तिगत रूप से ज्ञात हुआ कि यह कितनी चतुराई से किया गया। प्रतिद्वन्द्वी दल के समर्थक एक नमूने के मतदान पत्र एव रबर की मुहर जिस पर × चिह्नित था लेकर प्रचार कर रहे थे। जब कभी भी वे यह देखते थे कि मतदाता कुछ विरुद्ध है, तो वाक्-चपलता से एसे मतदाताओ को कहते कि किसी प्रत्याशी के लिए × चिन्ह का उपयोग उसके प्रति उनकी असहमति का सूचक था, अतएव जब कोई प्रत्याशी उनको पसन्द नही था तो उनको केवल यह करना था कि उसके नाम के सामने × अकित कर दे।"[1]

श्री एस० वी० राजू एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते है, जिससे यह विदित होता है कि निरक्षर मतदाता के मत का अनुचित लाभ किस तरह प्राप्त किया जा सकता है। "उदाहरण-स्वरूप मैसूर के एक निर्वाचन क्षेत्र म, जहाँ पर लेखक को जाने का अवसर प्राप्त हुआ, उन्होने देखा कि कितनी भी कठिनाइयो के बावजूद सत्तारूढ काग्रेस दल विजयी होता था क्योकि उनको बैल तथा जुंआ, का निर्वाचन चिन्ह प्राप्त था और इस निर्वाचन क्षेत्र मे बहुमत उन व्यक्तियो का था जो बैल की पूजा करते हैं।"[2]

यह सत्य है कि चुनावो के दौरान निर्वाचन चिन्ह प्रणाली से निरक्षर मतदाताओ के लिए काफी सुविधा हो गई है, किन्तु जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणो से

---

१. एस० वी० राजू 'पूर्वोक्त पुस्तक', पृ० ६२५—६६।
२ वही पृ० ६२६।

उस राजनीतिक दल के सदृश होगा जो स्केण्डीनीविया से स्पेन तथा यूगोस्लाविया तक कार्यरत है। परन्तु इसके अतिरिक्त, यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ८५ मतदाता निरक्षर हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे, उनकी तुलना मे जो पढ तथा लिख सकते हैं, कम बुद्धिमान है, परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि वे आपका (राजनीतिक दल का) घोषणा पत्र पढने मे असमर्थ है।

इसका यह अर्थ है कि ससद मे दिये गये भाषणो को भी वे नही पढ सकते है जो उन तक शब्दो द्वारा नही पहुँचाये जा सकते हैं, और आवागमन के साधन भी अत्यन्त सीमित है। यदि टेलीविजन होता तो इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। परन्तु भारत के ग्रामो मे टेलीविजन एक दूर का सपना है। अतएव यह अवश्यभावी है कि राजनीतिक दल जनता तक पहुँचने मे कठिनता का सामना करें। ऐसी स्थिति मे विचारधारा का कम महत्व होता है। सगठन का और अधिक महत्व होता है। १९६२ के आम-चुनाव मे अन्य आम चुनावो के समान निर्णय राजनीतिक कार्यक्रम या विचारधारा के आधार पर नही हुआ था, यह निर्णय राजनीतिक दलो के सगठन-तत्र की सबधित शक्ति के आधार पर हुआ। यदि काग्रेस को अधिक मत प्राप्त हुए तो वह इस कारण कि इसका सगठन तत्र किसी अन्य राजनीतिक दल के सगठन-तत्र से अधिक प्राचीन, शक्तिशाली और व्यापक है।[1]

सगठन तत्र के उच्च कोटि के होने के अतिरिक्त, काग्रेस को वित्तीय साधनो की कमी नही है, जिससे उसकी स्थिति और दृढ होती है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि काग्रेस सत्तारूढ दल है। १९५२ से पिछले पाँच आम-चुनाव के अनुभव पर कहा जा सकता है कि आम-चुनाव मे विजय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त वित्त होना अत्यावश्यक है। निर्वाचन आयोग द्वारा प्रकाशित 'मैन्युअल आफ द इलेक्शन ला' मे आम-चुनाव मे प्रत्येक प्रत्याशी द्वारा खर्च की जाने वाली राशि की सीमा २५,००० रुपये तक निर्धारित की गई है। वस्तुस्थिति यह है कि साधारणतया एक प्रत्याशी के लिए इतना व्यय करना उसकी व्यक्तिगत सीमा के बाहर है। तथापि जो राशि वास्तव मे व्यय की जाती है, वह २५,००० रूपये से कई गुना अधिक होती है। यह इसलिये सभव है कि उपर्युक्त सीमा, एक प्रत्याशी द्वारा व्यक्तिगत रूप से किये गये व्यय पर है, जबकि प्रत्याशी के लिए उसके दल द्वारा किये गये व्यय पर कोई सीमा नही है। इस कारण एक प्रतिपक्षी दल के लिए यह एक कठिन समस्या हो जाती है, क्योकि न तो उसके पास अत्यधिक वित्त ही है न ही ऐसे साधन, जो सत्तारूढ दल को अपनी स्थिति के कारण उपलब्ध होते हैं। श्री रजनी कोठारी का कथन है—"काग्रेस द्वारा प्रदत्त सरक्षण

---

१. एम० आर० मसानी—'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० ८९६।

का जाल इतना दूर और अधिक फैल गया है कि इसके दायरो मे सहकारी समितियाँ, पंचायत, समुदाय-विकास प्रशासन, समस्त अर्द्ध सरकारी संस्थाएँ जो "योजना, विकास, राज्य कार्यो मे सबधित है, समस्त संस्थाएँ, जिनका सबध परमिट, कोटा, व्यापारिक सघ, शैक्षणिक सस्थाएँ, एव नागरिक अधिकारियो से है—सभी आ जाते हैं। इस सब को क्रमबद्ध रूप से काग्रेस सगठन का हिस्सा बनाकर एक प्रदेश मे राज्य स्थापित किया जाता है।"[1]

किसी सीमा तक सत्तारूढ दल को वित्तिय सहायता महत्वपूर्ण उद्योगिक प्रतिष्ठानो से प्राप्त होती है, यह टिस्को (TISCO) एव इस्को (IISCO) द्वारा पूर्व म काग्रेस को दी गई वित्तिय सहायता से ज्ञात हो सकती है। ये दोनों टाटा की औद्योगिक सस्थाएँ हैं। १९५७ के आम चुनाव में 'टिस्को' ने काग्रेस निधि को १० ३०,००० रुपए तथा "इस्को" ने २,५०,००० रुपये दिये। यह उल्लेखनीय है कि न्यायापालिका ने इस प्रकार की वित्तीय सहायता की कडी आलोचना की है। न्यायमूर्ति चागला ने टिस्को से सबधित प्रकरण मे निर्णय देते हुए कहा कि जनतत्र की आधार शिला मतदाता है और जब भारत म वयस्क मताधिकार का प्रश्न है तो यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि न केवल एक प्रतिनिधि की निष्ठा का, जो ससद को निर्वाचित हुआ है, किन्तु एक मतदाता की निष्ठा का भी पूर्ण रूप म सरक्षण किया जाय और यह कहा जा सकता है कि यह स्वीकार करना कठिन है कि प्रतिनिधि तथा मतदाता की निष्ठा का सरक्षण सभव होगा जबकि बडे औद्योगिक प्रतिष्ठानो को राजनीतिक-निधियो मे योगदान देने की सहमति दी जाती है, जिसके प्रभाव से (आम-चुनाव) म एक विशिष्ट नतीजा प्राप्त किया जा सकता है।

वित्त का प्रभाव मतदान पर किस सीमा तक होता है, इसको स्पष्ट करने के लिए श्री पी० सी० चौधरी एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो पिछले एक मध्यावधि चुनाव से सबधित है—"यहाँ कतिपय तथ्यो का उल्लेख राजस्थान के सदस्य ने किया है। एक मध्यावधि चुनाव मे एक काग्रेस प्रत्याशी था और दूसरा प्रतिपक्षी दलो द्वारा समर्थित था। उस समय लगभग आधा दर्जन केन्द्रीय मत्रियो को आमत्रित किया गया कि वे (काग्रेस) प्रत्याशी के लिए भाषण दें तथा प्रचार करें। एक मत्री विशेष हवाई जहाज से आये। एक या दो मत्री विशेष रूप से किराये पर लिये हवाई जहाज से आये और एक मत्री लगभग तीन या चार सप्ताह तक, उस स्थान पर, प्रचार करने हेतु ठहरे। इसके अतिरिक्त, राजस्थान के लगभग आधा दर्जन मत्रियो को दो माह तक वहाँ रोका गया। प्रतिपक्षी दल

---

१. आर-कोठरी-"डेवलेपिंग पोलिटिकल पेटर्न, (इन सेमीनार, सख्या ३० फरवरी १९६२ पृ० १८)।

के प्रत्याशी को जो एक स्थानीय वकील था वित्तीय दृष्टिकोण से काफी हानि हुई। उसका कहना था कि कांग्रेस प्रत्याशी ने लगभग २,०० ००० रुपये व्यय किये जबकि उसको उपयुक्त राशि का एक दशांश भाग भी उपलब्ध नहीं था।"[1]

संक्षेप में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चुनाव में खड़े तथा जीतने के लिए धन अत्यन्त आवश्यक है और प्रत्येक योग्य बुद्धिमान एवं निष्ठापूर्ण व्यक्ति को यह सुविधा उपलब्ध नहीं रहती है। इस त्रुटि को दूर करने का उत्तम उपाय यही है कि सत्तारूढ़ दल अपने पर कतिपय आवश्यक रोक लगाये रखे और उनका दृढ़तापूर्वक पालन करे।

(६) जैसा देखा जा चुका है भारत की संसदीय पद्धति में एक ओर तो कांग्रेस का विशाल बहुमत है तो दूसरी ओर प्रतिपक्षी दल अल्पसंख्या में है जिससे भारतीय संसदीय पद्धति में एक प्रकार का राजनीतिक असन्तुलन बना रहता है। 'कांग्रेस के एक तरफी आधिपत्य द्वारा, यह राजनीतिक स्थायित्व स्थापित किया गया होगा जो स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक वर्षों में भारत के लिए आवश्यक था, जैसा कि प्रो० पामर ने बतलाया है, किन्तु इसके द्वारा एक स्वस्थ राजनीतिक दलीय प्रणाली का विकास रोक दिया गया है।'[2]

अतएव यहाँ पर मूल प्रश्न यह है कि सामान्य एक मतदाता की क्या भूमिका होनी चाहिये जिसके द्वारा यह उपर्युक्त वर्णित राजनीतिक असन्तुलन को दूर करते हुए एक सुदृढ़ एवं प्रभावशाली प्रतिपक्ष के निर्माण में सहायता पहुँचाये।

चूँकि संसदीय पद्धति की सफलता के लिए दो या अधिक से अधिक तीन राजनीतिक दल ही होने चाहिये, यह अत्यावश्यक है कि मतदाता अपने मत केवल उन्हीं दलों के प्रत्याशियों को दें, जो लोकतन्त्र, विकासवादी समाजवाद एवं धर्म निरपेक्षता में विश्वास करते हैं और जो वास्तव में राष्ट्रीय स्तर के दल हैं। इसके उपरान्त भी मतदाता को यह ज्ञात करना आवश्यक है कि ऐसे राजनीतिक दलों में से कौन कौन से दल उपयुक्त हैं अर्थात् यदि दो से अधिक दलों की विचारधाराएं समान हैं तो केवल उसी दल को मत दिये जायें, जिसने भूतकाल में अपनी प्रतिज्ञाओं को निःस्वार्थ भाव से पूरा करने के लिए रचनात्मक प्रयत्न किये हैं। अन्य राजनीतिक दल स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे, क्योंकि उनको जनता का समर्थन नहीं मिलेगा। परन्तु पूर्व में यह बताया जा चुका है कि यह ज्ञान मतदाता की शिक्षा तथा राजनीतिक विषयों से सम्बन्धित ज्ञान पर निर्भर है, क्योंकि विभिन्न

१. पी० सी० चौधरी, पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २३।

२ एन० डी० पामर—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १८४।

राजनीतिक दलों के सिद्धान्तो, नीतियो तथा कार्यक्रमो मे समानता या असमानता तथा गुण-दोष मतदाता तब ही ज्ञात कर सकेंगे, जब उन्हे राजनीतिक विषयो का पर्याप्त ज्ञान है।

सक्षेप मे, भारत मे एक लोकतन्त्रीय एव प्रभावशाली प्रतिपक्ष के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं —

(१) सरकारी एव गैर-सरकारी स्तर पर जनता के प्रशिक्षण के लिए विशेष कर राजनीतिक मामलो के सन्दर्भ मे, कदम उठाये जाने चाहिये,

(२) सरकार को शीघ्र ऐसी नीतियो तथा कार्यक्रम को क्रियान्वित करना चाहिये जिससे जनता को आर्थिक स्वतत्रता प्राप्त हो सके क्योकि आर्थिक ,स्वतन्त्रता ही वास्तव मे राजनीतिक स्वतत्रता का आधार है।

(३) विभिन्न प्रतिपक्षी दलो का, जो बहुसख्या मे हैं, जनता तथा राष्ट्र के प्रति कर्तव्य है कि समान विचारधारा रखने वाले दलो को मिलाकर, भारतीय राजनीति मे दो या अधिक से अधिक तीन दलीय प्रणाली को जन्म दें जिनका आधार स्पष्ट रूप से लोकतात्रिक तथा धर्म निरपेक्ष हो।

(४) सत्तारूढ दल का एक विशेष उत्तरदायित्व है कि विभिन्न क्षेत्रों मे रचनात्मक प्रयत्नो द्वारा एक लोकतान्त्रिक प्रतिपक्ष दल के विकास में सहायता करे।

(५) अन्त म, भारत मे लोकतत्र का अस्तित्व भारतीय जनता पर निर्भर है। निर्वाचन के समय जनता को अपने मत इस प्रकार विभाजित करने चाहिये जिससे दो दलीय प्रणाली को प्रोत्साहन मिले।[1]

---

१. एम० के० रेड्डी—'पोलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया' (इन द इण्डियन रिव्यु, नवम्बर १९६४ पृ० ४२२)।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय

भारतीय सविधान एक जनतान्त्रिक सविधान है अत इसमें दो विशेष मुद्दो पर विशेष रूप से बल दिया गया है। सर्वप्रथम, विभिन्न सीमाएं जिनम सरकार के तीन अगो (कार्यपालिका, व्यवस्थापिका सभा तथा न्यायपालिका) को सविधान द्वारा स्थापित सघीय व्यवस्था मे कार्य करना है। इस सदर्भ मे सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एक सतुलनचक्र के समान है, क्योकि जहां सरकार के अन्य अग जनता की उत्तेजित भावना से प्रभावित हो सकते हैं, वहां केवल सर्वोच्च न्यायालय ही सरकार का एक ऐसा अग है जो निष्पक्षता एव शान्तिपूर्वक सरकार के कार्यो की व्याख्या सविधान के अनुसार करके, सरकार के विभिन्न अगो मे सतुलन स्थापित कर सकता है। इसके अतिरिक्त, सविधान मे सघवाद के सीमित सरकार के सिद्धान्त के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय की एक विशेष भूमिका उभर कर सामने आती है। वह यह है कि सर्वोच्च न्यायालय को सविधान की व्याख्या एव सरक्षण करने का अधिकार होता है।

हमारे सविधान-निर्माताओ का यह विश्वास था कि सीमित सरकार जनतत्र के लिए अत्यावश्यक है। "परन्तु सविधान मे उन्होंने उस सिद्धान्त को समावेशित किया जिसको (अमरीका के) मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने सीमित सरकार का आवश्यक तत्व माना है कि सविधान द्वारा व्यवस्थापिका की शक्तियो पर लागू की गई सीमाओ का आदर किया जाना चाहिये और यदि व्यवस्थापिका इन सीमाओ का उल्लघन करती है तो उसके कार्य अवैध हैं। यह प्रावधान स्पष्ट रूप से हमारे सविधान के अनुच्छेद १३ मे वर्णित है।"[१]

सविधान के अनुच्छेद २५४ (१) मे भी अवैध शब्द का उपयोग किया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार यदि किसी राज्य विधान सभा द्वारा समवर्ती सूची मे उल्लिखित किसी विषय पर निर्मित कानून किसी सघीय कानून के विरुद्ध है, ऐसी स्थिति मे राज्य विधान सभा द्वारा निर्मित कानून अवैध होगा।

---

१ डो० डी० बसु-कमेन्ट्री आन द कान्स्टीट्युशन ऑफ इण्डिया, भाग—१ १९६५ पृ० १४८-४९।

संघ राज्य में सर्वोच्च न्यायालय का विशेष महत्व होता है। वह संविधान का रक्षक है। संविधान के किसी प्रावधान से संबंधित शंका को दूर करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त, भारत में संघवाद के विशिष्ट स्वरूप के दृष्टिकोण से सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। भारतीय संघीय व्यवस्था में, जैसा देखा जा चुका है, तीन व्यवस्थापन सूचियों का उल्लेख किया गया है। वे हैं—संघ, राज्य तथा समवर्ती सूचियाँ, जिनके द्वारा संघ और राज्य सरकारों के पृथक-पृथक व्यवस्थापन क्षेत्रों को स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि किसी भी शक्ति विभाजन की प्रक्रिया में क्षेत्राधिकार के प्रश्न को लेकर संघ तथा राज्यों में वाद-विवाद पैदा होना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ—शक्ति विभाजन की भाषा अस्पष्ट होने के कारण दोनों पक्षों में किसी विषय के सम्बन्ध में विवाद पैदा हो सकता है। "अतएव ऐसे सारे विवादों का समाधान संविधान के जो सर्वोच्च कानून हैं, और जिसमें शक्तियाँ केन्द्र तथा इकाइयों के मध्य विभाजित हैं, सन्दर्भ में किया जाना चाहिये। साथ ही न्याय की माँग है कि इस तरह के विवादों का समाधान एक स्वतंत्र तथा निष्पक्ष सत्ता द्वारा किया जाये। संघीय संविधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय इस प्रकार का एक न्यायालय है; अस्तु यह संघीय व्यवस्था का एक आवश्यक भाग है। यह संविधान की व्याख्या करने वाली सर्वोच्च संस्था है, और संघ तथा इकाइयों के विवादों के समाधान के लिए अन्तिम न्यायाधिकरण है। भारतीय संविधान द्वारा स्थापित संघ व्यवस्था में, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का यह एक सब से महत्वपूर्ण कार्य है।"[1]

द्वितीय, राज्य एवं नागरिकों के सम्बन्धों के सन्दर्भ में, सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद १३ व ३२ के अनुसार नागरिकों के विभिन्न मूल-अधिकारों के संरक्षण का अधिकार है। वास्तव में सर्वोच्च न्यायालय का यह कार्य, संविधान की सीमाओं में राज्य सत्ता तथा नागरिक अधिकारों के मध्य संघर्ष की स्थिति में, जनतांत्रिक संतुलन स्थापित करना है। मूल अधिकारों तथा सामाजिक नियन्त्रण में सामंजस्य तथा संतुलन स्थापित करना यद्यपि एक अत्यन्त जटिल कार्य है फिर भी भारतीय सर्वोच्च न्यायालय, हमारे संविधान के दो मुख्य आधारों, मूल अधिकारों तथा लोक कल्याण, को ध्यान में रख कर ही संविधान की व्याख्या करेगा।

---

१. एम० वी० पायली—'इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन, १९६२ पृ० २१६।

सर्वोच्च न्यायालय का संगठन

संविधान के अनुच्छेद १२४ के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के लिए प्रावधान किया गया है, जिसका एक मुख्य न्यायाधीश और जब तक ससद कानून बना कर सख्या मे वृद्धि नही करती है, सात अन्य न्यायाधीश होगे। सर्वोच्च न्यायालय अधिनियम १६५६ द्वारा, न्यायाधीशो की सख्या सात से दस कर दी गई है। मुख्य न्यायाधीश ससद की पूर्वानुमति से किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो मे से तदर्थ न्यायाधीशो की नियुक्ति की आवश्यकतानुसार सर्वोच्च न्यायालय मे न्यायाधीशो के गण पूर्ति की कमी के कारण कर सकेगा।

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति अनुच्छेद १२४ (२) के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो से विचार-विमर्श करके करता है। सर्वोच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति इस प्रक्रियानुसार राष्ट्रपति करता है, परन्तु इसके साथ मुख्य न्यायाधीश से परामर्श लेना आवश्यक है।

संविधान के अनुच्छेद १२४ (३) के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के लिए नीचे दर्शाये अनुसार अर्हताऐं आवश्यक होगी।

१—वह भारतीय नागरिक हो।

२—किसी उच्च न्यायालय का कम से कम पाँच वर्ष तक न्यायाधीश रहा हो या कम से कम दस वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय का अभिभापक रहा हो, या राष्ट्रपति के मतानुसार प्रसिद्ध विधि-शास्त्री हो।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश का कार्यकाल ६५ वर्ष की आयु पर्यन्त माना गया है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को राष्ट्रपति द्वारा ससद के दोनो सदनों मे सम्पूर्ण सदस्यता के एव उपस्थित तथा मतदान करने वालो के ⅔ बहुमत से प्रस्ताव पारित होने पर, पदच्युत किया जा सकता है। सविधान के अनुच्छेद १२४ (४) के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को दो कारणो से पदच्युत किया जा सकता है; वे कारण इस प्रकार है—सिद्ध दुर्व्यवहार तथा अक्षमता। यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को पदच्युत करने की प्रक्रिया कठिन है; इस कारण न्यायाधीशो को अपने कार्यों के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। उनके कार्यकाल के सम्बन्ध में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका अनुचित प्रभाव नही डाल सकती हैं।

मुख्य न्यायाधिपति का वेतन ५,००० रु० प्रति माह और अन्य न्यायाधीशो का वेतन ४,००० रु० प्रति माह है। प्रत्येक न्यायाधीश को रहने के लिए निःशुल्क निवास स्थान और अपने कार्यों को करने के लिए यात्रा संबधी सुविधाएँ प्राप्त होगी। साधारणतया, न्यायाधीशो के वेतन तथा भत्तो मे उनके लिए अहितकारक

परिवर्तन नहीं किये जा सकते हैं, परन्तु राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद ३६० के अन्तर्गत घोषित वित्तीय सकटकालीन स्थिति मे न्यायाधीशो के वेतन तथा भत्तो मे कमी की जा सकती है। न्यायाधीशो के वेतन अनुच्छेद ११२(३)डी(१)के अन्तर्गत विशेषरूप से भारत की सचित निधि मे रखे गये हैं। सविधान के ये विभिन्न प्रावधान जो न्यायाधीशो की नियुक्ति, हटाने तथा वेतन एवं भत्तो से सवधित हैं, सर्वोच्च न्यायालय के स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने के लिए अत्यावश्यक हैं।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार एवं कार्य।

ब्रिटिश राज्य के समय भारतीय सरकार अधिनियम १९३५ के अन्तर्गत एक सघीय न्यायालय की स्थापना की गई थी। परन्तु इस न्यायालय के निर्णयो के लिए ब्रिटिश प्रिवी-परिषद मे अपील की जा सकती थी। इस पर भी इस सघीय न्यायालय को १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत, सविधान की व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त था। सघीय न्यायालय के उद्‌घाटन के अवसर पर, सर मारिस गायर ने इस न्यायालय की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए निम्नलिखित ऐतिहासिक शब्द कहे जो आज भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका के लिए भी उपयुक्त माने जा सकते हैं .––"सरकार एव दलों से स्वतत्र, एव नीतियो के उतार-चढाव से न प्रभावित होते हुए, इसका प्राथमिक कर्तव्य सविधान की व्याख्या करना है और मतभेदो का जो एक स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष पच की अनुपस्थिति मे उत्तेजित तथा हिंसात्मक वातावरण का निर्माण कर सकते हैं, शान्तिपूर्वक और तार्किक समाधान करना है। हमारा यह भी प्रयत्न होगा कि भारत के सविधान को, उसके वर्तमान रूप मे या किसी दूसरे रूप मे, एक शरीर-व्यवच्छेदक की दृष्टि से नहीं, परन्तु एक जीवित तथा श्वास लेने वाले प्राणी के सदृश देखना है, जिसमे भविष्य के विकास के बीज निहित हैं।"[1]

आगे चलकर उनका कहना है—"मेरा निश्चित मत है कि सघीय न्यायालय सविधान की व्याख्या, कोई औपचारिक या रूखी कानूनी भावना से प्रेरित होकर नहीं करेगा। मैं आशा करता हूँ, यह न्यायालय, कि उन राजनीतिक प्रभावो तथा प्रवाहो को जिनके द्वारा सविधान को जीवनशक्ति प्राप्त होनी है, कानून के दायरे मे स्वतत्रता पूर्वक कार्यान्वित होने देगा।"[2]

सर मारिस गायर के उपर्युक्त कथन, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के लिए भी सही है, विशेषकर जबकि भारतीय सविधान द्वारा अमरीकी सविधान के विपरीत

---

१. एम० गायर—एफ० सी० आर० भाग—१ पृ०८, १९३८।
२ वही पृ०८।

न्यायिक सर्वोच्चता (जिसको अमरीकी सविधान मे 'कानून की वैधिक प्रक्रिया' के सिद्धान्त पर माना गया है) की अपेक्षा व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता (जिसको भारतीय, सविधान मे 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के सिद्धान्त पर माना गया है) को मान्यता दी गई है। इस विषय पर विस्तृत रूप से अध्ययन, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरवलोकन के अधिकार के अन्तर्गत किया जायेगा।

सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न कार्य इसके विभिन्न क्षेत्राधिकार मे निहित हैं, जो अधोलिखित है।

१—प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार—अनुच्छेद १३१ के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय का निम्नलिखित मामलो पर प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार है।

क—सघ सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यो के मध्य विवाद, या

ख—सघ सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्य एक पक्ष मे एव दूसरे पक्ष मे एक या एक से अधिक राज्य, या

ग—सघ के दो या दो से अधिक राज्यो के मध्य विवाद। ऐसे विवाद मे किसी ऐसे कानून या तथ्य का प्रश्न निहित हो, जिस पर कोई कानूनी अधिकार आधारित है।

सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का भारत मे सघीय व्यवस्था की दृष्टि से विशेष महत्व है। सघीय राज्य का मूल सिद्धान्त शक्ति विभाजन का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार सघ सरकार तथा राज्यो की सरकारो के मध्य शक्तियो का बँटवारा करते हुए विशिष्ट क्षेत्रो का निर्धारण किया जाता है। शक्तियो के विभाजन के फलस्वरूप सघ तथा राज्यो के क्षेत्राधिकारो की पवित्रता को कायम रखने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। शक्ति के विभाजन के सबध मे उत्पन्न विवादो पर निर्णय देने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को सविधान मे, उल्लिखित शक्ति विभाजन के सारे प्रावधानो की सूक्ष्म व्याख्या करनी होती है। "इन सारे मामलो मे सर्वोच्च न्यायालय का कर्तव्य है कि सघ के दोनो पक्षो के लिए न्याय के तराजू के दोनो पलडों को समान रखे। श्री बख्शी टेकचन्द का सर्वोच्च न्यायालय की सघ एव राज्य व्यवस्थापिकाओ का 'सतुलन चक्र' कहना उचित ही है।'[१]

२—अपीलीय क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को राज्यो के विभिन्न उच्च न्यायालयो और न्यायाधिकरणो के निर्णयो के सम्बन्ध मे अपील सुनने का अधिकार है। सविधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय, दीवानी, फौजदारी एव

---

१ एम० पी० शर्मा-'द गवर्नमेन्ट ऑफ द इण्डियन रिपब्लिक' १९६० पृ० २१४।

सवैधानिक मामलो मे अपील सुनने के लिए देश का सर्वोच्च एव अन्तिम न्यायालय है। सर्वोच्च न्यायालय का अपीलीय क्षेत्राधिकार निम्नलिखित प्रकरणो के सबध मे है।

क—सवैधानिक प्रकरण—अनुच्छेद १३२ (१) के अनुसार भारत मे स्थापित उच्च न्यायालय के किसी दीवानी, फौजदारी या अन्य किसी कार्यवाही मे दिये गये निर्णय डिक्री या अन्तिम आदेश से, यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित करता है कि प्रकरण मे सविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है तो सर्वोच्च न्यायालय मे अपील की जा सकती है। उन प्रकरणो के सबध मे जिनके लिए उच्च न्यायालयो ने प्रमाणित करना अस्वीकृत कर दिया है और यदि सर्वोच्च न्यायालय सन्तुष्ट है कि प्रकरण ऐसा है, जिसमे सविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है तो अनुच्छेद १३२ (२) के अन्तर्गत विशेष अनुमति द्वारा उच्च न्यायालय के निर्णय, डिक्री या आदेश के सम्बन्ध मे अपील सुनने का अधिकार है। अत यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय को सवैधानिक मामलो पर निर्णय देने का अन्तिम अधिकार है। अनुच्छेद १४५ (३) के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय की सवैधानिक खण्डपीठ के कम से कम पाँच न्यायाधीश होने चाहिये।

ख—दीवानी प्रकरण—दीवानी प्रकरण के सबध मे, सविधान के अनुच्छेद १३३ के अन्तर्गत यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करता है कि प्रकरण अपील करने के लिए उपयुक्त है तो उच्च न्यायालय के निर्णय, डिक्री, या अन्तिम आदेश से सर्वोच्च न्यायालय को अपील की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित करता है कि प्रकरण म निहित मूल्य २० हजार से कम नही है या निर्णय से सबधित सम्पत्ति का मूल्य २० हजार से कम नही है, तो सर्वोच्च न्यायालय को अपील की जा सकती है।

ग—फौजदारी प्रकरण अनुच्छेद १३४ के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को, किसी उच्च न्यायालय के अन्तिम निर्णय अन्तिम आदेश या दण्ड से अपील की जा सकती है, यदि वह किसी निम्न न्यायालय के बरी करने के आदेश पर —

१—अपील होने पर, उस आदेश को रद्द करके अभियुक्त को मौत का दण्ड देता है, या

२—किसी अधीन न्यायालय से मुकदमा लेकर अभियुक्त को मौत का दण्ड देता है, या।

३—प्रमाणित करता है कि मुकदमा सर्वोच्च न्यायालय मे अपील करने के लिए उपयुक्त है।

ससद को, अनुच्छेद १३८ के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार मे विधि द्वारा किसी भी ऐसे विषय के सबध मे जो कि सघीय सूची मे

न्यायालय ने परामर्श देने से इन्कार नहीं किया और न ही किसी मामले में जब भी इस प्रकार का परामर्श राष्ट्रपति को दिया गया उसने उसका पालन न किया हो। विशेषकर विधि निर्माण के सन्दर्भ में सर्वोच्च न्यायालय अपने परामर्श सबंधी क्षेत्राधिकार के माध्यम से व्यवस्थापिका पर एक प्रकार का अवरोध है, क्योंकि जैसा सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद १४३ की व्याख्या करते हुए केरल शिक्षा अधिनियम १९५७ के सबध मे निर्णय दिया कि एक कानून सबधी प्रश्न जिसकी उत्पत्ति होने की सभावना है, एक ऐसा विधेयक सबधी प्रश्न भी हो सकता है, जो व्यवस्थापिका के समक्ष किसी विधेयक सबध में है। सक्षेप में यदि कोई विधेयक सार्वजनिक महत्व का है, जिसमे निहित कानूनी या तथ्य सबधी प्रश्न पर गभीर मतभेद पैदा हो गया है तो राष्ट्रपति उक्त विधेयक को सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति जानने के लिए प्रस्तुत कर सकता है। अत. यह आवश्यक है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दी गई राय का कार्यपालिका और व्यवस्थापिका पालन करें।

यहाँ पर कतिपय, ऐसे मामलो के उदाहरण लिये जा सकते है, जिनमे राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय की सलाह ली।

(क) १९५१ म राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय को प्रत्यायोजित विधान के सबध मे एक मामला प्रेषित किया। इस मामले मे सर्वोच्च न्यायालय की सलाह तीन अधिनियमो (देहली लाज एक्ट १९१२, द अजमेर-मारवाड एक्ट १९४७ तथा पार्ट सी० स्टेट्स लाज एक्ट १९५०) के कतिपय प्रावधानो की वैधता निर्धारित करने के लिए मागी गई थी। न्यायालय सर्वानुमति से कोई सलाह न दे सका। परन्तु विभिन्न न्यायाधीशो द्वारा दी गई प्रत्यायोजित विधान सबधी सलाह महत्वपूर्ण थी। बहुमत के अनुसार व्यवस्थापन की आवश्यक शक्तियो को प्रत्यायोजित नही किया जा सकता है और व्यवस्थापिका को व्यवस्थापन सबधी नीति का निर्धारण स्पष्ट करना चाहिये। यदि प्रत्यायोजन से व्यवस्थापिका अपनी मूल शक्तियो का हस्तान्तरण करती है तो न्यायालय को हस्तक्षेप करने का अधिकार है।[1]

(ख) २ सितम्बर १९५७ को, केरल विधान सभा ने एक विधेयक (केरल राज्य शिक्षा विधेयक) पारित कर केरल राज्य के शिक्षा व्यवस्था का पुनर्गठन करने का प्रयत्न किया। विधेयक के कतिपय प्रावधानो द्वारा राज्य सरकार को, निजी विद्यालयो को अपने नियत्रण मे लेने का अधिकार दिया गया। चूंकि, विधेयक मे सम्पति के अधिकार का भी प्रश्न निहित था, अत. इसको पारित करने के लिए राष्ट्रपति की सहमति आवश्यक थी। केरल विधान सभा मे, विधेयक की वैधता

---

१. द दिल्ली लाज एक्ट, १९१२, ए० आई० आर० १९५१, ए० सी० ३३२।

के प्रश्न पर कई मतभेद पैदा हो गये। फलस्वरूप राष्ट्रपति से माग की गई कि विधेयक पर अपनी स्वीकृति न दे, क्योकि इसके कुछ प्रावधान, यह कहा गया, असवैधानिक थे।

राष्ट्रपति ने यह मामला, सर्वोच्च न्यायालय के परामर्श के लिए भेजा। सर्वोच्च न्यायालय ने जो परामर्श दिया वह इस प्रकार है।

१—मूल अधिकारो के क्षेत्र को निर्धारित करने के लिए न्यायालय राज्य नीति-निर्देशक तत्वो से अनभिज्ञ रहकर निर्णय नही दे सकता है, परन्तु उसको दोनो (मूल अधिकारो तथा राज्य नीति निर्देशक तत्वो के बीच) मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

२—अनुच्छेद ३०(१) मे उल्लिखित सरक्षण धार्मिक तथा भाषा सबधी अल्प सख्यको की सारी शिक्षा सस्थाओ के लिए हैं। इसके अतिरिक्त, यह सरक्षण अनुदान प्राप्त सस्थाओ के लिए भी है।

३—अनुच्छेद ३०(१) के अन्तर्गत प्रदत्त मूल अधिकार क्षेत्र का निर्धारण, शिक्षा सस्था के दृष्टिकोण से ही किया जा सकता है। सविधान ऐसी शिक्षा सस्था मे पढाये जाने वाले विषयो के सबध मे कोई सीमा नही लगाता है।

४—वास्तव मे अनुच्छेद ३० (१) का उद्देश्य अल्प सख्यको को, बहुसख्यको से उनके सरक्षण के लिए एक ढाल प्रदान करना है न कि एक तलवार, जिसके बल से वे बहुसख्यको से कुछ प्राप्त कर सके।

(ग) १६५८ मे भारत तथा पाकिस्तान के प्रधान मन्त्रियो ने एक समझौता किया, जिसके फलस्वरूप भारत ने पाकिस्तान को अपनी भूमि का कुछ हिस्सा दिया। ससद मे तथा बाहर इस समझौते की तीव्र आलोचना हुई। राष्ट्रपति ने इस मामले को सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति जानने के लिए भेजा। सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति-अनुसार, भारतीय भू-भाग को, किसी विदेशी राज्य को हस्तान्तरण के लिए सविधान मे सशोधन करना आवश्यक है।

(घ) एक अन्य मामला जो राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के परामर्श के लिए भेजा गया उत्तरप्रदेश की विधान सभा एव न्यायपालिका के मध्य हुए सघर्ष से सबधित है। समाजवादी दल के एक कार्यकर्ता श्री केशवदेवसिंह को विधान सभा के अध्यक्ष द्वारा, विधान सभा म उपस्थित होने को कहा गया, परन्तु श्री केशवसिंह ने ऐसा नही किया। अतएव अध्यक्ष द्वारा श्री केशवसिंह को हिरासत मे लेकर विधान सभा मे पेश करने का आदेश दिया गया। तत्पश्चात् विधान सभा ने श्री केशवसिंह को सात दिन के साधारण कारावास का दण्ड दिया। परन्तु उच्च न्यायालय के लखनऊ खण्ड ने श्री केशवसिंह को जमानत पर रिहा करने का आदेश

दिया। उत्तरप्रदेश विधान सभा ने उच्च न्यायालय के इस आदेश को अपने विशेषाधिकारों का उल्लंघन माना। तत्पश्चात् विधान सभा ने आदेश दिया कि जिन न्यायाधीशों ने श्री केशवसिंह को रिहा करने का आदेश दिया था उनको हिरासत में लेकर सदन के समक्ष प्रस्तुत किया जाये। परन्तु न्यायाधीशों के विरुद्ध कोई विशिष्ट आरोप नहीं लगाये गये थे। उच्च न्यायालय ने २८ न्यायाधीशों की एक खण्ड के निर्णय से विधान सभा के उपर्युक्त आदेश को कार्यान्वित होने से रोक दिया। विधान सभा ने न्याय मूर्ति बेग तथा सहगल के हिरासत में लेने सबंधी अध्यक्ष के आदेश को वापिस ले लिया, किन्तु इसके साथ ही एक प्रस्ताव पारित किया कि उपर्युक्त न्यायाधीशों को उनके बचाव के लिए निर्णय के पहले नियमानुसार अवसर दिया जाये। इसके फलस्वरूप इलाहाबाद उच्च न्यायालय के २१ न्यायाधीशों की खण्डपीठ ने आदेश जारी किया कि विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव के क्रियान्वयन को रोक दिया जाये।

उत्तर प्रदेश विधान सभा तथा न्यायपालिका के मध्य संघर्ष के तीन महत्वपूर्ण मुद्दे थे।

१—न्यायपालिका तथा विधानसभा के अधिकार और शक्तियों का संघर्ष।

२—विधानसभा के अधिकार तथा शक्तियाँ।

३—यदि अन्य किसी राज्य में इसी प्रकार का संघर्ष पैदा होता है तो उसको दूर करने के क्या उपाय हैं?

तत्पश्चात् श्री जयसुखलाल हाथी (राज्यमंत्री, गृह-मन्त्रालय, भारत सरकार) ने लोकसभा में घोषित किया कि राष्ट्रपति ने उपर्युक्त मामले को, सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति प्राप्त करने के लिए भेज दिया है।

सितम्बर ३०, १९६४ को मुख्य न्यायाधीश श्री गजेन्द्रगडकर ने सर्वोच्च न्यायालय की बहुमत द्वारा दी गई राय को निम्नलिखित रूप से घोषित किया।

१—उत्तरप्रदेश उच्च न्यायालय के लखनऊ खण्डपीठ को श्री केशवसिंह की याचिका, जिसमें उन्होंने विधान सभा द्वारा उनको दिये गये दण्ड को चुनौती दी, सुनने का पूर्ण अधिकार था।

२—श्री सोलोमन को, श्री केशवसिंह की तरफ से उच्च न्यायालय को याचिका देने का अधिकार था और श्री केशवसिंह को, विधान सभा के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय को अपील करने का अधिकार था।

३—उत्तरप्रदेश विधान सभा का दो न्यायाधीशों तथा श्री सोलोमन को अपने समक्ष पेश करवाने का अधिकार, विधान सभा के क्षेत्र में नहीं था। विधान सभा को उनसे स्पष्टीकरण प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं था।

४—इलाहाबाद उच्च न्यायालय के खण्डपीठ को दोनो न्यायाधीशो की याचिका सुनने का तथा विधान सभा अध्यक्ष द्वारा उनके विरुद्ध जारी किये हुए वारंट को स्थगित करने का पूर्ण अधिकार था।

मुख्य न्यायाधीश ने इस विषय पर अधिक बल दिया कि यदि विधान सभा के किसी न्यायाधीश के विरुद्ध वारंट जारी करने के दावे को, मान्यता दी जाती है तो इसके परिणाम स्वरूप न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के मूल-सिद्धान्त को गहरा धक्का लगेगा। अनुच्छेद ३२ के व उच्च न्यायालयो की अनुच्छेद २२६ के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियो के संबध मे कोई अपवाद नही हैं। यह तर्क प्रस्तुत करना कि नागरिक अपने मूल-अधिकारो की रक्षा करने के लिए न्यायालय की शरण नही ले सकता, व्यर्थ ही होगा। अतएव, उत्तर प्रदेश की विधान सभा तथा न्यायपालिका के संघर्ष के संबध मे सर्वोच्च न्यायालय ने निश्चय ही एक मूल सिद्धान्त की महत्ता पर अपने परामर्श द्वारा बल दिया है कि न्यायपालिका सरकार के अन्य अगो (व्यवस्थापिका सभा तथा कार्यपालिका) से स्वतन्त्र रह कर ही अपने कार्य उचित रूप से कर सकेगी।

मूल अधिकारो के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ

भारतीय सविधान के अध्याय तीन मे भारत के नागरिको के सात मूल-अधिकारो का उल्लेख है। अनुच्छेद ३२ के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को मूल-अधिकारो की रक्षा करने के लिए आदेश या रिट जारी करने की शक्ति प्रदत्त है। यह रिट निम्नलिखित प्रकार की है :—

१—परमादेश (मेन्डेमस), २—बन्दी प्रत्यक्षीकरण (हेबियास कारपस),

३—प्रतिषेध (प्राहिबिशन), ४—उत्प्रेषण (सरटियोरेरी) और ५—अधिकार पृच्छा (क्वो वारण्टो) वास्तव मे अनुच्छेद ३२ द्वारा नागरिको के मूल अधिकारो का अतिक्रमण होने की स्थिति मे नागरिको के लिए उपचार की व्यवस्था की गई है। यदि किसी नागरिक के मूल अधिकार का हनन होता है तो वह सर्वोच्च न्यायालय की सहायता ले सकता है।

सविधान के अनुच्छेद १३ के अनुसार कोई भी कानून यदि मूल अधिकारो का हनन करता है तो उसको अवैध माना जायेगा। अतः यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद १३ तथा अनुच्छेद ३२ के अनुसार नागरिको के मूल अधिकारो के सरक्षण की दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय की विशेष भूमिका ऐसी स्थिति मे अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है, जब कि व्यवस्थापिका ने कोई ऐसा कानून या कार्यपालिका ने ऐसा आदेश पारित किया है जो मूल अधिकारो का अतिक्रमण करता है। ऐसे कानून या आदेश को अवैध घोषित करने की अन्तिम जिम्मेदारी सर्वोच्च न्यायालय की ही है। "रमेश थापर

बनाम मद्रास राज्य' मे सर्वोच्च न्यायालय का यह मत था कि अनुच्छेद ३२ द्वारा नागरिको के मूल अधिकारो की रक्षा करने के लिए एक आश्वासित उपचार दिया गया है, और इस उपचार के अधिकार को स्वय सविधान मे एक मूल अधिकार माना गया है। इस तरह यह न्यायालय मूल अधिकारो का सरक्षण तथा आश्वासन है।[1]

व्यावहारिक दृष्टि से यदि सर्वोच्च न्यायालय का उपर्युक्त भूमिका का परीक्षण किया जाये, तो यह ज्ञात होगा कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी शक्तियो का सदुपयोग, नागरिको के मूल अधिकारो के सरक्षण के लिए किया है। 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' मुकदमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने इस उद्देश्य से निवारक निरोध अधिनियम के खण्ड १४ को अवैध माना। 'बम्बई बनाम बम्बई शिक्षा समाज' मुकदम मे अल्प सख्यको के सास्कृतिक तथा शैक्षणिक अधिकारो की सुरक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया। ऐसे अनेक मामलो मे सर्वोच्च न्यायालय ने नागरिको के मूल अधिकारो की रक्षा की है। मूल अधिकारों की सवैधानिक पवित्रता के सबध मे सर्वोच्च न्यायालय ने १९६७ मे सबसे महत्वपूर्ण निर्णय गोलकनाथ प्रकरण मे दिया। इस निर्णयानुसार सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्धारित *किया कि मूल अधिकारो का सशोधन नही किया जा सकता।* परन्तु यह ध्यान मे रखना उचित होगा कि गोलकनाथ प्रकरण मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिया गया, निर्णय उसके पूर्व मे दो प्रकरणों मे दिये गये निर्णय से बिल्कुल विपरीत है। जिसमे सर्वोच्च न्यायालय ने यह माना था कि मूल अधिकारो मे सशोधन किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरवलोकन की शक्ति

वस्तुत न्यायिक पुनरवलोकन का अधिकार ही सर्वोच्च न्यायालय को भारतीय सविधान के अन्तर्गत एक सन्तुलन चक्र की भूमिका प्रदान करता है। भारतीय सविधान के सदर्भ मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा आवश्यक सन्तुलन तीन प्रकार के मामलो मे स्थापित किया जा सकता है :—

१—मूल अधिकारो तथा राजसत्ता के सबधो म।

२—सघ तथा राज्यो के सबधो मे।

३—सरकार के तीन अगो के एक दूसरे के सबधो मे।

अतः हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि न्यायिक पुनरवलोकन के सिद्धान्त का क्या अर्थ है ? श्री डी डी. बसु के अनुसार—"पुनरवलोकन का डिक्शनरी अर्थ—किसी

---

१. रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य—ए. आई. आर. १९५० एस. सी. १३४।

कार्य का पुन अवलोकन करना है, जिससे गलती दूर की जा सके। इस शब्द का प्राथमिक कानूनी अर्थ एक उच्च न्यायालय द्वारा अन्य न्यायालयो की दण्ड की आज्ञा या डिक्री का पुन अवलोकन करना है।"[1] आगे उनका ही कथन है—"न्यायिक पुनरवलोकन को अमरीका के कानून मे एक और तक्नीकी महत्व है, जो इंग्लैण्ड मे नही पाया जाता है। यह दो कानूनो *साधारण एवं मूल कानूनो* के सिद्धान्त से उत्पन्न होता है। जैसे ही यह मान लिया जाता है कि एक मूल कानून है जो राजनीतिक प्रणाली मे सारी व्यवस्थापन सत्ता का आधार तथा स्रोत है, फलस्वरूप *यदि किसी भी साधारण विधि निर्माण सस्था का कार्य मूल* कानून के प्रावधानो के विरुद्ध है, तो वह अवैध होगा। और इस तरह के व्यवस्थापन कार्य को अवैध घोषित करने के लिए किसी अग को अधिकार होना चाहिए। अमरीकी न्यायपालिका ने सामान्य सहमति से यह कठिन कार्य धारण कर लिया है। यह न्यायिक पुनरवलोकन का प्राथमिक अर्थ है और मुख्य न्यायाधीश मार्शल जो न्यायिक पुनरवलोकन के प्रवर्तक माने जाते हैं, ने इसी अर्थ को ग्रहण किया।"[2]

'सार्वजनिक कानून मे न्यायिक पुनरवलोकन केवल व्यवस्थापिका के कार्यों के पुनरवलोकन तक ही सीमित नही है। जब सविधान को एक बार देश का सर्वोच्च कानून मान लिया है और सरकार के सारे अगो की शक्तियो को इसके प्रावधानो द्वारा सीमित समझ लिया गया है, परिणाम स्वरूप न केवल व्यवस्थापिका सभा के किन्तु कार्यपालिका के वे सारे प्रशासकीय कार्य अवैध होगे जो सविधान के प्रावधानो का उल्लघन करते हैं और न्यायालयो द्वारा उनको अवैध मानना होगा"।[3]

सक्षेप मे जैसा श्री ई एस कारवीन का कहना है, "न्यायिक पुनरवलोकन न्यायालयो की शक्ति है जो उनके साधारण क्षेत्राधिकार मे पाई जाती है जिससे वे व्यवस्थापिका के कार्यों की सवैधानिकता पर उनको लागू करने, या ऐसे (कानूनो) को जिनको वे अवैध पाते हैं, लागू करने से इन्कार करने का निर्णय लेते है।"[4]

जब एक लिखित सविधान द्वारा सघीय व्यवस्था तथा नागरिको के मूल अधिकारो के लिए प्रावधान किया जाता है तो वास्तव मे सविधान मे उन शर्तो

---

१ डी० डी० बसु पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १५६।

२ वही पृ० १५६।

३ ई० एस० कारवीन–'ऐसे आन जुडिसियल' रिव्यु (इन व एनसायकलोपिडिया आफ सोशल साइन्सेस, भाग—८ पृ० ४५७)।

४. वही पृ० ४५७।

को स्थापित किया जाता है जिनके लिए एक सर्वोच्च न्यायालय आवश्यक है। संघवाद तथा नागरिकों के मूल अधिकार किसी भी लिखित संविधान के स्वरूप को देश के सर्वोच्च कानून के रूप में निर्धारित करने के लिए पर्याप्त हैं। यदि स्वयं संविधान में विशिष्टरूप से यह लिखा भी नहीं गया है कि संविधान देश का सर्वोच्च कानून है, परन्तु संविधान में संघवाद व मूल अधिकारों को रखा गया है। और यदि संविधान के संशोधन करने का एकाधिकार केवल संसद में निहित न होकर, संसद तथा राज्य विधान सभाओं दोनों को समान रूप से प्राप्त है तो यह कहना सत्य होगा कि संविधान देश का सर्वोच्च कानून है। संविधान की सर्वोच्चता कायम रखने के लिए एक स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता है, जो किसी कानून या कार्य या आदेश के संविधान के विरुद्ध होने की स्थिति में उक्त कानून या कार्य या आदेश को अवैध घोषित कर सके। अतएव संविधान की सर्वोच्चता के कारण ही सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक-पुनरवलोकन-अधिकार स्वतः प्राप्त होता है। "यह अधिकार सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से हमारे संविधान का आधार भूत सिद्धान्त है। यह सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गोपालन के प्रकरण में स्वीकृत किया गया है, जिसमें यह कहा गया था कि अनुच्छेद १३ को केवल अत्यधिक सावधानी के लिए ही रखा गया और बिना इस प्रकार के किसी प्रावधान के भी स्थिति वैसी रहती।"[१]

भारत के संविधान में अमरीकी संविधान के विपरीत संविधान की सर्वोच्चता के लिए कोई विशिष्ट प्रावधान नहीं है, किन्तु चूंकि संघवाद तथा मूल अधिकारों के सिद्धान्तों को भारतीय संविधान में स्वीकृत किया गया है, और संविधान में संशोधन करने का संसद को एकाधिकार प्राप्त नहीं है, यह अधिकार संसद तथा राज्य विधान सभाओं दोनों में निहित हैं, इससे संविधान स्वतः ही देश का सर्वोच्च कानून हो जाता है। क्योंकि जिस संविधान में संघ तथा राज्यों के मध्य शक्तियों के विभाजन द्वारा सरकारों को सीमित शक्तियां प्रदत्त की जाती है, और पृथक क्षेत्राधिकार स्थापित किये जाते हैं, वहाँ संविधान की सर्वोच्चता भी स्वतः निर्धारित हो जाती है अन्यथा संघवाद का कोई मूल्य ही नहीं रहेगा। संघवाद के परिणाम स्वरूप सीमित सरकारों की स्थापना होती है, जो अपने-क्षेत्राधिकार के बाहर कार्य नहीं कर सकती हैं।

इसके अतिरिक्त संविधान में मान्यता प्राप्त किये मूल अधिकार भी सरकार पर एक प्रतिबन्ध के रूप में हैं, जिनके विरुद्ध निर्मित कानून को न्यायपालिका अवैध घोषित कर सकती है। अमरीका में इसी मुद्दे का स्पष्टीकरण करते हुए, 'मारबरी बनाम मेडीसन' प्रकरण में निर्णय देते हुए न्यायिक पुनरवलोकन के

---

१. डी० डी० बसु०—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२७।

सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इस प्रकरण में मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने मारबरी की, परमादेश जारी करने के लिए दी गई याचिका को अस्वीकृत कर दिया। उनका तर्क था कि मारबरी की परमादेश सबंधी याचिका, जो १७८६ के न्यायपालिका अधिनियम पर आधारित थी, अमान्य थी क्योंकि १७८६ का न्यायपालिका अधिनियम स्वयं अवैध था। मार्शल का कथन था–"व्यवस्थापिका की शक्तियाँ परिमापित एवं सीमित हैं और चूंकि इन सीमाओं के संबध में कोई गलती न हो या उनको भुला न दिया जाय अतः संविधान लिखित रखा गया है। यदि सीमाओं का उल्लंघन उन लोगों द्वारा होता है, जिनको रोकने के लिए इन सीमाओं को रखा गया है तो उन सीमाओं को लिखित रूप देने का क्या उद्देश्य है? संविधान या तो एक उच्च मूल कानून है, जिसको साधारण प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता है या यह साधारण कानूनों के स्तर का है और अन्य कानूनों के समान परिवर्तनशील है, जब भी व्यवस्थापिका ऐसा परिवर्तन करना चाहती है। यदि पहला विकल्प सत्य है तो एक कानून जो संविधान के विरुद्ध है, कानून नहीं है। परन्तु यदि दूसरा विकल्प सत्य है तो लिखित संविधान उन लोगों के मूर्खतापूर्ण प्रयत्न हैं जिनके द्वारा किसी शक्ति को जो स्वरूप में असीमित है सीमित किया जाता है।"[1]

न्यायिक पुनरवलोकन के अधिकार का औचित्य बतलाते हुए, मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने तर्क प्रस्तुत किया था कि जहाँ कहीं भी लिखित संविधान है, और ऐसे संविधान द्वारा सीमित शक्तियों की सरकारें तथा व्यवस्थापिकाएं स्थापित की गई है, जैसी एक संघ राज्य में होती हैं, और यदि संविधान में उपयोग में लाई भाषा ऐसी है, जिसके अनुसार निर्धारित सीमाओं को लागू करना अति-आवश्यक है, तो समझना चाहिये कि न्यायालयों को यह आदेश प्राप्त है कि इन निर्धारित सीमाओं को लागू करें और न्यायाधीश संविधान की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए अपनी प्रतिज्ञानुसार बंधित हैं, जो देश के 'कानून की सर्वोच्चता' का प्रथम तत्व है।[2]

अमरीकी संविधान में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरवलोकन के अधिकार का विशिष्ट रूप से कहीं उल्लेख नहीं है, परन्तु मुख्य न्यायाधीश मार्शल द्वारा दिये गये 'मारबरी बनाम मेडीसन' प्रकरण में निर्णय के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरवलोकन का अधिकार प्राप्त हुआ है। इस शक्ति के अनुसार

---

१ जे० मार्शल का उद्धरण—जे ब्राइस द्वारा, द अमरीकन कामनवेल्थ १८६८ पृ० २४५।

२. एस० सी० डेश, 'दी इण्डियन कान्स्टीट्युशन' १९६०, पृ० ३३९।

सर्वोच्च न्यायालय को व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून, या अन्य अधिकारी द्वारा दिये आदेश या डिक्री का, जिनको अमरीकी संविधान के विरुद्ध बतलाया गया है, पुनरवलोकन करने का अधिकार है।

"एक विद्वान् अंग्रेज की एक कहानी है, जिसने यह सुनकर कि सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना, संविधान के संरक्षण और बुरे कानून को अवैध घोषित करने हेतु की गई थी, दो दिन संघीय संविधान के निरीक्षण में उन प्रावधानों को जिनको उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखने को कहा था, ढूंढने में बिता दिये। कोई आश्चर्य नहीं कि वह उन्हें खोज नहीं सका, क्योंकि संविधान में इस विषय पर एक शब्द भी नहीं है।"[1] परन्तु अमरीका में न्यायिक पुनरवलोकन के अधिकार के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय को अमरीकी राजनीतिक प्रणाली में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त हुई है। डा० जेम्स ब्राइस ने अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के महत्व को निम्नलिखित शब्दों में समझाया है, जो कुछ मात्रा में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के लिए भी उपयुक्त है—"सर्वोच्च न्यायालय संविधान की जीवित वाणी है—अर्थात् जनता की इच्छा की, जिसकी अभिव्यक्ति उनके द्वारा निर्मित मूल कानून (संविधान) में हुई है। यह, जैसा किसी ने कहा है, जनता का अन्त करण है, जिन्होंने स्वयं को जल्दबाजी या अन्यायपूर्वक कार्यों से रोकने के लिए अपने प्रतिनिधियों को एक उच्च कानून की सीमाओं में रखा है। यह अल्पमतों के लिए एक आश्वासन है, जबकि उनको बहुमत के अधीरपन की तीव्रता से डर है, वे इस उच्च कानून को, उसकी व्याख्या लागू करने वाले न्यायालय की, विवादों के प्रभाव से ऊपर है—उपस्थिति में, अपील कर सकते हैं।"[2]

भारत में सर्वोच्च न्यायालय पुनरवलोकन के अधिकार का आधार अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में, संविधान में अधिक दृढ़ रूप से है, विशेषकर संविधान के दो प्रावधानों में यह आधार निहित है।

सर्वप्रथम, मूल अधिकारों की दृष्टि से अनुच्छेद १३ के अनुसार यदि किसी कानून द्वारा किसी मूल अधिकार का उल्लंघन होता है तो उस कानून को अवैध घोषित किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद ३२ के अन्तर्गत अपने मूल अधिकारों का उल्लंघन होने पर कोई भी नागरिक संवैधानिक उपचार प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। अतएव सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून या आदेश का पुनरवलोकन, संविधान की व्याख्या करते हुए मूल अधिकारों के संरक्षण के लिए कर सकता है।

---

२. जे० ब्राइस—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२१—५२।
३. वही पृ० २७२—६३।

द्वितीय, अनुच्छेद २५४ के अनुसार भारतीय सघीय व्यवस्था मे शक्ति विभाजन प्रणाली के अन्तर्गत सघ तथा राज्यो के क्षेत्राधिकार के निर्धारण के सन्दर्भ में सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून को, जो किसी राज्य द्वारा अपने क्षेत्राधिकार के बाहर निर्मित किया गया है, अवैध घोषित कर सकता है। अनुच्छेद २५४ मे यह प्रावधान किया गया है कि समवर्ती सूची मे उल्लिखित किसी विषय पर यदि किसी राज्य विधान सभा द्वारा निर्मित कानून सघ ससद द्वारा किसी कानून से सघर्ष मे है, ऐसी स्थिति मे राज्य कानून को अवैध माना जायेगा। अतएव, यह स्पष्ट है कि भारत में सर्वोच्च न्यायालय को सविधान के अन्तर्गत किसी भी विधि या नियम या आदेश का पुनरवलोकन करने का अधिकार है, जिससे यह निर्धारित किया जा सके कि वह विधि या नियम या आदेश सविधान के अनुसार है या नही है। इसी मुद्दे पर बल देते हुए मुख्य न्यायाधीश पातजलि शास्त्री ने 'मद्रास राज्य बनाम रोव' नामक प्रकरण मे कहा—'हम सोचते हैं कि यह उचित है कि यहां यह बतलाया जाये, जिस पर कभी ध्यान नही दिया जाता है, कि हमारे सविधान मे विधि के सविधान के अनुकूल होने के प्रश्न के लिए, न्यायिक पुनरवलोकन के लिए अमरीका के विपरीत जहां पर सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्थापिका के कार्यो के पुनरवलोकन करने के लिए विस्तृत शक्तियां प्राप्त कर ली है, विशिष्ट प्रावधान हैं।"[1] सक्षेप मे, न्यायिक पुनरवलोकन का अधिकार साधारणतया, प्रत्येक राज्य मे सर्वोच्च न्यायालय को लिखित सविधान की सर्वोच्चता के सरक्षण के लिए प्राप्त होता है। श्री बसु का कहना सत्य है कि "जैसे मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने अमरीकी सविधान के लिए कहा है, हमारे सविधान द्वारा भी इस सिद्धान्त को जो कि सारे लिखित सविधानो के लिए आवश्यक है, स्थापित तथा दृढ किया जाता है कि कोई भी कानून जो सविधान के विरुद्ध है, अवैध है।"[2]

अतएव, भारत के सविधान की सर्वोच्चता के तीन कारण हैं, जो निम्नलिखित हैं

१—सविधान मे, सघवाद के सिद्धान्त को, अनुच्छेद २४६-२६३ के अन्तर्गत मान्यता प्रदत्त कर सघ तथा राज्यो के लिए पृथक क्षेत्राधिकार निर्धारित करना।

२—सविधान के अध्याय तीन मे नागरिको के मूल अधिकारो को मान्यता देना और अनुच्छेद १३ के आधार पर इस बात पर बल देना कि यदि कोई कानून मूल अधिकारों मे कमी करता है या मूल अधिकार समाप्त करता है, तो वह अवैध होगा।

---

१ पी० शास्त्री—मद्रास राज्य बनाम रोव, १९५२, एस० सी० आर० ५९।
२ डी० डी० बसु—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १५६।

३—संविधान द्वारा संसद को संविधान-संशोधन का एक अधिकार न देते हुए, संसद् तथा राज्य विधान सभाओ को यह अधिकार देना (उन विषयो पर जो, दोनो संघ तथा राज्यो के लिए महत्वपूर्ण हैं)।

इन कारणो द्वारा प्राप्त भारतीय संविधान की सर्वोच्चता को स्थिर रखने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरवलोकन का अधिकार स्वत. प्राप्त हुआ है।

भारत तथा अमरीकी सर्वोच्च न्यायालयो के न्यायिक पुनरवलोकन के अधिकारो का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरवलोकन का अधिकार इतना विस्तृत नही है, जितना अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय का न्यायिक पुनरवलोकर का अधिकार है।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरवलोकन के अधिकार पर संविधान द्वारा स्थापित सीमा के दो पहलू हैं। सर्वप्रथम, सरकार के तीन अगो, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के संबधो तथा संघ तथा राज्यो के संबधो की दृष्टि से, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरवलोकन की शक्ति का क्षेत्र, संविधान मे इन विषयो पर विस्तृत प्रावधान तथा स्पष्टीकरण होने से सीमित है। भारत के संविधान मे न सिर्फ सरकार के तीन अगो के संगठन कार्यो तथा शक्तियो का विस्तृत उल्लेख है, किन्तु संघ तथा राज्यो के मध्य तीन सूचियो द्वारा विस्तृत रूप से क्षेत्राधिकार का उल्लेख किया गया है। अमरीका के संविधान मे इस तरह क्षेत्राधिकार का विस्तृत उल्लेख नही है, केवल १८ विषयो पर संघ सरकार को अधिकार प्राप्त है, जबकि शेष अधिकार राज्यो को प्रदत्त हैं। इस कारण अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की व्याख्या करते हुए निहित शक्तियो के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके संघ सरकार को ऐसी शक्तियो पर अधिकार प्रदत्त किया है जो इन १८ शक्तियो मे तो निहित हैं परन्तु संविधान मे उनका स्पष्ट उल्लेख नही है। संविधान की विस्तृत रूप से व्याख्या करने का अधिकार अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय का एक महत्वपूर्ण अधिकार है। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय अपने 'बौद्धिक मापदण्ड' से संविधान की विस्तृत व्याख्या कर सकता है। भारतीय न्यायपालिका को संविधान की व्याख्या करने के लिए अपनी नीति को उपयोग में लाने का ऐसा कोई अधिकार नही है। चूंकि दोनो (संघीय तथा राज्य) व्यवस्थापिका सभाओ के क्षेत्राधिकारो का स्पष्ट एव विस्तृत रूप से, साथ ही एक विस्तृत क्षेत्र पर समवर्ती अधिकारो का उल्लेख किया गया है, और अवशिष्ट शक्तियाँ संघ संसद मे निहित की गई हैं, अत. सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकारो को पृथक करने वाली रेखा मे परिवर्तन करने का कोई अधिक अधिकार नही है। "भारत मे, एक निहित शक्तियो के सिद्धान्त के प्रतिपादन करने का अधिकार अत्यन्त सीमित है, क्योकि एक विषय की विस्तृत व्याख्या करने से किसी विषय से अन्य

स्थान पर संघर्ष हो सकता है। अतएव न्यायपालिका की बौद्धिक कसरत को संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं में ही दिखाना चाहिये। भारत में विधि का न्यायिक पुनरवलोकन अनुच्छेद २४६, जिसके अनुसार अपने क्षेत्र में प्रत्येक व्यवस्थापिका सभा सार्वभौम है, के अन्तर्गत ही किया जा सकता है।"[१]

अमरीका में संविधान का सामान्यता के अतिरिक्त, वैधिक प्रक्रिया (ड्यु प्रोसेस आफ ला) के उपबन्ध को अपनाने के कारण, सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की विस्तृत व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त है। अमरीकी संविधान में सारे विषयों पर भारत के संविधान के विपरीत, विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, जिसके फलस्वरूप अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय को, अपने 'बौद्धिक मापदण्ड' का उपयोग करते हुए संविधान की व्याख्या एवं स्पष्टीकरण करने का अधिकार प्राप्त हुआ है। अतएव अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने अमरीकी समाज की बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार, संविधान की व्याख्या 'वैधिक प्रक्रिया' (ड्यु प्रोसेस आफ ला) के आधार पर की है। परन्तु भारत का संविधान एक विस्तार पूर्वक लिखा संविधान है, जिसकी व्याख्या करते समय सर्वोच्च न्यायालय अपने बौद्धिक मापदण्ड का उपयोग अत्यन्त ही सीमित रूप से कर सकता है। "हमने न्यायिक पुनरवलोकन की स्थापना की है, तथा उसको मान्यता देते रहेंगे क्योंकि एक साधन के रूप में इसके द्वारा उस मूल उद्देश्य की प्राप्ति हो सके, जिसका समर्थन मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने किया था, अर्थात् सत्ता पर मूल कानून (संविधान) द्वारा सीमाओं को लागू करना, परन्तु इस सीमा से बाहर जाकर हम, एक न्यायिक महामानव को राजनीतिक के स्थान पर स्थापित करने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि जैसा न्यायमूर्ति जेकसन ने कहा है कि, न्यायिक अपहरण अन्य अपहरण की तरह देश के लिए एक स्थाई अच्छाई सिद्ध नहीं हो सकता है।[२]

भारतीय संविधान एक विस्तार पूर्वक लिखित संविधान है। संविधान स्वयं जनता की जीवित वाणी है, जिसकी अभिव्यक्ति करना सरकार के तीनो अंगों की विशेष जिम्मेदारी है। "अतएव अमरीका के विपरीत सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की जीवित वाणी माना गया है, भारत में स्वयं संविधान, किसी भी समय पर, अपनी अभिव्यक्ति करने में समर्थ है। निःसंदेह न्यायाधीशों को संविधान की वर्तमान स्थिति अनुसार व्याख्या करना है, परन्तु यदि न्यायाधीश गलती करते हैं या जनता के हितों के विरुद्ध निर्णय देते हैं, तो यह जनता के प्रतिनिधियों

१. एस० सी० देश—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३४५।
२. डी० डी० बसु—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४५।

है, अर्थात् (क) सबंधित कानून व्यवस्थापिका के क्षेत्र में है या नहीं है, और (ख) वैधिक प्रक्रिया की सारी आवश्यकताओं को पूरा करता है या नहीं। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून उसके क्षेत्राधिकार में हो सकता है, परन्तु यदि वह 'वैधिक प्रक्रिया' के विरुद्ध है अर्थात् मान्यता प्राप्त प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त के विरुद्ध है तो अमरीकी न्यायालय उसे अवैध घोषित करता है। भारतीय संविधान में 'वैधिक प्रक्रिया' उपबन्ध की बजाय 'विधि सम्पन्न प्रक्रिया' का है। यह मूल अन्तर है और इसके द्वारा भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को 'प्राकृतिक कानून' अर्थात्-किसी विधि में अन्तर्निहित अच्छाइयों-बुराइयों के अनुसार उसकी वैधानिकता निर्धारित करने की कसौटी को लागू करने से रोकता है।"[1] यदि भारतीय संसद या किसी राज्य विधान सभा द्वारा विधि का निर्माण अपने क्षेत्र में किया गया है तो सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी विधि को मान्यता देना होगा, क्योंकि भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को किसी विधि का पुनरवलोकन इसलिए नहीं करना है कि उक्त विधि के औचित्य को उसकी अन्तर्निहित अच्छाई या बुराई के आधार पर निर्धारित कर सके, बल्कि इसलिए करना है कि यह निर्धारित किया जा सके कि उक्त विधि संविधान के अनुकूल है या नहीं,। संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि अमरीकी न्यायालय के विपरीत भारतीय सर्वोच्च न्यायालय 'प्राकृतिक कानून' अर्थात् 'वैधिक प्रक्रिया' की कसौटी का उपयोग न कर केवल संविधान को ही किसी विधि की वैधता निर्धारित करने के लिए कसौटी मानकर अपने निर्णय देगा।

अमरीका में, जैसा देखा जा चुका है, 'वैधिक प्रक्रिया' के सिद्धान्त के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय अपने 'बौद्धिक मापदण्ड' का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करता है। यद्यपि वहाँ 'वैधिक प्रक्रिया' को परिभाषित नहीं किया गया है, इसके विभिन्न संबंधित अर्थ स्पष्ट हैं।

सामान्यतः 'वैधिक प्रक्रिया' का तात्पर्य वैधानिकता, तर्कपूर्णता, तथा निष्पक्षता से है अर्थात् जो निरंकुश, अतार्किक तथा पक्षपातपूर्ण नहीं है। प्रत्येक मामले में अमरीका में न्यायाधीश ही अन्तिम रूप से निर्धारित करते हैं कि क्या कोई विधि, नियम, या आदेश, निरंकुश, अतार्किक या पक्षपातपूर्ण तो नहीं है। इसके फलस्वरूप अमरीका में 'न्यायपालिका, की सर्वोच्चता के सिद्धान्त' की उत्पत्ति होती है और संविधान का अर्थ न्यायाधीशों की व्याख्या पर निर्भर हो जाता है। भारत में न्यायपालिका के सर्वोच्चता के सिद्धान्त की अपेक्षा संविधान की सर्वोच्चता पर बल दिया गया है। अतएव भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के समान अपने बौद्धिक मापदण्ड को अधिक उपयोग में लाने की संभावना नहीं है।

---

१. एम० पी० शर्मा—'पूर्वोक्त पुस्तक' पृ० २२१।

सक्षेप मे, भारत के सविधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय के सीमित न्यायिक पुनरवलोकन के अधिकार के कारण निम्नलिखित हैं

१—सविधान का विस्तारपूर्वक लिखा होना, विशेषकर सघ तथा राज्य के मध्य शक्ति विभाजन का तीन सूचियो द्वारा अत्यन्त विस्तृत रूप से उल्लिखित होना।

२—सविधान के संशोधन प्रणाली के अनुसार ससद तथा राज्य विधान सभाओं मे सविधान के स्वरूप को अन्तिम रूप से निर्धारित करने की शक्ति होना। यहाँ ध्यान मे रखना उचित है कि अमरीका के विपरीत, भारतीय सशोधन प्रणाली सरल है। अतएव भारत मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय सविधान के सबध में, विशेषकर, संविधान का सशोधन कर पलटे जा सकते हैं। अमरीका मे सविधान के सशोधन की जटिल प्रक्रिया होने से यह अत्यन्त कठिन है।

३—भारतीय सर्वोच्च न्यायालय केवल विधि सम्पन्न प्रक्रिया के अनुसार ही निर्णय दे सकता है। वह प्राकृतिक विधि की कसौटी को उपयोग मे लाने के लिए स्वतन्त्र नही है, जबकि अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय प्राकृतिक विधि या वैधिक प्रक्रिया के अनुसार अपने निर्णय दे सकता है। चूँकि भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को सविधान के सरक्षक के नाते एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्राप्त है, यहाँ पर इस बात पर प्रकाश डालना तथा बल देना स्वाभाविक है कि सरकार के अन्य अगो से अपने को स्वतन्त्र रखते हुए ही सर्वोच्च न्यायालय अपने दायित्वो का उचित रूप से निभा सकता है। एक जनतान्त्रिक सविधान की यह मूल आवश्यकता है कि न्यायपालिका स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सके। भारत मे सर्वोच्च न्यायालय को विशेषकर दो महत्वपूर्ण विषयो के सबध मे निर्णय देने का अधिकार है।

सर्वप्रथम, भारतीय सघीय व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को सविधान द्वारा स्थापित विभिन्न सरकारो के क्षेत्राधिकारो की रक्षा करना है। इस सदर्भ मे, सघ सरकार एव किसी राज्य सरकार या सरकारो मे मतभेद होने पर सर्वोच्च न्यायालय को इन दोनो पक्षो के लिए निष्पक्षता पूर्वक निर्णय देना होगा।

द्वितीय, सर्वोच्च न्यायालय को नागरिको के मूल अधिकारो के सबध मे भी विवाद की स्थिति मे, निर्णय देने का अधिकार है। वास्तव मे मूल अधिकार के लिए सविधान मे यह प्रावधान बहुमत के निरकुश व्यवहार पर एक निरन्तर अवरोध के रूप मे है। अतएव एक जनतान्त्रिक राज्य मे जो बहुमत पर आधारित है, सविधान मे मूल अधिकार, अल्पसख्यको के लिए बहुमत की निरकुशता के विरुद्ध एक ठोस आश्वासन है।

पूर्व मे यह देखा जा चुका है कि जहाँ तक न्यायाधीशो की नियुक्ति, सेवा की शर्तों तथा पदच्युति का प्रश्न है, भारतीय सविधान द्वारा, उपर्युक्त मामलो की दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय की स्वतत्रता बनाये रखने के लिए पर्याप्त प्रावधान किये गये है। न्यायमूर्ति सप्रू का कहना था—"यह देखना कठिन है कि सविधान निर्माता किस तरह से, न्यायाधीशो की स्वतत्रता के विषय मे कुछ और अधिक कर सकते थे।"[1]

अत. यह स्पष्ट है कि 'सर्वोच्च न्यायालय' द्वारा, अपने न्यायिक पुनरवलोकन के अधिकार का उपयोग, जिससे व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका के अवैध कार्यों पर प्रभावशाली रोक लगाई जा सके, सर्वोच्च न्यायालय की स्वतत्रता पर निर्भर है। भारत के सार्वजनिक जीवन मे सर्वोच्च न्यायालय की स्वतत्रता का महत्व तीन और निम्नलिखित कारणो से अत्यधिक हो जाता है।

(१) एक सुविकसित, सगठित तथा प्रभावशाली जनमत का न होना।

(२) ससद मे कार्यपालिका का, जो एक राजनीतिक दल द्वारा निर्मित की गई है, अति शक्तिशाली होना। और,

(३) ससद मे एक सगठित तथा प्रभावशाली प्रतिपक्षी दल का न होना।

परन्तु सविधान के लागू होने के पश्चात् न्यायपालिकाओ का स्वतत्रता पर सबसे गभीर अतिक्रमण, अप्रत्यक्षरूप से न्यायाधीशो के कार्यकाल और सेवा निवृत होने के पश्चात् उनको कार्यपालिका द्वारा दिये गये लाभ के रूप मे है। "ऐसे भी न्यायाधीश है, जिनकी राजनीतिक महत्वाकाक्षाएँ है। सविधान मे कोई प्रावधान नही है, जिससे न्यायधीशो को किसी ऐसे पद के लिए उम्मीद करने से रोका जा सकता है जो कार्यपालिका की नियुक्ति के अधिकार के अन्तर्गत है।"[2] ऐसे कई उदाहरण हैं जहां न्यायाधीशो को सेवा-निवृत होने के पश्चात् कार्यपालिका द्वारा महत्वपूर्ण पदो पर नियुक्त किया गया। उदाहरण स्वरूप सेवा-निवृत होने के पश्चात् श्री सी० सी० विश्वास को पहले अल्पसख्यको के मामलो का मत्री और बाद मे विधि मत्री नियुक्त किया गया। श्री सैयद फजलअली को उडीसा का राज्यपाल १६५२ मे नियुक्त किया गया। श्री बी० एन० राव को १६४८ मे सयुक्त-राष्ट्र सघ मे भारत का मुख्य प्रतिनिधि नियुक्त किया गया; श्री एम० सी०

---

१. पी० एन० सप्रू—जनरल आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, अक्टू० १६४८, पृ० ६७।

२. के० वी० राव—'पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी इन इण्डिया', १६६१ पृ० २१४।

छागला को १९५८ में अमरीका में भारत का राजदूत और तत्पश्चात् शिक्षा मंत्री नियुक्त किया गया।

कार्यपालिका के इस अप्रत्यक्ष अतिक्रमण से न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए, संविधान में विशिष्ट रूप से यह प्रावधान जोड़ा जाना चाहिये कि सेवारत तथा सेवा-निवृत्त न्यायाधीश, न्यायिक कार्यों के अलावा किसी और प्रकार के कार्यों को अपने हाथों में नहीं ले सकेंगे।

राज्य-सरकार

भारत एक सघ राज्य है। भारतीय सविधान के अन्तर्गत दो प्रकार की सरकारो के लिए प्रावधान किया गया है. १—सघ (केन्द्रीय) सरकार तथा २—राज्यो की सरकारे। सविधान को २६ जनवरी १९५० को लागू किया गया, उस समय से १९५६ मे राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित होने तक, भारत मे सघ की इकाइयो (राज्यो) को चार श्रेणियो मे रखा गया था —

(क)—इस श्रेणी मे उन राज्यो को रखा गया था, जिनको ब्रिटिश राज्य के दौरान ब्रिटिश-भारतीय-प्रान्तो के नाम से पुकारा जाता था। प्रत्येक ब्रिटिश-भारतीय प्रान्त का शासन एक गवर्नर के अधीन होता था। इन राज्यो के नाम इस प्रकार थे —उत्तरप्रदेश, मद्रास, बम्बई, बिहार, मध्यप्रदेश, उडीसा, पजाब, तथा असम। इन राज्यो को 'क' भाग के राज्यो के नाम से पुकारा जाता था। १९५३ मे भाषा के आधार पर एक नये राज्य का निर्माण हुआ, जिसका आन्ध्र प्रदेश नाम दिया गया सविधान के अन्तर्गत इन राज्यो का अध्यक्ष गवर्नर होता है।

(ख)—द्वितीय, श्रेणी मे वे राज्य रखे गये थे, जिनका निर्माण देशी रियासतो के आधार पर हुआ था। इन राज्यो के नाम इस प्रकार थे —हैदराबाद, मैसूर, राजस्थान, सौराष्ट्र, मध्य भारत, पेप्सू, ट्रावनकोर-कोचीन और जम्मू-काश्मीर। इन राज्यो का भाग 'ख' के राज्यो का नाम दिया गया था। इन राज्यो के अध्यक्ष राजप्रमुख कहलाते थे।

(ग)—कतिपय छोटे राज्यो को, या जिनको पूर्व मे चीफ कमिश्नर द्वारा प्रशासित किया जाता था, भाग 'ग' के राज्यो की सज्ञा दी गई। इन राज्यो के नाम इस प्रकार थे —दिल्ली, अजमेर, कुर्ग, कच्छ, भोपाल, हिमाचल-प्रदेश, मणीपुर त्रिपुरा, कूच-विहार, और विंध्य-प्रदेश।

(घ)—इस श्रेणी मे अण्डमान तथा निकोबार द्वीपो को रखा गया। केवल एक साधारण भिन्नता को छोडकर, भाग 'क' एव 'ख' के राज्यो की सरकारो का सगठन एक समान था। भाग 'क' के राज्यो के अध्यक्षो को राज्यपाल (गवर्नर) की सज्ञा दी गई थी, जब कि भाग 'ख' के राज्यो का अध्यक्ष राजप्रमुख कहलाता था। दोनो इस प्रकार के राज्यो मे ससदीय सरकार की स्थापना की गई थी। अत:

दोनो प्रकार के अध्यक्ष नाम मात्र के प्रधान थे, वास्तविक कार्यपालिका मत्रीमण्डल के रूप मे ही थी जिसका प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायित्व राज्य विधान सभा के प्रति होता था।

भाग 'ग' के राज्यो के शासन का दायित्व भारतीय राष्ट्रपति पर था, जो अपने प्रतिनिधि उपराज्यपाल (लेफ्टीनेंट गवर्नर) या मुख्य आयुक्त (चीफ कमीशनर) की सहायता से इन राज्यो मे विधान सभा तथा मत्री मण्डल को स्थापना कर सकता था, परन्तु इन विधान सभाम्रो व मत्री मण्डलो का सगठन तथा शक्तियाँ भाग 'क' एव 'ख' के राज्यो से भिन्न थे। ससद की इच्छानुसार भाग 'ग' के राज्यों की विधान सभाओ का सगठन, सदस्यो के निर्वाचन या मनोनयन द्वारा किया जाता था। या कुछ सदस्य निर्वाचन एव कुछ मनोनीत किये जाते थे। सघ एव राज्यो के मध्य तीन सूचियो (सघ, राज्य तथा समवर्ती) द्वारा शक्ति विभाजन इन राज्यो पर लागू नही था।

१९५६ मे राज्य-पुनर्गठन आयोग के सुझाव पर, भारत सघ के राज्यो का पुनर्गठन राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ द्वारा एक नये आधार पर किया गया। राज्यो के 'क' 'ख' 'ग' एव 'घ' श्रेणियो मे वर्गीकरण को समाप्त कर दिया गया। राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ के सुझाव के अनुसार राज्यो को अब केवल दो श्रेणियो मे रखा। ये निम्न श्रेणियाँ हैं —

१—सघ राज्य तथा २—सघीय भू-भाग।

१—सघ के राज्यो के नाम इस प्रकार थे—आन्ध्रप्रदेश, असम, बिहार, बम्बई, केरल, मध्यप्रदेश, मद्रास, मैसूर, उडीसा, पजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, पश्चिमीबगाल, तथा जम्मू और कश्मीर।

२—सघीय भू भागो के नाम इस प्रकार थे—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश मणीपुर, त्रिपुरा, अण्डमान लक्कादीव एव मिनिकाय द्वीप।

१९५६ मे राज्यो के पुनर्गठन के बाद भी, कतिपय नये राज्यो की स्थापना की गई जो इस प्रकार है

१—१९६० मे बम्बई राज्य को विभाजित करके, गुजरात एव महाराष्ट्र राज्य की स्थापना की गई।

२—१९६२ मे नागालैण्ड राज्य की स्थापना की गई।

३—१९६६ मे पजाब राज्य को विभाजित करके पजाब तथा हरियाणा राज्यो की स्थापना की गई।

४—१९७१ मे असम राज्य के कतिपय पहाडी क्षेत्रो को मिलाकर मेघालय राज्य का निर्माण किया गया।

५—१९७१ मे मणिपुर तथा त्रिपुरा को सघ के राज्यो के रूप म मान्यता दी गई।

इसी प्रकार १९५६ के बाद सघीय क्षेत्रो की सख्या म भी वृद्धि हुई, जो इस प्रकार है।

१—१९६२ मे गोवा, डमन् तथा ड्यू को सघीय क्षेत्र बनाया गया।

२—१९६३ मे पाण्डुचेरी को सघीय क्षेत्र के रूप मे सम्मिलित किया गया।

३—१९६६ म चण्डीगढ को सघीय क्षेत्र बनाया गया। परन्तु १९७० म चण्डीगढ को पजाब मे मिला दिया गया।

४—१९७१ म अरुणाचल (नेफा) तथा मिजोराम को सघीय क्षेत्र बनाया गया है।

राज्य कार्यपालिका

सघीय कार्यपालिका के समान, राज्यो की कार्यपालिका का भी स्वरूप ससदात्मक है। राज्य-कार्यपालिका के दो भाग है। (क) राज्यपाल—जो कि राज्य कार्यपालिका का नाममात्र प्रधान है। (ख) मत्रीमण्डल—जिसको वास्तविक कार्यपालिका के समान माना जा सकता है क्योकि राज्य-सरकार की नीतियो तथा कार्यों के लिए, सविधान के अनुसार मत्रीमण्डल राज्य विधान सभा के प्रति उत्तर दायी है।

राज्यपाल

सघ के राज्यो के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार सविधान के अनुच्छेद १५५ के अन्तर्गत उल्लिखित है। राज्यपाल का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है, किन्तु औपचारिक दृष्टि से राज्यपाल अपने पद पर राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त विद्यमान रहेगा, अर्थात् राज्यपाल को राष्ट्रपति द्वारा कभी भी पदच्युत किया जा सकता है। अमरीकी पद्धति म सघ तथा राज्यो दोनो म अध्यक्षात्मक प्रणाली के लागू होने के फलस्वरूप अमरीकी सघ के राज्यो के राज्यपाल नाममात्र के नही, परन्तु वास्तविक शासक होते हैं, और इस कारण उनका निर्वाचन राज्य की जनता करती है।

भारत सघ के राज्यो के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, इससे, आलोचकों का कहना है कि भारतीय राजनीति म कई बुराइयाँ पैदा हो गई हैं। उदाहरण स्वरूप आलोचको का कहना है कि राज्यपाल की नियुक्ति करने का राष्ट्रपति का अधिकार वास्तव मे केन्द्र मे सत्तारूढ दल का अधिकार है, जिससे केन्द्रीय सरकार राज्यो मे राजनीतिक परिस्थितियो को, कुछ सीमा तक अपनी

इच्छानुसार मोड सकता है। इस सन्दर्भ मे, विशेषकर १९५७ के दूसरे आम-चुनाव के बाद, केरल राज्य मे १९५९ मे आपत्कालीन स्थिति की घोषणा करके राज्य-शासन को केन्द्र सरकार द्वारा अपने हाथो मे लेने का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है, क्योकि उस समय केरल विधान सभा मे साम्यवादी सरकार को, स्पष्ट बहुमत होने हुए भी, राज्यपाल रामकृष्ण राव की सिफारिश पर कि राज्य मे सवैधानिक तत्र समाप्त हो गई थी, बर्खास्त कर दिया गया।

कभी-कभी सत्तारूढ दल के सेवा-निवृत या निर्वाचनो मे हारे हुए सदस्यो को राज्यपाल नियुक्त कर दिया जाता है। यह सम्भव है कि जो व्यक्ति अपने जीवन मे दीर्घकाल तक किसी राजनीतिक दल का सदस्य रहा है, वह राज्यपाल नियुक्त होने पर निष्पक्ष नही रहे हैं, विशेषकर ऐसी परिस्थिति मे जब कि राज्य मे सरकार की बागडोर ऐसे दल के हाथो मे हो, जिसका वह व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने के पूर्व सदस्य नही रहा है। केन्द्र मे सत्तारूढ दल से सबधित जिन व्यक्तियो की नियुक्ति राजपाल के पद पर हुई है, उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—श्री अजितप्रसाद जैन, श्री वी० वी० गिरि, श्री हाफिज मोहम्मद इब्राहीम, श्री सत्यनारायण सिन्हा, श्री श्रीमन्नारायण एव श्री मोहनलाल सुखाडिया।

कभी-कभी सेवा निवृत लोकसेवा अधिकारी राज्यपाल के पद पर नियुक्त किये जाते हैं। कार्यरत प्रशासन के अधिकारियो के लिए यह एक लोभ के सदृश है, जिससे प्रशासन पर बुरा प्रभाव पड सकता है।

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध मे कभी-कभी सबधित राज्य सरकार की इच्छा की अवहेलना की गई। १९६७ मे पश्चिम बगाल मे श्री धर्मवीर की, तथा बिहार मे श्री कानूनगो की नियुक्ति राज्यपाल के पद पर की गई, जबकि बगाल तथा बिहार के सयुक्त मत्री मण्डलो ने इन नियुक्तियो का तीव्र विरोध किया।

अतएव इन दोषो को समाप्त करने के लिए राज्यपाल की नियुक्ति के सबध मे केन्द्र सरकार के लिए निम्नलिखित परम्पराओ का पालन करना आवश्यक होगा।

एक—राज्यपाल की नियुक्ति, सबधित राज्य की सरकार की सलाहानुसार की जाये,

दो—राज्यपाल के पद पर सेवा निवृत या चुनाव मे हारे हुए व्यक्तियो की नियुक्ति न की जाये,

तीन—राज्यपाल पद पर, किसी अन्य राज्य मे निवास करने वाले व्यक्ति को नियुक्त *किया जाये, क्योकि, वह स्थानीय राजनीति से ऊपर होगा और निष्पक्षता* पूर्वक अपने कार्य करेगा। व्यवहार मे इस परम्परा का पालन किया गया है, सिवाय डा० एच० सी० मुकर्जी की नियुक्ति के, जो अपने राज्य, पश्चिम बगाल, के ही राज्यपाल नियुक्त किये गये थे।

राज्यपाल के पद की योग्यताएँ

भारत के संविधान के अनुसार राज्यपाल के लिए निम्नलिखित योग्यताएं निर्धारित की गई हैं :—

१—भारत का नागरिक हो,

२—३५ वर्षों से कम आयु का न हो,

३—राज्यपाल को संसद या किसी राज्य की विधान सभा का सदस्य नहीं होना चाहिये।

४—वह संघ सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन लाभ के अन्य पद को ग्रहण न करता हो। दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल के वेतन तथा भत्तों के भार को राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार उन राज्यों को उठाना होगा।

राज्यपाल के वेतन व भत्ते.—राज्यपाल का वेतन संविधान के अनुसार ५,५०० रु० मासिक होगा, जब तक कि संसद द्वारा इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जाता है, इसके अतिरिक्त राज्यपाल को वे भत्ते प्राप्त होंगे जो भारत में गवर्नरों को संविधान लागू होने के पूर्व दिये जाते थे। संसद कानून द्वारा राज्यपाल के वेतन, भत्तों एवं विशेष सुविधाओं को निर्धारित कर सकती है। राज्यपाल के कार्यकाल में उसके वेतन तथा भत्तों में कमी नहीं की जा सकती है। राज्यपाल को निशुल्क आवास की सुविधा उपलब्ध होगी।

राज्यपाल के पद ग्रहण करने के लिए उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या उसकी अनुपस्थिति में सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश के सम्मुख यह प्रतिज्ञा लेना आवश्यक है कि वह अपने पद तथा कर्तव्यों का पालन, संविधान तथा कानून की रक्षा और जनता और जनता की सेवा करेगा।

राज्यपाल की शक्तियाँ एवं कार्य—यह ज्ञात है कि संघ तथा राज्यों में संसदीय पद्धति की संविधान के अन्तर्गत स्थापना की गई है। अत भारत के राष्ट्रपति एवं राज्यों के राज्यपालों की संवैधानिक स्थितियों में, कतिपय अपवादों को छोड़कर, समानता पाई जाती है। संसदीय पद्धति के सन्दर्भ में दोनों नाममात्र के शासक हैं। संविधान के अनुच्छेद १६३ (१) के अनुसार राज्यों के लिए एक मन्त्री परिषद का प्रावधान किया गया है, जिसका कार्य, सिवाय उन मामलों के जिसके संबंध में संविधान द्वारा राज्यपाल को स्वविवेक के उपयोग करने का अधिकार दिया गया है, राज्यपाल को उसके कार्यों में सहायता एवं परामर्श देना होगा। संविधान में इन विषयों के, सिवाय कि असम के सीमावर्ती क्षेत्रों के प्रशासन के लिए राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में, तथा असम सरकार एवं किसी अनुसूचित

क्षेत्र की जिला परिषद के मध्य खनिज से प्राप्त आय संबंधी विवाद के निपटारे के लिए, राज्यपाल की 'स्वविवेक' संबंधी शक्तियों को परिभाषित नहीं किया गया है। किसी विषय के संबंध में राज्यपाल अपना स्वविवेक उपयोग में ला सकता है या नहीं, यह निर्णय लेने का अधिकार स्वयं राज्यपाल को ही है। अनुच्छेद १६३ (५) के अनुसार जो कार्य राज्यपाल ने अपने स्वविवेकानुसार किया है, उसकी वैधता के सन्दर्भ में कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। परन्तु व्यवहार में अभी तक इस परम्परा को ही मान्यता दी गई है कि असम के राज्यपाल के सिवाय और उसको भी केवल असम के सीमावर्ती क्षेत्र तथा खनिज पदार्थों संबंधी शुल्क विषयों, पर ही, अन्य राज्यों के राज्यपालों को साधारणतया स्वविवेक के अनुसार कार्य करने का अधिकार नहीं है। "एक सीमा तक, अनुच्छेद १६३ में इन शब्दों को (स्वविवेकानुसार) रखना प्रारूप निर्माण-संबंधी एक अव्यवस्था है।"[1] क्योंकि केन्द्र के सदृश राज्यों में भी संसदात्मक सरकार की संविधान द्वारा स्थापना की गई है, और इस सन्दर्भ में राज्यपाल की स्थिति राज्यों की संवैधानिक व्यवस्था में नाममात्र की होनी चाहिये। तथापि, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि संविधान निर्माण के दौरान विवाद में इस विषय पर बल दिया गया कि राज्यों में संसदात्मक पद्धति के होने के बावजूद भी राज्यपाल वह कड़ी है जिसके माध्यम से राज्य को केन्द्र से संबंधित रखा जा सकता है और जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण भारत में संवैधानिक एकता संभव हो सकती है। यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के संवैधानिक संबंधों की मुख्य कड़ी राज्यपाल ही है। जैसा विदित है, भारतीय इतिहास से सबक लेकर, संविधान सभा में बार बार इस विषय पर ध्यान आकर्षित किया गया था कि केन्द्रीय सरकार जब-जब शिथिल हुई, देश की एकता को आघात पहुँचा, अतएव देश में एकता तथा स्थायित्व के लिए राज्यपाल को संघ तथा राज्य के मध्य एक महत्वपूर्ण संवैधानिक कड़ी की भूमिका संविधान द्वारा प्रदत्त की गई। इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए प० नेहरू ने संविधान सभा में कहा—"एक निर्वाचित राज्यपाल कुछ सीमा तक, पृथक्कारी प्रान्तीय प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित कर सकता है और केन्द्र से संबंध कम हो जायेंगे।"[2] अतएव संवैधानिक एकता तथा स्थायित्व बनाये रखने के लिए राज्यपाल के राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायित्व के लिए संविधान में दो मुख्य-आधार स्थापित किये गए हैं, जो इस प्रकार हैं १—अनुच्छेद १५५ के अन्तर्गत राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, तथा २—राज्यपाल कार्यकाल अनुच्छेद १५६ (१) के अन्तर्गत राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त रहेगा। अनुच्छेद ३५६ के अनुसार, यदि किसी राज्य

१. डी० डी० बसु—'कमेन्ट्री आन द कान्स्टीट्युशन आफ इण्डिया' पृ०४७५।
२. कान्स्टिटीएण्ट असेम्बली डिबेट्स, भा—८, पृ०४५५।

के सवैधानिक यत्र (सरकार) को सविधान के अनुसार चलाया जाना सभव नही है, तो राज्यपाल यह सूचना राष्ट्रपति को भेजेगा। राष्ट्रपति उक्त राज्य मे राज्य पाल के प्रतिवेदन पर सकटकालीन स्थिति की घोषणा करेगा। इसी प्रकार अनुच्छेद ३६५ के अनुसार सघीय सरकार को यह अधिकार है कि राज्य सरकारो को उनकी कार्यपालिका सबधी शक्तियो के उपयोग के लिए निर्देश दे। यदि उन निर्देशो का पालन नही होता है तो राष्ट्रपति, राज्य मे राज्यपाल के प्रतिवेदन पर, सकट-कालीन स्थिति की घोषणा कर सकता है। यह सभव है कि यदि राज्य मे किसी ऐसे राजनीतिक दल की सरकार है, जो केन्द्रीय सत्तारूढ दल से भिन्न है तो वह राज्य सरकार कदाचित केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुच्छेद ३६५ के अन्तर्गत दिए निर्देशो को पालन करने मे हिचकिचाहट दिखाये, ऐसी स्थिति मे सविधान के अनुसार राज्यपाल सघ सरकार के निर्देशो का पालन करने के लिए स्वविवेक की शक्ति का उपयोग कर सकता है।

राष्ट्रपति के सदृश, राष्ट्रपति के केवल राजनयिक सैनिक तथा आपत्कालीन अधिकारो, को छोडकर, राज्यपाल की शक्तियो को पाँच श्रेणियो मे रखा जा सकता है।

१—कार्यपालिका सबधी, २—व्यवस्थापन सबधी, ३—वित्तीय सबधी, ४—न्याय सबधी ५—अन्य शक्तियाँ। इन समस्त शक्तियो को राज्यपाल मत्रीमण्डल के, जिसको विधान सभा मे बहुमत है, परामर्शानुसार ही प्रयुक्त करेगा।

१—कार्यपालिका सबधी शक्तियाँ—राज्यपाल राज्य-कार्यपालिका का प्रमुख है। राज्य की समस्त कार्यपालिका सबधी शक्तियो का उपयोग राज्यपाल के नाम से ही होना है। यद्यपि राज्य की सारी कार्यपालिका सबधित शक्तियाँ राज्यपाल मे निहित हैं, वास्तव मे, इन शक्तियो का उपयोग राज्यपाल मत्रीमण्डल की सलाहानुसार ही करेगा। राज्यपाल को मत्रीमण्डल के अध्यक्ष मुख्यमत्री से मत्रीमण्डल के निर्णयो सबधी समस्त जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है। और मुख्यमत्री का यह कर्त्तव्य है कि मत्रीमण्डल के निर्णयो से राज्यपाल को अवगत कराये तथा प्रशासन सबधी विषयो पर वह सारी जानकारी राज्यपाल को प्रदत्त करे जिसकी माग राज्यपाल ने की है। अनुच्छेद १६७ के अनुसार राज्यपाल द्वारा मुख्यमत्री को किसी मत्री के निर्णय को मत्रीमण्डल के समक्ष उसके विचार विमर्श के लिए रखने को कहा जा सकता है। राज्यपाल की कार्य-पालिका सबधी शक्तियो का दायरा उतना ही है, जितना राज्य-सूची मे उल्लि-खित विषयो पर विधि निर्माण करने का दायरा राज्य विधान सभा को है। अर्थात् राज्यपाल की कार्यपालिका सबधी शक्तियाँ राज्य-सूची मे उल्लिखित विषयो से सबधित हैं।

राज्यपाल को कतिपय महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ करने का अधिकार है, जो निम्न-लिखित हैं —

(१) राज्यपाल बहुमत दल के नेता को मुख्यमन्त्री के पद पर नियुक्त करता है।

(२) मुख्यमन्त्री के परामर्श पर अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करता है।

(३) अनुच्छेद १६५ के अनुसार राज्यपाल राज्य के महाधिवक्ता की नियुक्ति करता है।

(४) अनुच्छेद ३१६ के अन्तर्गत राज्यपाल लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष एव सदस्यो की नियुक्ति करता है।

(५) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्त करने के लिए राज्यपाल से परामर्श लेना आवश्यक है।

राज्यपाल को राज्य मे सकटकालीन स्थिति की घोषणा करने के सन्दर्भ मे अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत, मुख्य भूमिका प्रदान की गई है। जब राज्यपाल को विश्वास हो जाता है कि राज्य सरकार का सचालन सविधान के प्रावधानो के अनुसार सभव नही है, तो वह राष्ट्रपति को इस विषय पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है, और यदि राष्ट्रपति इस आधार पर राज्य मे सक्टकालीन स्थिति घोषित करता है तो राज्यपाल को केन्द्रीय सरकार के अभिकर्त्ता के रूप मे राज्य-शासन चलाने के लिए कहा जा सकता है।

अनुच्छेद ३७१ (१) द्वारा, राष्ट्रपति को आदेश द्वारा पजाब तथा आन्ध्र-प्रदेश विधान सभाओ की क्षेत्रीय समितियाँ स्थापित करने का अधिकार है तथा वह इन क्षेत्रीय समितियो के उचित रूप से कार्य करने के लिए राज्यपाल के विशेष उत्तरदायित्व का प्रावधान कर सकता है। आन्ध्रप्रदेश तथा पजाब मे इन क्षेत्रीय समितियो द्वारा उनके क्षेत्राधिकार मे उल्लिखित विषयो पर दिया गया परामर्श, सरकार तथा राज्य विधान सभा को साधारणतया स्वीकृत करना होगा, किन्तु यदि क्षेत्रीय समितियो तथा सरकार मे, इस सन्दर्भ मे मतभेद हो जाता है तो राज्यपाल को अतिम निर्णय देने का अधिकार है।

२—व्यवस्थापन सबधी शक्तियाँ—राज्यपाल को व्यवस्थापन सबधी कतिपय महत्वपूर्ण शक्तियाँ सविधान द्वारा प्रदत्त हैं।

१—राज्यपाल को राज्य विधान-मण्डल के अधिवेशन आमन्त्रित करने का अधिकार है, किन्तु उसे अधिकार को इस प्रकार उपयोग मे लाना होगा कि अन्तिम अधिवेशन के अन्तिम दिन तथा नये अधिवेशन के प्रथम दिन के मध्य ६ माह से अधिक समय नही होना चाहिये। राज्यपाल विधान-मण्डल को स्थगित कर सकता है। राज्यपाल को विधान सभा के विघटित करने का अधिकार भी

है। साधारणतया, जब विधान सभा मे मत्रीमण्डल को बहुमत प्राप्त है, इन शक्तियो का उपयोग राज्यपाल मत्रीमण्डल की सम्मति के अनुसार ही करेगा। किन्तु जब मन्त्रीमण्डल को विधान सभा में बहुमत का समर्थन नही रहा है तब राज्यपाल इन शक्तियो के उपयोग के लिए अपना स्वविवेक का उपयोग कर सकता है। इसके उदाहरण १६६७ मे हुए चौथे आम-चुनाव के पश्चात् कई राज्यो म देखने को मिले। जब इन राज्या के मुख्य मन्त्रियो ने, जिनको विधान सभा मे बहुमत का समर्थन नही रहा तब राज्यपाल को विधान सभाओ को भग करने की सलाह दी, किन्तु परिस्थितियो को देखते हुए राज्यपाल ने स्वविवेक से ही निर्णय लिया।

२—राज्यपाल को विधान मण्डल को सबोधित करने का अधिकार है। आम-चुनाव के पश्चात् विधान मण्डल की पहली बैठक तथा प्रतिवर्ष प्रथम बैठक को राज्यपाल सबोधित करता है।

३—राज्यपाल विधान मण्डल के किसी सदन के समक्ष विचारार्थ विधेयक के सबध मे उक्त सदन को सदेश भेज सकता है और उस सदन का यह कर्त्तव्य होगा कि सदेश मे उल्लिखित विषय पर शीघ्र विचार करें।

४—जब एक विधेयक राज्य विधान-मण्डल के एक या दोनो सदनो (जिस राज्य मे एक सदन है तो एक सदन द्वारा, तथा जिस राज्य मे दो सदन हैं, तो दोनो सदनो द्वारा) पारित हो गया हो, तो उसे राज्यपाल के समक्ष उसकी सहमति के लिए प्रस्तुत किया जायेगा। राज्यपाल विधेयक को, या तो अपनी सहमति दे सकता है या उस पर अपनी सहमति रोक सकता है, या विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है। राज्यपाल उक्त विधेयक को विधान मण्डल मे पुनः विचारार्थ लौटा सकता है, किन्तु यदि विधान मण्डल पुन उक्त विधेयक को पारित कर देता है तो राज्यपाल को अपनी सहमति देना ही होगा।

५—राज्यपाल जिन विधेयको को राष्ट्रपति की सहमति के लिए सुरक्षित रखता है वे निम्नलिखित विषयों से सबधित होंगे।

क—जो निजी सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए है, या

ख—जो उच्च न्यायालय की शक्तियो मे कमी करने के लिए हैं।

६—राज्यपाल विधान परिषद के लगभग ⅙ सदस्यो को ऐसे लोगो मे से मनोनीत करता है जिन्होंने साहित्य, कला, विज्ञान, समाजसेवा तथा सहकारिता के क्षेत्र मे विशिष्टता प्राप्त की है।

७—राज्यपाल, राज्य विधान सभा के लिए आग्ल-भारतीय समुदाय के कुछ सदस्यो को मनोनीत कर सकता है, यदि उसके विचार मे इस सम्प्रदाय का विधान सभा म पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही है।

८—राज्यपाल, विधान मण्डल के किसी सदस्य की अयोग्यता की स्थिति में, निर्वाचन आयोग के परामर्शानुसार निर्णय दे सकता है।

९—राज्यपाल को, अनुच्छेद २१३ के अन्तर्गत जब राज्य विधान मण्डल का अधिवेशन नहीं हो रहा हो, अध्यादेश जारी करने का अधिकार है, जो कि विधान मण्डल की नई बैठक के प्रारम्भ होने से ६ सप्ताह तक वैध होंगे, यदि इसके पूर्व इनको विधान सभा द्वारा समाप्त नहीं कर दिया जाता है। प्रत्येक अध्यादेश की शक्ति कानून के सदृश होगी, परन्तु यदि कुछ ऐसे विषयों से सबंधित अध्यादेश लागू करना है, जिन पर विधेयक पारित करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्वानुमति आवश्यक है तो, *बिना राष्ट्रपति के निर्देश के इन विषयों पर अध्यादेश लागू नहीं* किये जा सकेंगे।

३—वित्तीय शक्तियाँ—राज्यपाल की वित्तीय शक्तियाँ निम्नलिखित हैं —

(१) राज्य विधान सभा में किसी वित्त-विधेयक को बिना राज्यपाल की अनुशंसा के राज्य विधान सभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। विधेयकों के वित्तीय मामलों से सबंधित संशोधन के लिए राज्यपाल की सहमति आवश्यक है। परन्तु राज्यपाल की सहमति किसी कर को कम या समाप्त करने के उद्देश्य से प्रस्तुत संशोधन के लिए आवश्यक नहीं है।

(२) राज्यपाल का यह उत्तरदायित्व है कि राज्य के वित्तीय वर्ष के लिए, विधान सभा के समक्ष राज्य का वार्षिक आय-व्ययक प्रस्तुत करवाये। बिना राज्यपाल की अनुमति के अनुदान की माँग नहीं की जा सकती है,

(३) राज्यपाल विधान मण्डल से पूरक, अतिरिक्त या विशेष अनुदान की माँग भी कर सकता है।

(४) अनुच्छेद २६७ के अनुसार राज्य-आकस्मिक निधि को उपयोग में लेने का अधिकार *राज्यपाल को ही है। राज्यपाल किसी आकस्मिक स्थिति का सामना* करने के लिए आकस्मिक निधि में से अग्रिम निधि दे सकता है।

४—न्यायिक शक्तियाँ—राज्यपाल को न्याय के क्षेत्र में कतिपय शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं, जो राज्य कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार में कानूनों से सबंधित हैं। इन कानूनों के विरुद्ध अपराध करने वाले अपराधी के दण्ड को वह कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है, परिवर्तित कर सकता है, तथा उसे क्षमा प्रदान कर सकता है।

५—राज्यपाल की अन्य शक्तियाँ—(१) राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा अपना प्रतिवेदन राज्यपाल को प्रेषित किया जाता है जो उसको राज्य मंत्री परिषद के समक्ष उसके विचारार्थ प्रस्तुत करवाता है। मंत्री परिषद की टिप्पणियाँ उक्त

विषय पर प्राप्त होने के पश्चात् राज्यपाल दोनों लेखों को विधान सभा के अध्यक्ष के पास भेजता है, जिससे उनको विधान सभा के विचार विमर्श के लिए रखा जा सके।

(२) इसी प्रकार राज्यपाल राज्य के आय व्यय पर महालेखा-परीक्षक के प्रतिवेदन पर भी विचार करता है।

(३) यदि किसी राज्य के राज्यपाल को निकटवर्ती संघीय क्षेत्र (भू-भाग) का प्रशासक नियुक्त किया गया हो तो ऐसी स्थिति में उक्त संघीय क्षेत्र के संबंध में राज्यपाल मंत्री-मण्डल से स्वतन्त्र रह कर अपने कार्यों का संचालन कर सकता है।

(४) नागालैण्ड के राज्यपाल को संविधान के १३वें संशोधन के अन्तर्गत दस वर्षों तक पिछड़े हुए टु-यान-सान आदिम वासी क्षेत्र के प्रशासन का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

अन्त में, राज्यपाल की स्थिति तथा शक्तियों की दृष्टि से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय राजनीतिक प्रणाली में राज्यपाल की एक अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। राज्यपाल न केवल राज्य का अध्यक्ष है, जहाँ संसदीय प्रणाली को स्थापित किया गया है, परन्तु कई मामलों में केन्द्रीय सरकार का अभिकर्ता भी है, अतः राज्यपाल को निष्पक्ष एवं निष्ठावान होना अत्यावश्यक है।

राज्यों में संसदीय प्रणाली होने के कारण राज्यपाल, राज्य का संवैधानिक प्रधान है। यद्यपि कतिपय मामलों में राज्यपाल को स्वविवेक के उपयोग करने की शक्ति है किन्तु इन शक्तियों का प्रयोग जनहित को देखते हुए ही किया जायेगा। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने राज्यपाल की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए "सुनील-कुमार बोस बनाम मुख्य सचिव, पश्चिम बंगाल', नामक प्रकरण में कहा—"वर्तमान संविधान के अन्तर्गत बिना मंत्रियों की सलाह के राज्यपाल कोई कार्य नहीं कर सकता है। भारत सरकार अधिनियम १९३५ के अन्तर्गत स्थिति भिन्न थी। वर्तमान संविधान के अन्तर्गत स्वविवेक से या व्यक्तिगत आधार पर कार्य करने की उसकी शक्ति को ले लिया गया है। और इसलिए वह मंत्रियों की सलाह से ही कार्य करेगा।"

१९६७ में चौथे आम-चुनाव के बाद भारतीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, कई राज्यों में कांग्रेस का बहुमत समाप्त हो गया। अतः इस परिवर्तित स्थिति में राज्यपाल की भूमिका से संबंधित कई महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आये हैं। इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं।

१—विधान सभा के सत्र को बुलाने के अधिकार के संबंध में नवम्बर, १९६७ में पश्चिम बंगाल में राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री के मध्य विवाद उत्पन्न हुआ। राज्यपाल विधान सभा की बैठक को पहले आमन्त्रित करने के पक्ष में थे, जबकि

मुख्यमंत्री का मत था कि बैठक को कुछ समय पश्चात् ही आमंत्रित किया जाये। इस सन्दर्भ में केन्द्रीय विधि मंत्रालय ने अनुच्छेद १७४ (१) के अन्तर्गत यह स्पष्टीकरण दिया कि संवैधानिक तथा सैद्धान्तिक रूप से यह शक्ति राज्यपाल को दी गई है किन्तु अन्तिम निर्णय इस विषय पर मुख्य मंत्री का ही होगा।

अप्रैल, १९७०, में इसी विषय पर पंजाब में राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री बादल के मध्य मतभेद पैदा हुआ। मुख्यमंत्री बादल की इच्छा के विरुद्ध राज्यपाल ने विधान सभा की बैठक आमंत्रित की।

२—विधान सभा को भंग करने के संबंध में क्या राज्यपाल को मुख्यमंत्री के परामर्शानुसार विधान सभा भंग करना चाहिये ? क्या इस विषय पर वह स्वतंत्रता पूर्वक निर्णय ले सकता है ?

३—क्या राज्यपाल को मंत्रीमण्डल को ऐसी परिस्थिति में भी जबकि मंत्री मण्डल को विधान सभा में बहुमत प्राप्त है, बर्खास्त करने का अधिकार है ? विशेषकर यह प्रश्न दो राज्यों (केरल तथा पश्चिम बंगाल) के राज्यपालों द्वारा अपने मंत्री मण्डलों को बर्खास्त करने के फलस्वरूप सामने आया है।

१९५९ में केरल में श्री नम्बूद्रीपाद की साम्यवादी सरकार को, जिसको केरल विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त था, बर्खास्त करके, राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री धर्मवीर ने श्री अजयमुकर्जी के मंत्री-मण्डल को दिसम्बर, १९६७, में बर्खास्त कर श्री पी० सी० घोष को मुख्यमंत्री नियुक्त किया। श्री धर्मवीर को यह प्रतीत हुआ कि मुख्यमंत्री मुखर्जी के मंत्री-मण्डल को विधान सभा का विश्वास नहीं था। उन्होंने श्री मुखर्जी को तुरन्त विधान सभा की बैठक को, यह ज्ञात करने के लिए आमंत्रित करने को कहा कि उनकी सरकार को वास्तव में विधान सभा में बहुमत प्राप्त था नहीं। चूंकि मुख्यमंत्री ने विधान सभा को आमंत्रित नहीं किया, श्री धर्मवीर ने मंत्री मण्डल को अल्पमत पर आधारित मंत्रीमण्डल मानकर बर्खास्त कर दिया। *यह कार्य श्री धर्मवीर ने संविधान द्वारा राज्यपाल को प्रदत्त दो अधिकारों के आधार पर किया।*

क—अनुच्छेद १६४ (१) के अनुसार मंत्री अपने पद पर राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त तक रहेंगे।

ख—अनुच्छेद १६३ (१) के अनुसार राज्य के लिए एक मंत्रीमण्डल होगा, जिसका कार्य राज्यपाल को उसके कार्यों में सहायता तथा परामर्श देना होगा, सिवाय उन मामलों के जिनके लिए उसको संविधान के अनुसार अपनी स्वेच्छा से कार्य करना है।

तथापि श्रीधर्मवीर द्वारा मंत्री मण्डल को बर्खास्त किये जाने के फलस्वरूप विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। केन्द्रीय विधि मंत्रालय ने अल्पमत मंत्रीमण्डल को

बर्खास्त करने के राज्यपाल के इस कार्य को सवैधानिक माना। किन्तु आलोचको का यह कहना था कि मन्त्रीमण्डल को पदच्युत करने का अधिकार केवल विधान सभा मे निहित है और विधान सभा के इस अधिकार को राज्यपाल नही हडप सकता है। अतएव यह आवश्यक है कि राज्यपाल की स्थिति तथा कार्यों के सबध मे स्वरूप ससदीय परम्पराओ का विकास होना चाहिये। इसके अतिरिक्त, यह भी उचित होगा कि राज्यपाल के स्वेच्छाधिकारो को स्पष्ट रूप से सविधान मे परिभाषित किया जाय।

राज्य-मन्त्री परिषद

भारतीय सविधान के अनुच्छेद १६३ (१) के अनुसार राज्यो के लिए एक मन्त्री परिषद का प्रावधान किया गया है जो राज्यपाल को उसके कार्यों मे सहायता तथा परामर्श देगी, सिवाय उन मामलो के जिनके सबध मे सविधान के अन्तर्गत वह 'स्वविवेक' से कार्य कर सकता है। सविधान मे 'स्वविवेक' शब्द को परिभाषित नही किया गया है, किन्तु केवल असम के राज्यपाल से सम्बन्ध मे सविधान मे उल्लिखित है कि वह स्वविवेकानुसार राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप म आदिम क्षेत्रो के प्रशासन के लिए उत्तरदायी है। यह प्रश्न वह स्वविवेक से ही निर्धारित करेगा। स्वविवेक के प्रश्न का अतिम निर्णायक भी वही होगा। यह सविधान के अनुच्छेद १६३ (२) से ही स्पष्ट है।

केन्द्रीय सरकार के समान राज्य सरकारें भी ससदीय प्रणाली के मूल सिद्धान्तो पर आधारित हैं। ससदीय प्रणाली का मूल सिद्धान्त यह है कि मन्त्री-परिषद (वास्तविक कार्यपालिका) प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका के निचले सदन के प्रति उत्तरदायी है तथा अप्रत्यक्ष रूप से मतदाता गण के प्रति उत्तरदायी है। सविधान के अनुच्छेद १६४ (५) के अनुसार राज्य के मन्त्री मण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व राज्य विधान सभा के प्रति होगा। अतएव, सामान्यत राज्यपाल को मन्त्री परिषद के परामर्शानुसार कार्य करना होगा।

साधारणतया, आम चुनाव के पश्चात् अनुच्छेद १६४ (१) के अन्तर्गत बहुमत दल के नेता को राज्यपाल मुख्यमन्त्री के पद पर नियुक्त करता है। तत्पश्चात् राज्यपाल अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति मुख्यमन्त्री के सलाह के अनुसार, करता है। यह स्पष्ट है कि जब आम चुनाव मे किसी दल को विधान सभा मे बहुमत प्राप्त हुआ है तो राज्यपाल उसी दल के नेता को मुख्यमन्त्री नियुक्त करेगा और उसको अपने स्वविवेक के उपयोग मे लाने की कोई आवश्यकता नही होगी। किन्तु जब किसी दल को विधान-सभा मे स्पष्ट बहुमत नही प्राप्त होता है तो राज्यपाल विभिन्न दल के नेताओ से मन्त्री मण्डल के गठन के लिए चर्चा करके मुख्य-

मन्त्री की नियुक्ति अपने विवेक के अनुसार कर सकता है। अनुच्छेद १६४ (१) के अन्तर्गत मन्त्री अपने पद पर राज्यपाल के 'प्रसाद पर्यन्त' तक रहेंगे। यदि मन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया व्यक्ति विधान मण्डल का सदस्य नहीं है तो उसको ६ माह के अन्दर विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य निर्वाचित होना आवश्यक है, अन्यथा उसको मन्त्री पद पर से हटना पड़ेगा। अपना पद ग्रहण करने के पूर्व प्रत्येक मन्त्री को पद के सबंध में राज्यपाल द्वारा शपथ दिलाई जाती है। मन्त्रियों के वेतन तथा भत्तों का निर्धारण राज्य विधान-मण्डल निर्धारित करती है। अनुच्छेद १६३ (३) के अनुसार इस प्रश्न पर कि मन्त्रीमण्डल द्वारा राज्यपाल को कोई सम्मति या किस प्रकार की सम्मति दी गई, किसी न्यायालय द्वारा जाँच नहीं की जा सकती है। इस कारण मन्त्रियों की सम्मति सबंधित कोई प्रश्न न्यायालय में नहीं लाया जा सकता है।

संविधान द्वारा राज्य मन्त्री-मण्डल के सदस्यों की संख्या निर्धारित नहीं की गई है। अतएव विभिन्न राज्यों में मन्त्रियों की संख्या भिन्न-भिन्न है। यद्यपि संविधान में मन्त्रियों की विभिन्न श्रेणियों को भी उल्लिखित नहीं किया गया है, फिर भी व्यवहारतः चार श्रेणियों में मन्त्रियों को वर्गीकृत किया जाता है, जो निम्नानुसार है —

(क) केबीनेट स्तर के मन्त्री,
(ख) राज्य मन्त्री,
(ग) उपमन्त्री, तथा,
(घ) संसदीय सचिव,

इन चारों प्रकार के मन्त्रियों से मिलकर मन्त्री-परिषद का गठन होता है। केवल केबीनेट स्तर के मन्त्री ही मन्त्रिमण्डल में होते हैं। प्रत्येक केबीनेट स्तर के मन्त्री किसी न किसी मन्त्रालय का अध्यक्ष होता है। अन्य श्रेणियों के मन्त्रियों का कार्य विधायी तथा प्रशासकीय क्षेत्रों में केबीनेट स्तर के मन्त्रियों को सहायता देना है।

मन्त्रीमण्डल के कार्य तथा अधिकार—मन्त्रीमण्डल का कार्य राज्य सरकार की नीतियों का निर्धारण करना है, जिनके आधार पर राज्य शासन का संचालन किया जाता है। यह स्वाभाविक है कि नीति-निर्माण का कार्य उन विषयों से सबंधित होगा जो राज्य तथा समवर्ती सूचियों में रखे गये हैं। इन नीतियों के लिए विधान सभा की सहमति आवश्यक है। प्राय. इन नीतियों को कानूनी रूप देना आवश्यक हो जाता है। साधारणतया मन्त्रीमण्डल को विधान सभा में बहुमत प्राप्त रहता है, अत मन्त्री-परिषद की नीतियों को विधान सभा में सरलता पूर्वक सहमति प्राप्त हो जाती है।

मन्त्रीमण्डल का दूसरा प्रमुख कार्य है, प्रशासन के विभिन्न विभागों के मध्य आवश्यक सहयोग तथा समन्वय स्थापित करना, जिससे समस्त प्रशासन को एक इकाई के रूप मे सचालित किया जा सके। प्रशासन के विभिन्न विभाग अपने मे पृथक, स्वतन्त्र तथा आत्मनिर्भर नहीं हो सकते है। उनमे विभिन्न विषयो पर पारस्परिक सहयोग एव समन्वय होना अत्यावश्यक है। इस सहयोग पर ही राज्य की प्रगति निर्भर है।

राज्य कार्यपालिका तथा प्रशासन पर नियन्त्रण रखना मन्त्री मण्डल का कार्य है। चूँकि कार्यपालिका एव प्रशासन की दृष्टि से मन्त्रीमण्डल राज्य विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है अत विधान सभा मे बहुमत का विश्वास अपने प्रति दृढ बनाये रखने के लिए मन्त्रीमण्डल को शासन कुशलता, दक्षता एव लोककल्याण के आधार पर सचालित करना चाहिये। अतएव यह स्वाभाविक है कि मन्त्री-मण्डल समस्त कार्यपालिका तथा प्रशासन सबधी क्रियाओ पर निगरानी रखे। यदि शासन मे दोष उत्पन्न हो जाते है तो मन्त्रियो को इसके लिए विधान सभा के समक्ष जबाव देना होगा।

मन्त्रीमण्डल का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह है कि यह राज्य के वित्त प्रशासन को सुचारु रूप से सचालित करने का प्रावधान करे। यह राजनीति विज्ञान का एक सत्य है कि समस्त प्रशासन की सफलता के लिए न केवल पर्याप्त वित्त होना आवश्यक है किन्तु एक दृढ आर्थिक व्यवस्था के लिए वित्त प्रशासन का सचालन सही रूप से हो। उत्तम प्रशासन का उत्तरदायित्व मन्त्रीमण्डल का है अतः मन्त्रीमण्डल का यह भी उत्तरदायित्व हो जाता है कि राज्य का वित्त-प्रशासन भी उत्तम हो। राज्य की राजस्व सबधी नीति का निर्धारण तथा वार्षिक आय-व्ययक का निर्माण हेतु राज्य वित्त मन्त्री की ही जिम्मेदारी है।

सक्षेप मे, राज्य मन्त्रीमण्डल राज्य शासन की धुरी है। राज्य शासन की सफलता मुख्यत मन्त्रीमण्डल पर ही निर्भर रहती है। इस कारण मन्त्रियो को ससदीय प्रणाली के अनुकूल अपने दायित्वो को समझना तथा निभाना अत्यावश्यक है। सघीय मन्त्रीमण्डल के सन्दर्भ मे अध्ययन किया जा चुका है कि ससदीय पद्धति में मन्त्रियो के चार प्रकार के उत्तरदायित्व होते हैं। जो इस प्रकार हैं।

१—मन्त्रियो के तकनीकी या औपचारिक उत्तरदायित्व का *सिद्धान्त ससदीय* पद्धति मे मन्त्रियो का औपचारिक उत्तरदायित्व राज्याध्यक्ष के प्रति होता है। भारत सघ के राज्यो मे मन्त्रीगण औपचारिक रूप से राज्यपाल के प्रति उत्तरदायी होगे। अनुच्छेद १६७ के अनुसार मुख्यमन्त्री का यह उत्तरदायित्व है कि—(क) राज्यपाल को राज्य प्रशासन, व्यवस्थापन के समस्त मामलो से सबधित राज्य मन्त्री-परिषद के निर्णयो से अवगत करायें।

(ख) राज्य के प्रशासन तथा व्यवस्थापन संबंधी मामलों के संबंध में राज्यपाल को वह समस्त जानकारी दे जो राज्यपाल चाहता है।

(ग) यदि राज्यपाल की ऐसी इच्छा है तो मंत्रीमण्डल के विचार-विमर्श के लिए ऐसे मामले को प्रस्तुत करे जिस पर निर्णय किसी मंत्री ने लिया है किन्तु जिस पर मंत्रीमण्डल ने विचार नहीं किया था।

२—मंत्रियों के पारस्परिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त—मंत्री-मण्डल एक इकाई के समान है। इसके सदस्यों को एक संगठित प्रभावशाली तथा एकतापूर्ण इकाई के रूप में कार्य करना आवश्यक है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मंत्री मण्डल का अस्तित्व मंत्रियों के पारस्परिक सहयोग तथा एकता की भावनाओं पर आधारित रहता है।

इसके विपरीत, यदि मंत्रीमण्डल में झगड़ा और फूट है तो निश्चय ही वह स्थायी नहीं रह सकेगा।

३—व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का सिद्धान्त—प्रत्येक मंत्री अपने विभाग के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है। यद्यपि विशिष्ट रूप से संविधान में कोई प्रावधान नहीं है कि मंत्री व्यक्तिगत रूप से राज्य विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का सिद्धान्त संविधान के अनुच्छेद १६४ (१) में निहित है, जिसके अनुसार मंत्री अपने पद पर राज्यपाल के 'प्रसाद पर्यन्त' तक ही रहेगा। संसदीय पद्धति के सन्दर्भ में राज्यपाल के 'प्रसाद पर्यन्त' का तात्पर्य मुख्यमंत्री के 'प्रसाद पर्यन्त' है। अतएव मंत्री व्यक्तिगत रूप से मुख्यमंत्री के प्रति उत्तरदायी होगा। यह उचित होता है कि संविधान में मंत्री के विधान सभा के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की जाती।

४—संसदीय पद्धति का मूल आधार—मंत्रीमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है। संविधान के अनुच्छेद १६४ (२) में मंत्रीमण्डल राज्य विधान सभा के प्रति अपनी नीतियों तथा कार्यों के लिए उत्तरदायी होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार मंत्रीमण्डल का अस्तित्व तब तक बना रह सकता है जब तक विधान सभा में बहुमत का विश्वास उसके प्रति है। दूसरे शब्दों में, यदि बहुमत का विश्वास विधान सभा में मंत्रीमण्डल के प्रति न रहे, तो ऐसी स्थिति में वह मंत्रीमण्डल भंग हो जायगा। प्रत्येक दशा में मंत्रीमण्डल को विधान सभा के समक्ष अपना विश्वास बनाये रखने पर ही स्थिरता प्राप्त होगी।

मुख्यमंत्री

भारतीय संविधान के अनुच्छेद १६३ (१) के अनुसार मुख्यमंत्री मंत्रीमण्डल का प्रधान है। मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है। परन्तु मुख्यमंत्री

के पद पर केवल उसी राजनीतिक दल के नेता को नियुक्त किया जाता है जिसको आम-चुनाव मे राज्य विधान सभा मे बहुमत मिला है। यदि आम-चुनाव मे किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो तो राज्यपाल कुछ हद तक मुख्यमत्री की नियुक्ति मे स्वेच्छा का प्रयोग कर सकता है।

मुख्यमत्री के प्रमुख कार्य—१—मत्रीमण्डल के अध्यक्ष होने के कारण वह मत्रीमण्डल का गठन करता है। मुख्यमत्री की सम्मति पर ही राज्यपाल अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करता है। मत्रीमण्डल के सगठन मे मुख्यमत्री को प्रधान मत्री के समान अत्यधिक शक्तियाँ प्राप्त है। यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता है कि कौन व्यक्ति मत्रीमण्डल मे रहे या न रहे।

२—मत्रीमण्डल के अध्यक्ष के नाते, मुख्यमत्री मत्रीमण्डल की बैठको की अध्यक्षता करता है। मत्रीमण्डल के निर्णयो पर मुख्यमत्री का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है।

३—मुख्यमत्री राज्यपाल तथा मत्रीमण्डल के मध्य सवैधानिक कडी के रूप मे कार्य करता है। अनुच्छेद १६७ के अनुसार मुख्यमत्री राज्यपाल को, राज्य-शासन या व्यवस्थापन सम्बन्धी मत्रीमण्डल के निर्णयो से अवगत कराता है। इसी प्रकार यदि राज्यपाल राज्य प्रशासन या प्रशासन या व्यवस्थापन सम्बन्धी किसी विषय पर जानकारी चाहता है तो मुख्यमत्री का यह कर्तव्य है कि यह जानकारी उसे प्रदत्त करे।

४—मुख्यमत्री कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान है। समस्त प्रशासन पर उसको निरीक्षण करने का अधिकार प्राप्त है। वह शासनरूपी गाडी का चालक है, जिसके नेतृत्व मे शासन का सचालन होता है। मत्रीमण्डल से सबधित विभिन्न विवादो के निपटारे की जिम्मेदारी मुख्यमत्री की ही है।

५—मुख्यमत्री विधान सभा का नेतृत्व भी करता है। विधान सभा मे सरकारी नीतियो तथा कार्यों की घोषणा और स्पष्टीकरण करने का उत्तरदायित्व मुख्यमत्री पर ही है। वह विधान सभा मे किसी मत्री द्वारा असतोषपूर्वक उत्तर दिये जाने की स्थिति मे, सबधित विषय पर सदस्यो की शका को दूर करता है। वह सरकार का प्रमुख प्रवक्ता है और उसके वक्तव्य तथा आश्वासन अन्तिम रूप से आधिकारक माने जाते है।

यह स्वाभाविक है कि मुख्यमत्री की स्थिति राज्यो मे लगभग केन्द्र सरकार मे प्रधान मत्री की स्थिति के समान है, क्योकि दोनो क्षेत्रो मे ससदीय प्रणाली स्थापित की गई है। अत राज्य मे मुख्यमत्री की महत्ता वास्तविक शासक के रूप मे है। राज्य का पूरा प्रशासन तत्र उसी के सकेतो पर सचालित होता है। वह राज्य मत्रीमण्डल का 'कप्तान' है। अत मत्रीमण्डल मे उसके निर्णयो का अत्यधिक महत्व होता है।

महाधिवक्ता

संविधान के अनुच्छेद १६५ के अन्तर्गत संघ में प्रत्येक राज्य के लिए महाधिवक्ता का प्रावधान किया गया है। महाधिवक्ता की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा, मन्त्री-मण्डल की सलाह के अनुसार, की जाती है। केवल उस व्यक्ति को महाधिवक्ता नियुक्त किया जा सकता है, जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद के योग्य होता है। महाधिवक्ता का कार्यकाल राज्यपाल के 'प्रसाद पर्यन्त' तक रहेगा। उसका वेतन राज्यपाल द्वारा निर्धारित किया जाता है। महाधिवक्ता के कार्य राज्य के सम्बन्ध में लगभग केन्द्रीय सरकार से सबंधित महान्यायवादी के कार्यों के समान हैं।

महाधिवक्ता राज्य सरकार को उन समस्त विषयों पर कानूनी सम्मति देता है जो उसको प्रेषित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त, कानून द्वारा उसके कार्यों का निर्धारण किया जा सकता है। राज्य की ओर से उच्च न्यायालय में वह उन समस्त मामलों में पैरवी करता है, जिनमें राज्य एक पक्ष में है। राज्य की तरफ से वह उच्च न्यायालय के समस्त अपीलीय या फौजदारी मामलों में पैरवी करता है। महाधिवक्ता अपने कार्यकाल में राज्य के विरुद्ध किसी मामले में कार्य नहीं कर सकता है। वह फौजदारी मामलों में अभियुक्त का बचाव नहीं कर सकता है। महाधिवक्ता ऐसे प्रकरणों में, जिनमें उसे सरकार के पक्ष में पैरवी करना है, किसी अन्य निजी पक्ष के लिए पैरवी नहीं कर सकता है। वह किसी कम्पनी में डायरेक्टर के पद को बिना सरकार की अनुमति के स्वीकृत नहीं कर सकता है। प्राय सरकार के परिवर्तन के साथ ही महाधिवक्ता का कार्यकाल समाप्त हो जाता है क्योंकि उसकी नियुक्ति राजनीतिक आधार पर की जाती है।

राज्य विधान मण्डल

भारतीय संविधान के अन्तर्गत भारतीय संघ के प्रत्येक राज्य के लिये व्यव-स्थापन कार्यों के लिए एक विधान-मण्डल की स्थापना की गई है। साधारणतया, व्यवस्थापिका सभा के संगठन की दो पद्धतियाँ होती हैं। सर्वप्रथम, द्विसदनात्मक, पद्धति के अन्तर्गत, व्यवस्थापिका के दो सदन होते हैं, उच्च सदन तथा निम्न सदन, द्वितीय, एक सदनात्मक पद्धति में व्यवस्थापिका का केवल एक ही सदन होता है।

विधान-परिषद—भारतीय संघ के कुछ राज्यों में द्विसदनात्मक पद्धति है और अन्य राज्यों में एक सदनात्मक पद्धति की व्यवस्था की गई है। अतएव कुछ राज्यों में विधान मण्डल का निर्माण राज्यपाल तथा दो सदनों से होता है, और कुछ राज्यों में राज्यपाल तथा एक सदन द्वारा होता है। जिन राज्यों में दो सदन है, वहाँ उच्च सदन (द्वितीय सदन) को विधान परिषद की संज्ञा दी गई है, और निम्न सदन (प्रथम सदन) को विधान सभा कहा जाता है। प्रारम्भ में, जिन राज्यों म द्विसदनात्मक पद्धति को अपनाया गया, उनके नाम इस प्रकार हैं—बम्बई, बिहार, मद्रास, उत्तर-प्रदेश, पश्चिम बंगाल, पंजाब और मैसूर। तत्पश्चात् संवि-धान संशोधन अधिनियम १९५६ के अन्तर्गत निम्नलिखित राज्यों में द्विसदनात्मक पद्धति की स्थापना की गई—आंध्रप्रदेश, बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, मैसूर, पंजाब, उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल और जम्मू-काश्मीर। चार राज्यों राजस्थान केरल, आसाम, तथा उड़ीसा में एक सदनात्मक पद्धति की व्यवस्था की गई। संविधान के अनुच्छेद १६९ (१) के अनुसार विधान परिषद (उच्च सदन) समाप्त करने की प्रक्रिया निर्धारित की गई है, जिनके अनुसार यदि राज्य विधान सभा के समस्त सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के ⅔ बहुमत से प्रस्ताव पारित करके यह माँग की जाती है कि विधान परिषद को समाप्त किया जाये, या जिस राज्य में यह सदन नहीं है, उपर्युक्त आधार पर विधान सभा प्रस्ताव पारित करती है कि उक्त राज्य में प्रधान-परिषद स्थापित की जाये तो संसद कानून द्वारा राज्य विधान-सभा के प्रस्ताव के अनुसार विधान-परिषद की समाप्ति या स्थापना के लिए प्रावधान करेगी। यह स्पष्ट है कि

विधान-परिषद की स्थापना या समाप्ति मुख्यत उक्त राज्य की विधान सभा की इच्छा पर निर्भर है।

राज्य विधान-परिषद का सगठन राज्य विधान-परिषद के सदस्यो की सख्या उक्त राज्य की विधान-सभा के सदस्यो की सख्या की १/३ से अधिक नहीं होनी चाहिये, परन्तु किसी स्थिति मे विधान-परिषद के सदस्यो की सख्या ४० से कम नही होनी चाहिये। विधान परिषद के सदस्यों का निर्वाचन इस प्रकार से होगा।

(क) एक तिहाई सदस्यो का निर्वाचन एक निर्वाचन-मण्डल द्वारा होगा, जिसके सदस्य स्थानीय स्वशासन सस्थाओ (नगरपालिका, जिला मण्डल या ससद द्वारा निर्धारित अन्य स्थानीय सस्थाएँ) के सदस्य होंगे।

(ख) एक बारह अश (१/१२) सदस्य राज्य मे रहने वाले स्नातको द्वारा निर्वाचित किये जायेगे।

(ग) एक बारह अश (१/१२) सदस्यो का निर्वाचन तीन वर्षों के अनुभव के शिक्षक करेगे जो राज्य मे कम से कम माध्यमिक विद्यालयो मे पढा रहे हैं।

(घ) एक तिहाई सदस्यो का निर्वाचन विधान-सभा के सदस्यो द्वारा किया जायेगा।

(ङ) शेष सदस्यो को राज्यपाल मनोनीत करता है, जिन्होंने साहित्य, विधि, सहकारिता आन्दोलन तथा समाज सेवा क्षेत्र मे ज्ञान या अनुभव प्राप्त किया है।

कार्यकाल-राज्य विधान परिषद एक स्थायी सदन है। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष मे सेवा निवृत होते हैं, इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल ६ वर्ष का है।

सदस्य की योग्यताएँ

१—प्रत्येक सदस्य को भारत का नागरिक होना आवश्यक है।

२—कम से कम ३० वर्ष की आयु का होना चाहिये।

३—अन्य योग्यता, जो ससद कानून द्वारा निर्धारित करती है।

कोई सदस्य राज्य विधान मण्डल के दोनो सदनो का सदस्य नही हो सकता है और न ही दो या दो से अधिक राज्यों के विधान मण्डल का सदस्य हो सकता है। यदि कोई सदस्य सदन की बैठको से ६० या उससे अधिक दिनों बिना सदन की अनुमति के अनुपस्थित रहता है, तो उसका स्थान रिक्त माना जायेगा।

निम्नलिखित आधारो पर किसी व्यक्ति को विधान परिषद की सदस्यता के अयोग्य ठहराया जा सकता है :—

१—यदि भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन लाभ के पद पर है। यह प्रतिबन्ध केन्द्रीय या राज्य के मन्त्रियो तथा कानून द्वारा निर्धारित किसी अन्य पद पर लागू नही होता है।

२—यदि वह न्यायालय द्वारा पागल घोषित किया गया है।

३—यदि वह दिवालिया है।

४—यदि वह भारत का नागरिक नही है या उसने किसी अन्य राज्य की नागरिकता ग्रहण कर ली है या वह किसी भी अन्य देश के प्रति राज्य भक्ति रखता है।

५—यदि वह किसी ससदीय कानून के अन्तर्गत अयोग्य होता है। उदाहरण स्वरूप १९५१ मे ससद द्वारा पारित लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम १९५१ के अन्तर्गत न्यायालय ने उन व्यक्तियो को अयोग्य घोषित किया है जो न्यायालय द्वारा दण्डित हुए हैं, या जिनको निर्वाचन के सबध मे भ्रष्ट या अवैधानिक कार्यों के लिए दोषी पाया गया।

राज्य विधान परिषद की बैठको के लिए गण पूर्ति की सख्या उसके कुल सदस्यो का सख्या मे एक दशाश सख्या १/१० या १० होगी। (इन दोनो म से जो भी सख्या अधिक होगी, वह गणपूर्ति की सख्या होगी)।

विधान परिषद का एक अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष होता है, जिनका निर्वाचन विधान परिषद के सदस्य करते हैं इनको १४ दिन के नोटिस पर विधान परिषद बहुमत से प्रस्ताव पारित कर पदच्युत कर सकती है। दोनो पदाधिकारियो को वेतन तथा भत्ते मिलते हैं और इनके कार्य लगभग सघीय राज्य सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के सदृश हैं।

विधान परिषद के कार्य तथा अधिकार

विधान परिषद के विभिन्न कार्यों तथा अधिकारो को तीन श्रेणियो मे रखा जा सकता है।

१—**व्यवस्थापन सबधी कार्य**—द्वितीय सदन के नाते राज्य विधान परिषद को कानून निर्माण करने के सबध मे सविधान द्वारा कुछ कार्य प्रदत्त किये गये हैं। साधारण—विधेयक (वित्त विधेयक को छोडकर) को किसी भी सदन म प्रस्तुत किया जा सकता है जो दोनो सदनो द्वारा पारित होने पर ही राज्यपाल की सहमति से कानून बन सकेगा। यदि दोनो सदनो मे विधेयक पर मतभेद हो जाता है तो विधान सभा द्वारा उसी सत्र मे या नये सत्र मे विधेयक के पुन पारित होने पर राज्यपाल की सहमति से विधेयक को कानून माना जायगा।

यदि विधेयक विधान सभा द्वारा पारित कर दिया गया है और विधान परिषद के विचार-विमर्श के लिए गया है किन्तु विधान परिषद उस पर कोई निर्णयात्मक कार्यवाही नहीं करती है तो विधेयक को विधान परिषद में प्रस्तुत करने के तीन माह पश्चात् विधान सभा उसे पुनः पारित कर सकती है। तब पुन: उक्त विधेयक को विधान परिषद के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा किन्तु यदि विधान परिषद विधेयक को अस्वीकृत करती है या ऐसे संशोधन करती है जो विधान सभा को अमान्य है तो विधेयक को उस हालत में पारित माना जायेगा, जैसा कि मूलत: विधान सभा ने पारित किया था। यदि विधान-परिषद विधेयक पर विधान सभा द्वारा दूसरे बार पारित होने के पश्चात् भी कोई ध्यान नहीं देती तो परिषद के समक्ष विधेयक प्रस्तुत करने के एक माह पश्चात् विधेयक को दोनों द्वारा पारित माना जावेगा। अतः साधारण विषयकों के सबंध में विधान परिषद, विधान-सभा, इनको पारित करने के पश्चात् अधिक से अधिक चार माह का विलम्ब कर सकती है।

२—वित्तीय कार्य—वित्तीय मामलों में विधान परिषद के अधिकार लगभग राज्य सभा के अधिकारों के समान ही हैं। वित्त या धन विधेयक को विधान-परिषद में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता है। विधान सभा में पारित होने के पश्चात् वित्त-विधेयक को विधान परिषद के विचार विमर्श के लिए भेजा जाता है। विधान परिषद को अपने सुझावों को १४ दिनों में देने चाहिये अन्यथा वित्त विधेयक बिना विधान परिषद के सुझावों के १४ दिन के पश्चात् कानून बन जायेगा। अनुच्छेद १९९ (३) के अनुसार विधान सभा विधान परिषद के सुझावों को अस्वीकृत कर सकती है।

३—कार्य पालिका सम्बन्धी शक्तियाँ—संसदीय प्रणाली में मंत्रीमण्डल का उत्तरदायित्व व्यवस्थापिका सभा के निचले सदन के प्रति होता है। यद्यपि उच्च सदन द्वारा मंत्रीमण्डल की आलोचना करने से सरकार (मंत्रीमण्डल) को अपना इस्तीफा देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है, तथापि इनका प्रभाव नगण्य नहीं हो सकता। अत: कार्यपालिका (मंत्रीमण्डल) के नियंत्रण के लिए उच्च सदन में प्रशासन के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जा सकते हैं। विधान परिषद में सदस्य सार्वजनिक महत्व के विषयों पर बहस कर, सरकार का मार्ग दर्शन कर सकते हैं, क्योंकि यह सम्भव है कि विधान सभा में मंत्रीमण्डल ने अपने बहुमत के आधार पर जल्दबाजी में किसी ऐसे विधेयक को पारित करवा दिया हो जो त्रुटिपूर्ण है। चूँकि निम्न सदन के सदस्यों की तुलना में विधान परिषद के सदस्य अधिक परिपक्व तथा अनुभवी होते हैं, अत: यह स्वाभाविक है कि बहस का स्तर यहाँ पर ऊँचा होता है। इस प्रकार विधान परिषद अप्रत्यक्ष रूप से कार्यपालिका को अपने परिपक्वता तथा अनुभव के आधार पर प्रभावित कर सकती है।

राज्य विधान सभा

राज्य विधान मण्डल का निम्न सदन विधान सभा है। यह राज्यो मे जनता का प्रतिनिधि सदन है। इस दृष्टि से यह सघीय ससद के निम्न सदन लोकसभा के समान हैं।

सगठन—राज्य विधान सभा के सदस्यो की सख्या सबधित राज्य की जनसख्या के सदर्भ मे ५०० से अधिक तथा ६० से कम नही होनी चाहिये। प्रत्येक जनगणना के पश्चात्, प्रत्येक राज्य की विधान सभा के सदस्यो की सख्या को और राज्य का निर्वाचन क्षेत्रो मे विभाजन पुर्ननिर्धारित किया जाता है। अधिकतर निर्वाचन क्षेत्र एकल-सदस्य हैं। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक ही सदस्य निर्वाचित होता है। सदस्यो का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार पद्धति के अनुसार होता है। सविधान द्वारा अनुसूचित जातियो तथा आदिम जातियो के प्रतिनिधित्व के लिए विशेष व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद ३३२ के अनुसार अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित आदिम जातियो के लिए उनकी जनसख्या के अनुपात मे प्रत्येक राज्य की विधान सभा मे स्थान सुरक्षित रखे जायेंगे। असम की विधान सभा मे स्वायत्त आदिम जिलो के प्रतिनिधियो के लिए स्थान सुरक्षित रखे गये है। किसी भी राज्य का राज्यपाल विधान सभा मे आग्ल भारतीय समाज के प्रतिनिधियो को मनोनीत कर सकता है, यदि उसके विचार मे इस समाज को विधान सभा मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है। प्रारम्भ मे अनुसूचित जातियो, अनुसूचित आदिम जातियो तथा आग्ल भारतीय प्रतिनिधियो के लिए विधान सभा मे स्थान सुरक्षित करने के सवैधानिक प्रावधान सविधान के लागू होने के समय से दस वर्ष के लिए थे किन्तु सविधान मे आठवें संशोधन (संशोधन अधिनियम १९५९) द्वारा इसमे दस वर्ष की वृद्धि की गई है।

विभिन्न राज्यो की विधान सभाओ के सदस्यो की सख्या निम्नानुसार है :—

१—आन्ध्र प्रदेश–२८७;
२—असम–१२६,
३—बिहार–३१८;
४—गुजरात–१६८,
५—हरियाणा–८१;
६—जम्मू-कश्मीर–७५;
७—केरल–१३३;
८—मध्यप्रदेश–२९६;
९—मद्रास–२३४;
१०—महाराष्ट्र–२७०;

११—मैसूर–२१६;
१२—उड़ीसा–१४०;
१३—पंजाब–१०४,
१४—राजस्थान–१८४;
१५—उत्तरप्रदेश–४२५;
१६—पश्चिम बंगाल–२८०,
१७—दिल्ली–५६;
१८—हिमाचल प्रदेश–६०;
१६—मणिपुर–३०;
२०—त्रिपुरा–३०;

कार्यकाल—सामान्यत राज्य विधान सभा का कार्यकाल ५ वर्ष का होता है। जब देश मे सकटकालीन स्थिति घोषित हो चुकी है तब विधान सभा का कार्यकाल एक वर्ष के लिए कितनी भी बार ससद के कानून द्वारा बढाया जा सकता है। परन्तु सकटकालीन उद्घोषणा के समाप्त होने पर किसी भी स्थिति मे विधान सभा का कार्यकाल ६ माह से अधिक समय तक नही बढाया जा सकता है। यदि विधान सभा म मत्रीमण्डल को बहुमत का समर्थन समाप्त हो जाता है, तथा अन्य कोई राजनीतिक दल वैकल्पिक सरकार निर्माण करने मे असमर्थ है तो विधान सभा को पाँच वर्ष पूर्व भी राज्यपाल द्वारा भग किया जा सकता है।

विधान सभा के सदस्यो के लिए जो योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं वे निम्न-लिखित हैं :—

(१) वह भारत का नागरिक हो।
(२) उसकी आयु कम से कम २५ वर्ष की हो।
(३) ससदीय कानून द्वारा निर्धारित अन्य योग्यताओ को पूरा करता हो।

अनुच्छेद १७२ के अनुसार कोई व्यक्ति दोनो सदनो का सदस्य नही हो सकता है, और न दो या दो से अधिक राज्य विधान मण्डलो का सदस्य हो सकता है।

निम्नलिखित कारणो के आधार पर कोई व्यक्ति विधान सभा का सदस्य नही हो सकता :—

१—यदि वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन लाभ के पद पर है।

२—यदि वह न्यायालय द्वारा पागल घोषित कर दिया गया है।

३—यदि वह दीवालिया है।

४—यदि वह भारत का नागरिक नही है, या उसने किसी विदेशी नागरिकता को ग्रहण कर लिया है, या वह किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या भक्ति रखता है।

५—यदि ससद के किसी कानून के अन्तर्गत अयोग्य है ।

राज्य विधान सभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त पर सम्पन्न होता है । अर्थात् प्रत्येक नागरिक को जिसकी आयु २१ वर्ष से कम नही है, मत-दान का अधिकार है । यदि वह उस क्षेत्र का निवासी है, पागल नही है, और जिसको भ्रष्ट या अवैधानिक कार्य के लिए दण्डित न किया गया है ।

विधान सभा के दो महत्वपूर्ण पदाधिकारी हैं—(अ) अध्यक्ष (स्पीकर), (ब) उपाध्यक्ष (डिप्टी स्पीकर) । अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनो का निर्वाचन विधान सभा द्वारा होता है । अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को पदच्युत करने का अधिकार विधान-सभा को है । इसम अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को पदच्युत करन के लिए १४ दिन का नोटिस दिया जाना चाहिए । यदि विधान सभा बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर देती है तो अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को पदच्युत माना जायेगा । यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष सदन की सदस्यता छोड देता है तो वह अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के पद पर नही रहेगा । यदि अध्यक्ष का पद रिक्त है तो उपाध्यक्ष द्वारा अध्यक्ष के कार्य किये जायेंगे । यदि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनो के पद रिक्त हैं तो राज्यपाल अस्थाई रूप से विधान सभा के किसी भी सदस्य को उस पद पर नियुक्त करेगा । यदि अध्यक्ष तथा उपा-ध्यक्ष दोनो सदन की बैठक से अनुपस्थित हैं तो सदन के नियमो के अनुसार, कार्यवाहक अध्यक्ष सदन की कार्यवाही सचालित करेगा । सदन की जिस बैठक मे अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के पदच्युत करने के प्रस्ताव पर विचार विमर्श हो रहा है वह उस बैठक की अध्यक्षता नही करेगा, तथापि उसे सदन मे उपस्थित रहने, सदन की कार्यवाही मे हिस्सा लेने तथा प्रस्ताव पर मतदान करने का अधिकार है । अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को विधान मण्डल द्वारा पारित कानून के अन्तर्गत वेतन तथा भत्ते मिलते हैं । ये वेतन तथा भत्ते राज्य की सचित निधि मे से दिये जाते हैं । राज्य विधान सभा के अध्यक्ष तथा कार्यों की स्थिति लोकसभा के अध्यक्ष के सदृश है । लोकसभा के अध्यक्ष के समान विधान सभा के अध्यक्ष को स्वतत्र तथा निष्पक्ष होना आवश्यक है ।

विधान सभा के अध्यक्ष के निम्नलिखित कार्य हैं ।

१—वह सदन की अध्यक्षता करता है ।

२—सदन मे प्रश्नो तथा प्रस्तावो के रखने के लिए उसकी अनुमति आवश्यक है ।

३—अध्यक्ष द्वारा ही सदन की कार्यवाहियो के लिए समय निर्धारित किया जाता है ।

४—अध्यक्ष सदन के नेता के परामर्श से सदन की कार्यवाहियो का क्रम तथा भाषणो के लिए समयावधि निर्धारित करता है ।

५—वह सदन मे शान्ति, व्यवस्था तथा अनुशासन बनाये रखता है और किसी सदस्य को सदन के नियमो के उल्लघन करने पर उसे निष्कासित कर

सकता है। सदन मे गंभीर अशान्ति की स्थिति मे अध्यक्ष सदन को स्थगित कर सकता है।

६—अध्यक्ष सदन की विभिन्न समितियो के अध्यक्षो की सूची तैयार करता है। वह सदन की प्रवर एव अन्य समितियो के लिए अध्यक्ष मनोनीत करता है।

७—सदन के नियमो की व्याख्या करने का अधिकार अध्यक्ष को ही है। उसके निर्णयो को चुनौती नही दी जा सकती।

८—किसी विधेयक के सबध म कि वह विधेयक, वित्त विधेयक या साधारण विधेयक है अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम है।

सक्षेप मे, विधान सभा का अध्यक्ष सदस्यो के अधिकारो का सरक्षक है। नि सदेह अध्यक्ष की यह भूमिका इस पर निर्भर है कि वह अपने कार्यो मे स्वतत्र तथा निष्पक्ष है या नही। अध्यक्ष के पद की प्रतिष्ठा को बनाये रखने का उत्तर-दायित्व कुछ मात्रा मे स्वय अध्यक्ष का है, और कुछ मात्रा मे सदन के सदस्यो पर निर्भर करता है। इस सन्दर्भ म, जहाँ तक अध्यक्ष की भूमिका का प्रश्न है, भारत के कई राज्यो मे अध्यक्षो ने पद की प्रतिष्ठा को अपने अजीब कार्यों से गहरा धक्का पहुँचाया। यहाँ हाल ही के दो उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(१) दिसम्बर १९६७, मे राज्यपाल श्री धर्मवीर ने मुख्यमत्री श्री अजय मुकर्जी के मत्री मण्डल को बर्खास्त कर दिया क्योकि श्री मुकर्जी ने विधान सभा की बैठक को बुलाने मे और यह ज्ञात करने मे कि वास्तव मे उनके मत्रीमण्डल को विधान सभा न बहुमत प्राप्त था या नही, हिचकिचाहट दिखाई। अतएव श्री धर्मवीर को यह लगा कि श्री मुकर्जी की सरकार को विधान सभा का समर्थन प्राप्त नही था। श्री मुकर्जी मत्री मण्डल को बर्खास्त कर उन्होंने श्री पी० सी० घोष को मुख्य मत्री नियुक्त किया। तत्पश्चात् जब विधान सभा की बैठक आमन्त्रित की गई विधान सभा के अध्यक्ष श्री विजय कुमार चटर्जी ने, जिनकी राय मे श्री पी० सी० घोष के मत्री मण्डल का निर्माण अवैधानिक था, विधान सभा को अपनी इच्छानुसार स्थगित कर दिया। यह विदित रहे कि विधान सभा के अध्यक्ष का कार्य सदन की कार्यवाही का सचालन करना है न कि सदन की बैठक को अवैधानिक रूप से स्थगित करना है।

२—दूसरे मामले मे पजाब की विधान सभा के अध्यक्ष ने विधान सभा को अकस्मात् स्थगित कर दिया, जिसके फलस्वरूप विधान सभा द्वारा वार्षिक आय व्ययक पारित नही किया जा सका। इसका नतीजा यह हुआ कि राज्यपाल ने अध्यादेश द्वारा विधान सभा की बैठक आमन्त्रित कर आय-व्ययक पारित करवाया। उस अवसर पर विधान सभा को पुलिस का सरक्षण दिया गया था।

इन उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि कतिपय मामलो म स्वय अध्यक्षो ने पद की प्रतिष्ठा पर अपने अवैधानिक कार्यों द्वारा आघात पहुँचाया है। इसके

विपरीत कई राज्यों की विधान सभाओं में कुछ सदस्यों ने अपने अभद्र व्यवहार से अध्यक्ष पद का अनादर किया है। उदाहरण स्वरूप १९५८ में उत्तर प्रदेश विधान सभा में विधान सभा मार्शल को अध्यक्ष के आदेशानुसार सशस्त्र पुलिस की मदद लेनी पड़ी क्योंकि समाजवादी दल के नेता तथा सदस्यों ने अध्यक्ष द्वारा उनको सदन के बाहर जाने के आदेश का उल्लंघन किया। इसी प्रकार सितम्बर १९५९ में पश्चिम बंगाल की विधान सभा में स्थिति ने यह रूप लिया कि कांग्रेस दल तथा विरोधी दल (साम्यवादी दल) के सदस्यों ने असंसदीय भाषा का प्रयोग करते हुए एक दूसरे पर जूते फेंके। ध्वनि-प्रसारण यंत्र मंत्री मण्डल के सदस्यों की ओर फेंके गये। इसके अतिरिक्त, दो सदस्यों ने एक दूसरे को चुनौती देकर आपस में हाथा पाई की। अध्यक्ष के पद की प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए तथा संसदीय पद्धति को सशक्त करने के लिए विधान सभा के सदस्यों का यह उत्तरदायित्व है कि विधान सभा में अपने आचरण को संसदीय पद्धति के अनुकूल ढालें।

राज्य विधान सभा के अधिकार—राज्य विधान सभा के विभिन्न कार्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

१—व्यवस्थापन संबंधी कार्य,

२—वित्तीय कार्य,

३—कार्यपालिका तथा प्रशासन का नियन्त्रण तथा,

४—राष्ट्रपति के निर्वाचन संबंधी कार्य।

१—व्यवस्थापन संबंधी कार्य—राज्य विधान सभा का प्रमुख कार्य विधि निर्माण करना है। राज्य विधान सभा को राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर विधि निर्माण करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त, राज्य विधान सभा को समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार है। वस्तु स्थिति यह है कि संघीय संसद व राज्य विधान मण्डलों को समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों पर कानून निर्माण करने का अधिकार है। किन्तु इस सूची में उल्लिखित किसी विषय पर किसी राज्य विधान सभा द्वारा निर्मित कानून का संघर्ष उसी विषय पर निर्मित संघीय कानून से है, तो अनुच्छेद २५४ के अनुसार संघीय कानून ही वैध माना जायेगा और जिस हद तक राज्य कानून का संघर्ष संघीय कानून से है, उस हद तक उसको अवैध माना जावेगा। तथापि यदि राज्य विधान सभा द्वारा पारित कानून को राष्ट्रपति की सहमति के लिए सुरक्षित रखा गया था और राष्ट्रपति ने उसे अपनी सहमति प्रदत्त कर दी है तो राज्य कानून वैध होगा।

संविधान द्वारा राज्य विधान मण्डलों पर विधि निर्माण के संबंध में निम्न-लिखित सीमाएँ लगायी गई हैं।

(क) कतिपय कानून जो राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित किये गये हैं, बिना राष्ट्रपति की अनुमति के वैध नहीं माने जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप अनुच्छेद ३० के अनुसार सम्पत्ति अधिग्रहण करने के लिए कानून अनुच्छेद २५४ के अनुसार समवर्ती सूची में उल्लिखित किसी विषय पर पारित कानून जिनका संघर्ष, संसद द्वारा उसी विषय पर पारित, किसी कानून से है। अनुच्छेद २८६ के अनुसार ऐसे राज्य कानून जिनके द्वारा ऐसी सम्पत्ति के क्रय-विक्रय पर कर लागू किया गया है, जो संसद ने कानून द्वारा सार्वजनिक जीवन के लिए आवश्यक निर्धारित की है।

(ख) कतिपय विधेयक राज्य विधान मण्डल के किसी भी सदन में बिना राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति के प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप, अनुच्छेद ३०४ (बी) के अनुसार ऐसे विधेयक जिनका उद्देश्य सार्वजनिक हित में राज्य के अन्दर या बाहर व्यापार वाणिज्य या लेन-देन करने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना है।

(ग) साधारणतया भारतीय संविधान में संघवाद के सिद्धान्त को अपनाने के फलस्वरूप राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर केवल राज्य विधान मण्डल ही विधि निर्माण कर सकते हैं। किन्तु संविधान में उसके कतिपय अपवाद भी हैं, जिसके अन्तर्गत संघ संसद राज्य सूची में वर्णित विषय पर कानून बना सकती है। ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) अनुच्छेद २४९ के अनुसार यदि संसद का उच्च सदन (राज्य सभा) दो तिहाई बहुमत के आधार पर यह प्रस्ताव पारित करती है कि राष्ट्रीय हित में राज्य सूची में उल्लिखित किसी विषय पर संसद को कानून बनाने का अधिकार होगा।

(२) यदि देश में संकटकालीन स्थिति की घोषणा राष्ट्रपति ने की है तो अनुच्छेद २५० के अनुसार संसद राज्य सूची में वर्णित किसी भी विषय पर कानून निर्माण कर सकती है।

(३) यदि संघ के किसी राज्य की सरकार को संविधान के प्रावधानों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत राज्य विधान मण्डल को स्थगित कर उसकी शक्तियाँ संसद में निहित कर सकता है।

राज्य विधान सभा में साधारण तथा धन विधेयक दोनों प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वस्तुतः व्यवस्थापन संबंधी शक्तियाँ विधान सभा में ही निहित हैं। क्योंकि यदि एक विधेयक विधान सभा द्वारा पारित हो जाता है परन्तु विधान परिषद (यदि राज्य में विधान परिषद है) उसका विरोध करती है तो विधान

सभा के उसी या नये सत्र मे विधेयक को पुनः पारित करने से तथा राज्यपाल की सहमति के पश्चात् विधेयक को कानून का रूप प्राप्त हो जायेगा। यदि किसी विधेयक को राज्य सभा द्वारा पारित कर विधान परिषद के विचार-विमर्श के लिए भेजा गया है और विधान परिषद उस पर कोई निर्णयात्मक कार्यवाही नही करती है तो विधान सभा उस विधेयक को विधान परिषद मे प्रस्तुत करने की तिथि के तीन माह पश्चात् पुन पारित कर सकती है। तत्पश्चात् विधेयक को विधान परिषद के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा, किन्तु यदि विधान परिषद विधेयक को अस्वीकृत करती है या ऐसे सशोधन प्रस्तुत करती है जो विधान सभा को अमान्य है, तो विधेयक को उसी स्थिति मे पारित माना जायेगा, जिस स्थिति मे मूलत उसे विधान सभा ने पारित किया था। यदि विधान-परिषद विधेयक पर, विधान सभा द्वारा पुन पारित किये जाने के पश्चात् भी ध्यान नही देती है, तो विधान परिषद के समक्ष विधेयक प्रस्तुत करने की तिथि से एक माह पश्चात्, विधेयक को दोनो सदनो द्वारा पारित माना जायेगा।

२—वित्तीय शक्तियाँ—विधान सभा को राज्य की सम्पूर्ण वित्त व्यवस्था पर नियत्रण रहता है। वित्त विधेयको को केवल विधान सभा मे ही प्रस्तावित किया जा सकता है। यदि किसी राज्य मे विधान परिषद (उच्च सदन) भी है तो वित्त-विधेयक विधान सभा मे पारित होने के पश्चात् विधान परिषद के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये। परन्तु विधान-परिषद के वित्त विधेयक के प्राप्त होने के चौदह दिनो मे, उसको प्राप्त विधेयक पर विचार कर विधान सभा को वापिस भेजना होगा। यदि इस समयावधि मे विधेयक को विधान परिषद वापस नही करती है या विधेयक पर जो आपत्तियाँ उठाती है, वे विधान सभा को मान्य नही है तो विधेयक को दोनो सदनो द्वारा पारित मान लिया जायेगा।

प्रत्येक द्वितीय वर्ष के आरम्भ मे वार्षिक आय-व्ययक को विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। व्यय के समस्त प्रस्तावो का विधान सभा के समक्ष रखना आवश्यक है परन्तु जिस व्यय को राज्य की वार्षिक आय पर दिखाया गया है उस पर पर केवल विचार विमर्श हो सकता है, परन्तु मतदान नही किया जा सकता है। अन्य व्यय सबधी प्रस्ताव विधान सभा के समक्ष अनुदान मांगो के रूपो मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अनुदान सबधी मांगो पर मतदान करने का अधिकार केवल विधान सभा को ही है। विधान सभा अनुदान की राशि को अस्वीकृत या कमकर सकती है, किन्तु इसमे वृद्धि नही कर सकती। सविधान के अनुसार किसी भी राज्य मे बिना विधान सभा की अनुमति के कोई कर लागू नही किया जा सकता है। अतएव राज्य के वित्त या धन सबधी व्यवस्था पर राज्य विधान सभा का पूर्ण नियन्त्रण है।

(३) कार्यपालिका तथा प्रशासन पर नियन्त्रण—भारतीय संघीय सरकार की भाँति राज्यो मे भी ससदीय प्रणाली लागू की गई है। दोनो स्तर पर कार्यपालिका तथा प्रशासन को व्यवस्थापिका (निम्नसदन) के प्रति उत्तरदायी माना गया है। राज्यो मे कार्यपालिकाएँ (मन्त्रीमण्डल) अपने कार्यों तथा नीतियो के लिए विधान सभाओ के प्रति उत्तरदायी हैं। ससदीय पद्धति की एक विशेषता यह है कि कार्यपालिका (मन्त्रीमण्डल) के सदस्य व्यवस्थापिका सभा के सदस्य भी होते हैं, इस कारण, व्यवस्थापिका कार्यपालिका को, विभिन्न साधनो द्वारा सरलता पूर्वक तथा प्रभावशाली रूप से नियन्त्रण मे रख सकती है।

प्राय जिन साधनो द्वारा विधान सभा कार्यपालिका को अपने नियन्त्रण मे रखती है, वे प्रश्न, पूरक प्रश्न, स्थगन, प्रस्ताव, तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन अविश्वास प्रस्ताव के रूप मे हैं। सक्षेप मे राज्य विधान सभा कार्यपालिका तथा प्रशासन पर नियन्त्रण रखकर, उसे स्वस्थ तथा सक्षम बनाने मे सहायक है।

राज्य विधान मण्डल के कार्यों का अध्ययन करते हुए यहाँ उपयुक्त होगा कि राज्यो मे विधि निर्माण का भी अध्ययन किया जाये। विधि-निर्माण-कार्य दो प्रकार के विधेयको से सबंधित हैं। साधारण विधेयक तथा वित्त विधेयक।

(१) साधारण विधेयक—साधारण विधेयको को विधान मण्डल के किसी भी सदन मे प्रस्तुत किया जा सकता है। विधेयक के विधि के रूप मे पारित होने के लिए प्रत्येक सदन मे तीन चरणो से निकलना होता है। इन तीन चरणो को सदन द्वारा विधेयक को तीन वाचनो के रूप मे देखा जा सकता है।

विधेयक का प्रथम वाचन तब होता है, जबकि सदन मे उसे प्रवृत्त किया जाता है। विधेयक का सदन मे प्रवृत्त करना एक औपचारिक कार्य है। जो सदस्य विधेयक को सदन मे प्रवर्तन करता है, वह एक सक्षिप्त भाषण देता है। परम्परानुसार इस विधेयक पर कोई बहस नही होनी है। यदि सदन विधेयक को प्रवृत्त करने के लिए स्वीकृति प्रदत्त करता है तो जो सदस्य विधेयक को प्रस्तुत कर रहा है, वह कहता है 'महोदय ! मैं विधेयक प्रवृत्त कर रहा हूँ।' यदि सदन मे विधेयक प्रस्तुत करने के प्रस्ताव का विरोध किया जाता है तो सदन का अध्यक्ष विधेयक को प्रवृत्त करने वाले सदस्य को विधेयक पर स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के लिए वक्तव्य देने की अनुमति प्रदान करता है। इसके साथ ही विरोधी सदस्य भी अपना वक्तव्य दे सकते हैं। सदन की अनुमति के पश्चात् विधेयक को प्रवृत्त माना जायेगा। विधेयक के प्रवृत्त होने के पश्चात् उसको गजट

मे प्रकाशित किया जाता है । गजट मे विधेयक के प्रकाशित होने पर विधेयक का प्रथम वाचन समाप्त हो जाता है ।

द्वितीय वाचन मे विधेयक पर दो प्रकार से विचार विमर्श किया जाता है । सर्वप्रथम, विधेयक पर सामान्य रूप से विचार-विमर्श किया जाता है । यहाँ पर जिस सदस्य ने विधेयक का प्रवर्तन किया है, वह निम्नलिखित किसी एक प्रस्ताव को प्रस्तुत करता है ।

(क) विधेयक पर तुरन्त या भविष्य मे किसी तिथि से विचार-विमर्श आरम्भ किया जाये ।

(ख) विधेयक को सदन की प्रवर सामति के समक्ष रखा जाये ।

(ग) यदि राज्य मे दो सदन हैं तो विधेयक को सदन की सयुक्त समिति के समक्ष रखा जाये, या ।

(घ) विधेयक को जनमत ज्ञात करने के लिए प्रसारित किया जाये । इस चरण मे विधेयक प्रस्तुतकर्ता सदस्य विधेयक के उद्देश्यो को स्पष्ट करता है, तथा विधेयक सबधी आवश्यक जानकारी सदन को देता है । बहस विधेयक के सिद्धान्तो तक ही सीमित रहती है । इस स्तर पर विधेयक मे कोई सशोधन नही हो सकेगा ।

द्वितीय, विधेयक पर विस्तार पूर्वक विचार-विमर्श किया जाता है । अर्थात् विधयक के विभिन्न खण्डो, भागों, अनुसूचियो, तथा सशोधनो पर एक-एक कर विचार विमर्श किया जायेगा । विधेयक को सदन की प्रवर सीमति के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है । प्रवर समिति के प्राय १० से १५ तक सदस्य होते है । सदन के अध्यक्ष द्वारा समिति के अध्यक्ष को मनोनीत किया जाता है । प्रवर समिति का कार्य विधेयक के विभिन्न खण्डो, तथा भागो का गहराई से परीक्षण करना है । इस सन्दर्भ मे समिति आवश्यक कागजात तथा साक्ष्य प्राप्त कर सकती है । समिति उन व्यक्तियों के प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित कर सकती है जिनके हित विधेयक से सबधित हैं, अन्त मे समिति का अध्यक्ष अपना प्रतिवेदन सदन के समक्ष प्रस्तुत करता है । तत्पश्चात् सदन मे विधेयक का तृतीय वाचन आरम्भ होगा ।

तृतीय वाचन–यह विधेयक का अन्तिम चरण कहलाता है । इस स्थिति मे यह प्रस्ताव रखा जाता है कि विधेयक को पारित किया जाये । साधारणतया, इस चरण मे कोई सशोधन प्रस्तावित या प्रस्तुत नही किये जाते हैं । बहस इसी विषय पर सीमित रहती है कि विधेयक को स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाये । जब विधेयक सदन द्वारा पारित हो जाता है, तो उसको दूसरे सदन मे भेज दिया जाता है, यदि राज्य मे दूसरा सदन है । उसमे विधेयक को पारित करने की प्रक्रिया पहले सदन की प्रक्रिया के समान ही होगी । दोनो सदनों से विधेयक के पारित होने के पश्चात्,

उसे राज्यपाल की सहमति के लिए भेज दिया जाता है। राज्यपाल की सहमति प्राप्त होने पर विधेयक को सरकारी गजट मे राज्य विधान मण्डल के कानून के रूप मे प्रकाशित किया जाता है। जिन विशेष विधेयको के लिए राष्ट्रपति की सहमति की आवश्यकता होती है, वे राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त होने पर ही कानून बन सकेंगे।

(२) **वित्त विधेयक**—वित्त विधेयक केवल राज्य विधान मण्डल के निचले सदन मे ही प्रवृत किये जा सकते हैं, अर्थात् वित्त विधेयक को विधान परिषद मे प्रस्तावित नही किया जायेगा। किसी प्रश्न के सबध मे कि विधेयक वित्त विधेयक है या साधारण विधेयक विधान सभा के अध्यक्ष का निर्णय ही अन्तिम माना जावेगा। वित्त-विधेयक को विधान सभा मे राज्यपाल की पूर्वानुमति के बिना प्रवृत नही किया जा सकता है। प्रत्येक वित्तीय वर्ष राज्यपाल राज्य विधान सभा के समक्ष वार्षिक आय-व्ययक प्रस्तुत करवायेगा। वार्षिक आय व्ययाक (बजट) मे, स्पष्ट रूप से सचित निधि मे से व्यय की जाने वाली राशि का तथा अन्य व्यय का उल्लेख किया जाना चाहिये। अनुच्छेद २०२ (३) के अनुसार निम्नलिखित व्यय सचित निधि मे उल्लेखित है :—

१—राज्यपाल के वेतन तथा भत्ते तथा उसके पद से सबधित अन्य व्यय।

२—राज्य विधान सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष तथा विधान परिषद के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते।

३—राज्य पर भारित ऋण तथा उसका ब्याज, निक्षेप निधि व्यय।

४—उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के वेतन तथा भत्ते।

५—वह धन राशि जो किसी न्यायालय या विवाचन अधिकरण के निर्णय या डिक्री के अन्तर्गत देना है।

६—अन्य कोई व्यय जो सविधान या राज्य सविधान मण्डल द्वारा इस निधि मे समावेशित व्यय घोषित किया गया है। इसके अतिरिक्त सविधान द्वारा निम्न लिखित व्यय राज्य सचित निधि मे से किये जायेंगे।

१—अनुच्छेद २२९ (३) के अनुसार उच्च न्यायालय के प्रशासकीय व्यय जिसमे उच्च न्यायालय के अधिकारियो और कर्मचारियो के वेतन, भत्ते एव सेवा-निवृति भी सम्मिलित हैं।

२—अनुच्छेद ३२२ के अनुसार राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा किये गये व्यय सबधित धन राशि जिसमे आयोग के कर्मचारियो के वेतन, भत्ते और सेवा-वृत्ति भी शामिल है।

यद्यपि राज्य की सचित निधि मे उल्लिखित व्यय पर राज्य विधान मण्डल मे मतदान नही किया जा सकता है; परन्तु राज्य विधान सभा मे सचित निधि मे

उल्लिखित व्यय के अनुमानो पर बहस की जा सकती है। अन्य व्यय को विधान सभा मे अनुदान की मांगो के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। विधान सभा को अनुदान की मांगो पर विचार विमर्श करने और इनको स्वीकृत या अस्वीकृत या कम करने का अधिकार है। तथापि विधान सभा को नये अनुदान के प्रस्ताव कराने का या अनुदान की मांगो मे वृद्धि करने का अधिकार नही।

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आरम्भ मे राज्य विधान सभा म वित्त मन्त्री वार्षिक आय व्ययक प्रस्तुत करता है। कुछ दिनो तक इस पर बहस की जाती है। विधान सभा के सदस्यो को इस समय सरकार की नीतियो के परीक्षण करने का अवसर भी प्राप्त होता है।

तत्पश्चात् अनुदानो की माग पर मतदान किया जाता है। प्रत्येक विभाग के लिए सबधित मन्त्री द्वारा पृथक अनुदान की मांग की जाती है। यह स्वाभाविक है कि यह एक ऐसा अवसर है जब विधान सभा के सदस्य विभाग की नीतियो तथा कार्यों का सूक्ष्म परीक्षण करते हैं। कोई भो सदस्य अनुदान की मांग को कम या अस्वीकृत करने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकता है।

अनुदान की मागो पर मतदान होने के पश्चात् राज्य विधान सभा द्वारा स्वीकृत मांगो तथा सचित निधि मे निहित व्यय के आधार पर वार्षिक विनियोग विधेयक बनाया जाता है। इस विधेयक को विधान सभा मे प्रस्तुत किया जाता है। इस विधेयक मे किसी राशि को कम करने या अनुदान के उद्देश्य मे परिवर्तन करने का कोई सशोधन प्रस्तावित नही किया जा सकता है। विनियोग विधेयक को कानून निर्माण प्रक्रिया के विभिन्न चरणो से सफलता पूर्वक निकलने पर विधान सभा द्वारा पारित माना जायेगा और यदि उक्त राज्य में विधान परिषद (उच्च सदन) है तो विधान सभा के अध्यक्ष द्वारा उक्त विधेयक को वित्त विधेयक प्रमाणित करके विधान परिषद के विचार के लिए भेज दिया जायेगा।

अन्त मे विधान सभा द्वारा वित्त विधेयक पारित किया जाता है। वित्त विधेयक पारित करने का उद्देश्य राज्य की आय के उन साधनो को निर्धारित करना है, जिनके द्वारा आगामी वर्ष के व्यय के लिए प्रावधान किया जा सके।

राज्य-न्यायपालिका

भारतीय संघ के प्रत्येक राज्य में संविधान के अन्तर्गत एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है। संविधान के अन्तर्गत संसद को यह भी अधिकार है कि दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना करे। राज्य की न्यायिक प्रणाली में उच्च न्यायालय का स्थान शिखर पर है।

उच्च न्यायालय का संगठन—प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीश होते हैं, जिनकी संख्या राष्ट्रपति एक आदेश द्वारा निर्धारित करता है। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति तथा संबंधित राज्य के राज्यपाल के परामर्शानुसार करता है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति राज्य उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्शानुसार करता है।

संविधान संशोधन अधिनियम १९५६ द्वारा राष्ट्रपति को अस्थायी, अतिरिक्त तथा कार्यवाहक न्यायाधीशों की नियुक्ति करने का अधिकार दिया गया है। अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा दो वर्ष से अधिक समय के लिए नहीं की जा सकती है। किसी स्थायी न्यायाधीश की अनुपस्थिति में, या जब वह न्यायाधीश, मुख्य न्यायाधीश के पद पर कार्य कर रहा है, राष्ट्रपति उसके स्थान पर कार्यवाहक न्यायाधीश नियुक्ति कर सकता है।

न्यायाधीशों की योग्यताएं—१—भारत का उसे नागरिक होना चाहिये।

२—भारत में किसी न्यायायिक पद पर कम से कम दस वर्ष तक रहा हो या उसे किसी उच्च न्यायालय में कम से कम दस वर्ष तक वकालत करने का अनुभव हो।

कार्यकाल—मूलतः संविधान में यह प्रावधान था कि एक न्यायाधीश अपने पद पर ६० वर्ष की आयु तक रहेगा। परन्तु संविधान के पन्द्रहवें संशोधन (संविधान संशोधन अधिनियम १९६३) द्वारा इस आयु में वृद्धि कर दी गयी है। अब यह आयु ६२ वर्ष कर दी गयी है। यदि संसद दो तिहाई बहुमत से किसी न्यायाधीश के विरुद्ध उसके दुराचार या अक्षमता के कारण प्रस्ताव करती है तो

राष्ट्रपति उक्त न्यायाधीश को पदच्युत करेगा। कोई भी न्यायाधीश राष्ट्रपति को अपना त्याग-पत्र प्रस्तुत कर पद-त्याग सकता है।

न्यायाधीशों के वेतन—उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को चार हजार रुपये तथा अन्य न्यायाधीशो को तीन हजार पांच सौ रुपये प्रतिमाह वेतन दिया जाता है। ससद विधि द्वारा न्यायाधीशो के भत्ते छुट्टियाँ तथा सेवा-वृत्ति सबधी नियम निर्धारित करती है। न्यायाधीशो के कार्यकाल मे उनके वेतन, भत्ते आदि मे कटौती नही की जा सकती है। इनके वेतन भत्तो का व्यय राज्य-सचित निधि मे से होने के कारण न्यायाधीश स्वतत्रता पूर्वक अपने कार्य कर सकते हैं, क्योकि विधान सभा मे सचित निधि मे उल्लिखित विषयो पर मतदान नही हो सकता है। अतएव ससद तथा राज्य विधान सभा न्यायाधीशो के वेतन मे कमी नही कर सकती है। तथापि, वित्तीय सकट काल की स्थिति मे न्यायाधीशो के वेतन मे कटौती की जा सकती है।

न्यायाधीशो की स्वतत्रता—उत्तम न्यायिक प्रशासन के लिए यह अति आवश्यक है कि न्यायाधीश अपने कार्यो को स्वतत्रता पूर्वक कर सकें।

सविधान मे उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो की स्वतत्रता के लिए कई प्रावधान किये गये हैं। वे निम्नलिखित हैं।

सर्वप्रथम, नियुक्ति की दृष्टि से न्यायाधीशो की नियुक्ति सविधान द्वारा निर्धारित योग्यतानुसार राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श पर करता है, तथा अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श द्वारा करता है।

द्वितीय, कार्यकाल की दृष्टि से न्यायाधीशो को सविधान के अनुसार ६२ वर्ष की आयु तक अपने पद पर रहने का अधिकार है। सविधान मे स्पष्ट रूप से दो कारणो का उल्लेख है, जिनके आधार पर ही किसी न्यायाधीश को पदच्युत किया जा सकता है। इन कारणो के आधार पर राष्ट्रपति अपने आदेशो द्वारा किसी न्यायाधीश को पदच्युत कर सकता है किन्तु राष्ट्रपति का आदेश ससद द्वारा दो तिहाई बहुमत से पारित प्रस्ताव पर आधारित होना चाहिए। यह स्पष्ट है कि न तो राष्ट्रपति को और न ही ससद को किसी न्यायाधीश को पदच्युत करने का एकाधिकार है।

तृतीय, न्यायाधीशो के वेतन सविधान द्वारा निर्धारित हैं, और इनका व्यय राज्य-सचित निधि पर भारित है। इसके अतिरिक्त, न्यायाधीशो के भत्ते तथा छुट्टियाँ और सेवा-वृत्ति सबधी अधिकार ससदीय कानून द्वारा निर्धारित किये जाते हैं, और उनके कार्यकाल मे उनकी हानि की दृष्टि से इनमे कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

चतुर्थ, राज्य उच्च-न्यायालय के प्रशासकीय व्यय भी राज्य संचित-निधि पर भारित हैं।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे अपने कार्य क्षेत्र मे पूर्णत स्वतन्त्र हैं।

उच्च न्यायालयो के कार्य तथा क्षेत्राधिकार

साधारणत एक उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार सबधित राज्य तक सीमित है। परन्तु सविधान के सातवें सशोधन से (सशोधन अधिनियम १९५६) दो या दो से अधिक राज्यो के लिए एक ही उच्च न्यायालय की व्यवस्था की जा सकती है और इस न्यायालय के क्षेत्राधिकार को सबधित सघीय भू भाग मे लागू किया जा सकता है। १९५६ के सशोधन अधिनियम के अन्तर्गत कलकत्ता उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को अण्डमान-निकोबार द्वीपो के सबध मे, केरल उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को लक्दीव, मिनीकाय तथा अमीन दीवी द्वीपो के सबध मे तथा पजाब उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को दिल्ली के सबध मे लागू किया गया। १९६० मे दिल्ली के लिए पृथक उच्च न्यायालय स्थापित किया गया। उच्च न्यायालयो के दो प्रकार के क्षेत्राधिकार है।

१—प्रारम्भिक तथा २—अपीलीय।

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार—(क) उच्च न्यायालयो को केवल निम्नलिखित विषयो के सबध मे प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार है।

१—जल सेना विभाग (एडमिरलटी)

२—वसीयत,

३—विवाह सबधी,

४—न्यायालय अपमान तथा,

५—कम्पनी-कानून।

(ख) परन्तु कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के उच्च न्यायालयों को अपने क्षेत्रों मे दीवानी तथा फौजदारी मामलो मे प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। सविधान के अनुच्छेद २२५ के अनुसार उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार वैसा ही होगा, जैसा कि १९५० में सविधान लागू होने के पूर्व था। सविधान लागू होने के पूर्व कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास उच्च न्यायालयो को प्रारम्भिक तथा अपीलीय क्षेत्राधिकार, दोनो प्राप्त थे।

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार इन न्यायालयो को निम्नलिखित मामलो मे प्राप्त था :

(१) ऐसे दीवानी मुकदमे इनमे प्रारम्भ किये जा सकते थे जिनका मूल्य दो हजार रुपये से अधिक होता था।

(२) ऐसे फौजदारी मुकदमें जो प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेटो द्वारा भेजे जाते थे, इनके द्वारा सुने जा सकते थे। भारतीय सविधान के अन्तर्गत इस स्थिति मे कोई परिवर्तन नही किया गया है। अतएव इन तीन उच्च न्यायालयो को उपर्युक्त मामलो मे प्रारम्भिक अधिकार प्राप्त है।

(ग) भारतीय सविधान के अनुच्छेद २२५ के अन्तर्गत उच्च न्यायालयो को राजस्व तथा उसकी वसूली से सबधित प्रकरणो को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार में सुनने का अधिकार भी दिया गया है।

(घ) सविधान के अनुच्छेद २२६ के अन्तर्गत उच्च न्यायालयो के मूल अधिकारो के सरक्षण के लिए विभिन्न प्रकार के आदेश या लेख लागू करने के अधिकार प्राप्त हैं। विभिन्न लेख इस प्रकार के है —(१) बन्दी प्रत्यक्षीकरण, (२) परमादेश, (३) प्रतिषेध, (४) उत्प्रेषण, (५) अधिकार-पृच्छा।

उच्च न्यायालय द्वारा ये लेख अपने क्षेत्राधिकार से सबधित राज्य मे किसी भी व्यक्ति, सत्ता या सरकार के विरुद्ध जारी किये जा सकते है।

अपीलीय क्षेत्राधिकार—अपीलीय क्षेत्राधिकार मे उच्च न्यायालय को दीवानी, फौजदारी तथा मालगुजारी मुकदमो पर निम्न श्रेणी के न्यायालयो के निर्णय के विरुद्ध अपील मे स्वीकार करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त आय-कर, बिक्री-कर, आदि प्रकरणो के लिए स्थापित न्यायाधिकरणो के निर्णयो के विरुद्ध उच्च न्यायालयो को अपील की जा सकती है।

सविधान के अन्तर्गत उच्च न्यायालयो को अन्य भी कुछ कार्य सौंपे गये हैं जो निम्नलिखित हैं।

अनुच्छेद २२७ के अनुसार अधीक्षण का अधिकार प्रदान किया गया है। इस अधिकार के सन्दर्भ मे उच्च न्यायालय को अपने अधीनस्थ न्यायालयो तथा न्यायाधिकरणो का (सैनिक-न्यायाधिकरणो को छोडकर) अधीक्षण (निरीक्षण), करने का अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय निम्न कार्य कर सकता है।

१—उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालय के कार्यों का विवरण उससे मांग सक्ता है।

२—उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालय की कार्य प्रणाली को निर्धारित करने के लिए नियम बना सकता है।

३—उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयो के अभिलेखो तथा कागजातो के रखने के लिए आदेश दे सक्ता है।

४—उच्च न्यायालय किसी प्रकरण को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय को विचार या निर्णय के लिए भेज सकता है।

५—उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालय मे शेरिफ, लिपिक तथा अन्य अधिकारियो तथा वकील और अभिभावको के शुल्क निश्चित कर सकता है।

अनुच्छेद २२८ के अनुसार यदि उच्च न्यायालय को निश्चय हो जाता है कि किसी निम्न श्रेणी के न्यायालय के समक्ष ऐसा प्रकरण है जिसमें सविधान की व्याख्या के लिए कोई कानूनी प्रश्न निहित है तो वह स्वय उस प्रकरण पर विचार करके निर्णय दे सकता है, या उक्त कानूनी प्रश्न पर निर्णय देकर अपने निर्णय की एक प्रति अधीनस्थ न्यायालय को भेजेगा। ऐसी स्थिति मे अधीनस्थ न्यायालय अपना निर्णय उच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार ही देगा।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय के समान प्रत्येक राज्य का उच्च न्यायालय भी एक अभिलेख न्यायालय है। एक अभिलेख न्यायालय के नाते उच्च न्यायालय के अभिलेख अन्य न्यायालयो के समक्ष साक्ष्य के रूप म प्रस्तुत किय जा सकते हैं। किसी न्यायालय मे प्रस्तुत किये जाने पर उच्च न्यायालय के अभिलेखो की वैधानिकता पर सदेह नही व्यक्त किया जा सकता है।

उच्च न्यायालय के अधिकारियो तथा कर्मचारियो की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश या उसके द्वारा अधिकृत कोई अन्य न्यायाधीश करता है। उच्च न्यायालय के कर्मचारियो की सेवा शर्तों का निर्धारण मुख्य न्यायाधीश ही करता है। परन्तु इनके वेतन भत्ते, अवकाश तथा सेवा वृत्ति के सबध मे नियमो के लिए राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है।

सविधान के अनुच्छेद २३५ के अनुसार जिला न्यायालयो और उनके अधीनस्थ न्यायालयो के नियत्रण का अधिकार राज्य के उच्च न्यायालय मे निहित हैं।

अनुच्छेद २३६ के अनुसार न्यायिक पदों को दो श्रेणियो मे रखा गया है, जो निम्नलिखित हैं (i)–उच्च श्रेणी मे जो पद रखे गये हैं, वे इस प्रकार हैं— जिला न्यायाधीश, सत्र-न्यायाधीश, दीवानी न्यायालय के न्यायाधीश, सहायक जिला तथा सत्र-न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय के न्यायाधीश एव मुख्य प्रेसीडेन्सी न्यायाधीश (मजिस्ट्रेट)। इस श्रेणी के न्यायाधीशो की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा सबधित राज्य के उच्च न्यायालय के परामर्श पर की जाती है। इस श्रेणी मे उल्लिखित किसी पद पर नियुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसको कम से कम सात वर्ष वकालत का अनुभव हो तथा उसका नाम नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय द्वारा प्रस्तुत किया गया हो।

(ii) निम्न श्रेणी मे जो पद रखे गये है, वे समस्त न्यायिक पद जो जिला न्यायाधीश, सत्र न्यायाधीश, दीवानी न्यायालय के न्यायाधीश, सहायक न्याया-

धीश, तथा सत्र न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय के न्यायाधीश एवं मुख्य प्रेसीडेन्सी न्यायाधीश के पदो से निम्न स्तर के हैं। इस दूसरी श्रेणी म न्यायिक पदो पर नियुक्ति राज्यपाल राज्य लोक सेवा आयोग तथा सबधित राज्य के उच्च न्यायालय के परामर्श पर करता है।

उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय

राज्य मे उच्च न्यायालय के अधीन तीन प्रकार के न्यायालय हैं। वे इस प्रकार हैं —

१—फौजदारी न्यायालय २—दीवानी न्यायालय, तथा ३—मालगुजारी न्यायालय।

१—फौजदारी न्यायालय—प्रत्येक जिले मे उच्च श्रेणी का फौजदारी न्यायालय सत्र (सेशन्स) न्यायालय है। इस न्यायालय के न्यायाधीश को सत्र-न्यायाधीश कहते है। सत्र-न्यायाधीश की सहायता के लिए सहायक सत्र-न्यायाधीश होते हैं। सत्र-न्यायाधीश के अधीन तीन प्रकार के न्यायाधीश होते हैं। प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट, द्वितीय श्रेणी मजिस्ट्रेट तथा तृतीय श्रेणी मजिस्ट्रेट।

प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट दो वर्ष तक का कारावास और एक हजार रुपये का दण्ड दे सकता है। द्वितीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट छ. माह का कारावास और तीन सौ रुपये का दण्ड दे सकता है, और तृतीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट एक माह का कारावास तथा पचास रुपये का दण्ड दे सकता है। सत्र-न्यायाधीश प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के निर्णयो के विरुद्ध अपील सुनता है। सत्र-न्यायाधीश को मृत्यु दण्ड अधिकार है, किन्तु उच्च न्यायालय द्वारा मृत्यु दण्ड का अनुमोदन होना आवश्यक है।

२—दीवानी न्यायालय—प्रत्येक जिले मे उच्च श्रेणी का दीवानी न्यायालय, जिला न्यायाधीश का न्यायालय (डिस्ट्रिक्ट कोर्ट) होता है। वस्तुस्थिति यह है कि एक ही व्यक्ति सत्र (सेशन्स) न्यायाधीश तथा जिला न्यायाधीश का पद ग्रहण किये रहता है। फौजदारी प्रकरणो को सुनते समय वह सत्र-न्यायाधीश कहलाता है। परन्तु जब दीवानी प्रकरणो को सुनता है तब उसे जिला-न्यायाधीश कहा जाता है। जिला-न्यायाधीश के न्यायालय को दीवानी मामलो मे प्रारम्भिक तथा अपीलीय दोनो प्रकार के क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। और विशेष कानूनो के सबध मे, जैसे—उत्तराधिकार कानून, अभिभावक और प्रतिपाल्य कानून, विवाह-विच्छेद कानून तथा प्रान्तीय दिवालिया कानून के सन्दर्भ मे इसे विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त है। जिला न्यायालय को दीवानी मामलो मे क्षेत्राधिकार रखने वाले अधीनस्थ न्यायालयो के निरीक्षण करने का अधिकार है।

जिला न्यायाधीश के न्यायालय के नीचे सिविल जज, मुंसिफ, लघुवाद न्यायालय, तथा पंचायती अदालतें होती हैं।

३—*मालगुजारी न्यायालय*—रेवन्यु बोर्ड राज्य में सबसे उच्च मालगुजारी न्यायालय होता है। इसके द्वारा कमिश्नरी के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनी जाती है। कमिश्नर के अधीन, जिलाधीश तथा सहायक जिलाधीश के न्यायालय होते हैं, और इनके अधीन तहसीलदार तथा नायब तहसीलदार होते हैं। इस न्यायालय द्वारा भूमि या लगान संबंधी प्रकरणों पर निर्णय दिया जाता है।

संघ तथा राज्य-संबध

भारतीय संविधान के लागू होने के पूर्व भारत सरकार अधिनियम १९३५ के अन्तर्गत भारत मे ब्रिटिश राज्य के दौरान, तीन प्रकार की राजनीतिक इकाइयाँ थी। प्रथम—ग्यारह ब्रिटिश भारतीय प्रान्त थे। इनके नाम इस प्रकार हैं—मद्रास, बम्बई, बगाल, असम, उत्तरप्रदेश, पजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती प्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, सिन्ध तथा उडीसा। प्रत्यक ब्रिटिश भारतीय प्रान्त का प्रशासकीय प्रमुख एव राज्यपाल होता था।

द्वितीय—कुछ भारतीय नरेशो की रियासते, जिन्होने १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय सघ मे सम्मिलित होना स्वीकृत कर लिया था।

तृतीय—६ मुख्य आयुक्त प्रान्त थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—'ब्रिटिश बलूचिस्तान, दिल्ली, अजमेर-मेरवाडा, कुर्ग, अण्डमान निकोबार द्वीप और पन्त-पिपलोदा।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद ३ के अनुसार भारत एक सघ है। जब १९५० मे सविधान लागू किया गया तब मूलत चार प्रकार की राजनीतिक इकाइयो की स्थापना की गई। ये निम्नलिखित हैं।

१—भाग 'क' के राज्य असम, आंध्र, बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, उडीसा, पजाब, उत्तरप्रदेश, पश्चिम बगाल। वास्तव मे ये राज्य पूर्व मे ब्रिटिश भारतीय प्रान्त थे। भारतीय सविधान के अन्तर्गत इनमे से प्रत्येक राज्य का प्रशासकीय प्रमुख राज्यपाल होता था।

२—भाग 'ख' के राज्य—हैदराबाद, जम्मू कश्मीर, मध्य-भारत, मैसूर, पेप्सू, राजस्थान, सौराष्ट्र, त्रावणकोर कोचीन थे। सविधान लागू होने से पूर्व ये राज्य देशी रियासतो के रूप मे थे। भारतीय सविधान के अन्तर्गत भाग 'ख' के प्रत्येक राज्य का प्रशासकीय प्रमुख राजप्रमुख कहलाता था।

३—भाग 'ग' के राज्य—'अजमेर, भोपाल, कुर्ग, हिमाचल-प्रदेश, कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा, विन्ध्य प्रदेश।

४—भाग 'घ' के राज्य—अण्डमान-निकोबार द्वीप। भाग 'ग' तथा 'घ' के राज्य केन्द्रीय प्रशासित राज्य थे। केन्द्र सरकार द्वारा इनका प्रशासन

उपराज्यपाल या मुख्य-आयुक्त या किसी राज्य सरकार के माध्यम से किया जाता था।

जब भारतीय संविधान का निर्माण हो रहा था तब संविधान सभा के अध्यक्ष द्वारा एक समिति नियुक्ति की गई। उस समिति को 'दर-समिति' की संज्ञा दी गई थी। इस समिति को यह कार्य सौंपा गया था कि भारत के राज्यों को भाषा के आधार पर पुनर्गठन के प्रश्न की जाँच करे। १९४८ में 'दर-समिति' ने भाषा के आधार पर राज्य के पुनर्गठन के विरुद्ध अपना प्रतिवेदन दिया। तत्पश्चात् कांग्रेस ने १९४८ में अपने जयपुर अधिवेशन में एक समिति की नियुक्ति की, जिसमें तीन सदस्य थे, पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, तथा डॉ० पट्टाभि सीतारामैया। अपने प्रतिवेदन में १९४९ में इस समिति ने कहा 'समिति राज्यों के पुनर्गठन के लिए भाषा के आधार को स्वीकृत करती है।' किन्तु राज्यों का पुनर्गठन उस समय उपयुक्त नहीं था, तथापि पारस्परिक समझौतों के आधार पर निर्धारित क्षेत्रों में नये राज्यों का निर्माण किया जाना सम्भव था। इस आधार पर दक्षिण भारत के आन्ध्र क्षेत्र में नये राज्य की स्थापना करना संभव था। परन्तु कुछ कारणवश, जैसे-'राजधानी' के प्रश्न पर कोई निश्चित समझौता नहीं हो सका और आन्ध्र के निर्माण को स्थगित कर दिया गया। परन्तु जनता के आन्दोलन तथा श्री रामुलू के उपवास करने के फलस्वरूप मृत्यु हो जाने पर आन्ध्र प्रदेश की स्थापना १९५३ में हुई।

१९५३ में आन्ध्रप्रदेश की स्थापना होने से भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के आन्दोलन को अधिक गति मिली।

दिसम्बर २२, १९५३, को प्रधान मंत्री पं० नेहरू ने संसद में घोषणा की कि राज्यों के पुनर्गठन के प्रश्न को निष्पेक्षता पूर्वक जाँचने के लिए एक उच्च स्तरीय आयोग नियुक्त किया जायेगा। तत्पश्चात् तीन सदस्यीय राज्य पुनर्गठन आयोग नियुक्त किया गया। डा० हृदयनाथ कुंजरू इस आयोग के अध्यक्ष थे। श्री सैयद फजलअली तथा सरदार के० एम० पणिक्कर इस आयोग के अन्य दो सदस्य थे। राज्य पुनर्गठन आयोग ने भारत सरकार को अपना प्रतिवेदन ३० सितम्बर १९५५ को प्रस्तुत किया। आयोग ने अपने प्रतिवेदन में भारत संघ की एकता तथा एक राष्ट्रीयता पर विशेष रूप से बल दिया। आयोग ने 'एक भाषा, एक राज्य' के सिद्धान्त को दृढ़ता पूर्वक अस्वीकृत किया। आयोग का एक महत्वपूर्ण सुझाव यह भी था कि भारत संघ की राजनीतिक इकाइयों में संवैधानिक एकरूपता होना आवश्यक है। इस उद्देश्य से आयोग ने सुझाव दिया कि भारत संघ की केवल दो इकाइयाँ होना चाहिये, जो निम्नलिखित हैं :—

१—विभिन्न राज्य, संघ की इकाइयों के रूप में।

२—वे भू-भाग जो केन्द्र द्वारा शासित होगें।

राज्य पुनर्गठन आयोग के विभिन्न सुझावो पर राज्य पुनर्गठन अधिनियम १६५६ तथा सविधान सशोधन अधिनियम (सातवाँ सशोधन) ससद द्वारा पारित किया गया।

राज्य पुनर्गठन अधिनियम १६५६ तथा सविधान सशोधन अधिनियम १६५६ (सातवें सशोधन) के अन्तर्गत भारत सघ मे राज्यो का पुनर्गठन करने के फलस्वरूप १४ राज्यो तथा ६ सघीय भू-भागो की स्थापना की गई। य १४ राज्य निम्नलिखित थे .—

१—आन्ध्रप्रदेश, २—असम, ३—विहार, ४—बम्बई, ५—केरल, ६—मध्यप्रदेश, ७—मद्रास, ८—मैसूर, ६—उडीसा, १०—पजाब, ११—राजस्थान, १२—उत्तरप्रदेश, १३—पश्चिम बगाल, तथा १४— जम्मू-कश्मीर।

इनके अतिरिक्त ६ सघीय भू-भाग इस प्रकार थे।

१—दिल्ली, २—हिमाचल प्रदेश, ३—मणिपुर, ४—त्रिपुरा, ५—अण्डमान-निकोबार द्वीप तथा ६—लक्कदीप-मिनक्वाय तथा अमीनदीवी द्वीप।

१ मई १६६० को भारतीय राजनीतिक नक्शे मे पुन. परिवर्तन हुआ जब बम्बई को दो राज्यो—महाराष्ट्र और गुजरात मे विभाजित कर दिया गया। तत्पश्चात् १६६० मे पुर्तगाल के मुक्त कराये गये दो क्षेत्रो—दादरा नगर-हवेली तथा गोवा-दमन-द्यू—को सघीय भू-भाग का स्तर दिया गया। इसी प्रकार 'पाण्डुचेरी' को, जो पूर्व म फ्रान्स का एक उपनिवेश था, एक सघीय भू-भाग के रूप मे मान्यता दी गई। १६६२ म एक नये राज्य नागालैण्ड का निर्माण किया गया। नवम्बर १६६६ मे पजाब को विभाजित करके दो राज्य पजाब तथा हरियाणा स्थापित किये गये और इनके साथ ही कुछ समय के लिए चण्डीगढ को केन्द्र-प्रशासित क्षेत्र का रूप दिया गया। सविधान सशोधन अधिनियम १६६६ द्वारा असम राज्य मे ही एक स्वायत्त पहाडी राज्य की स्थापना की गई जिसका नाम 'मेघालय' राज्य रखा गया। मेघालय तथा असम के लिए एक ही राज्यपाल का प्रावधान किया गया। दोनो राज्यो—असम तथा मेघालय के लिए सयुक्त उच्च न्यायालय तथा लोक सेवा आयोग की स्थापना की गई। किन्तु मेघालय के लिए पृथक मत्री-मण्डल का प्रावधान किया गया। कुछ विषयो पर मेघालय राज्य को कानून निर्माण करने के अधिकार दिये गये। वे निम्नलिखित हैं।

शिक्षा, कृषि, सहकारिता, चिकित्सा, स्वास्थ्य, यातायात, गृह उद्योग, न्याय तथा राजस्व। अन्य विषय, जैसे—सिचाई, बिजली, बाढ नियन्त्रण, बडे उद्योग, जल-परिवाहन, बडे मार्ग आदि असम राज्य के क्षेत्र अधिकार मे छोड दिये गये।

जनवरी २५, १९७१ मे हिमाचल प्रदेश को सघ के एक राज्य के रूप मे मान्यता दी गई। दिसम्बर १९७१ मे २७वें सविधान सशोधन द्वारा तीन नये राज्यो की स्थापना की गई है। ये हैं—मेघालय, मणिपुर तथा त्रिपुरा।

इनके अतिरिक्त, २७वें सशोधन अधिनियम १९७१ के अन्तर्गत दो सघीय भू भाग भी स्थापित किये गये। ये हैं—मिजोराम तथा अरुणाचल प्रदेश। अब भारत सघ मे निम्नलिखित राज्य हैं :—

१—आन्ध्रप्रदेश, २—असम, ३—बिहार, ४—महाराष्ट्र, ५—गुजरात, ६—केरल, ७—मध्य प्रदेश, ८—तमिलनाडु, ९—मैसूर, १०—उडीसा, ११—पजाब, १२—उत्तर प्रदेश, १३—हिमाचल प्रदेश, १४—पश्चिम बगाल, १५—राजस्थान, १६—जम्मू-कश्मीर, १७ हरियाणा, १८—मेघालय, १९—मणिपुर, तथा २०—त्रिपुरा।

इसी प्रकार सघीय भू-भागो मे वृद्धि हुई है; और वे निम्नलिखित हैं :—

१—दिल्ली, २—अण्डमान-निकोबार द्वीप, ३—लक्कादीव, मिनीकवाय, तथा अमीनदीवी द्वीप, ४—दादरा नगर हवेली, ५—गोवा-डमन्-ड्यु, ६—पाण्डुचेरी, ७—मिजोराम, तथा ८—अरुणाचल प्रदेश।

सघीय भू-भागो का प्रशासन सघीय सरकार द्वारा किया जाता है। किन्तु सघ के राज्यो को सविधान द्वारा पृथक क्षेत्राधिकार प्रदत्त किये गये हैं।

भारतीय सविधान के अन्तर्गत सघीय व्यवस्था को मान्यता प्रदत्त की गई है। इस सन्दर्भ मे, सविधान द्वारा दो प्रकारो की सरकारो-सघीय और राज्य सरकारो की स्थापना की गई है। दोनो प्रकार की सरकारो के पृथक अस्तित्व तथा पृथक क्षेत्राधिकार हैं। परन्तु सविधान के अन्तर्गत सघ तथा राज्यो के सबधो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है।

१—सघ तथा राज्यो के व्यवस्थापन सम्बन्ध,
२—सघ तथा राज्यो के प्रशासकीय सम्बन्ध, और
३—सघ तथा राज्य के वित्तीय सम्बन्ध।

१—सघ तथा राज्यो के व्यवस्थापन सम्बन्ध

सघ तथा राज्यो के व्यवस्थापन सम्बन्ध का अध्ययन सविधान मे उल्लिखित तीन विभिन्न व्यवस्थापन सम्बन्धी सूचियो के दृष्टिकोण से करना आवश्यक है। सघवाद के मूल सिद्धान्त (शक्ति विभाजन के सिद्धान्त) को, भारतीय सविधान मे तीन व्यवस्थापन सम्बन्धी सूचियो के आधार पर ठोस रूप दिया गया है अर्थात् इन तीन सूचियो द्वारा सघ और राज्य सरकारो के मध्य शक्ति विभाजन किया गया है जिससे इन सरकारो के क्षेत्राधिकार स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिये गये हैं। ये तीन सूचियाँ निम्न लिखित है :—

(क) संघ सूची—संघ सूची में ९७ विषय हैं, जिन पर केवल संघ-संसद कानून बना सकती है। इनमें मुख्य विषय हैं—प्रतिरक्षा, वैदेशिक सबंध, संधियाँ, युद्ध, शान्ति, सशस्त्र सेना, अणु शक्ति, रेल, समुद्रीपथ, वायु मार्ग, डाक-तार और टेलीफोन, संघीय लोक ऋण, मुद्रा और उसका निर्माण विदेशों से व्यापार, अन्तर्राज्य-व्यापार और वाणिज्य, भारतीय रिजर्व बैंक, वित्तीय निगम, बीमा, खदान और खनिज पदार्थ तैल संस्थानों का विकास, उद्योग नियन्त्रण, संघीय लोक सेवाएं, निर्वाचन (संघ और राज्य), सर्वोच्च न्यायालय का संगठन और निर्माण, आयकर, नागरिकता, तथा विदेशियों का नागरिकीकरण, राष्ट्रीय महत्व के उद्योग, नमक उद्योग, दिल्ली, बनारस और अलीगढ़ विश्वविद्यालय, संघ और राज्यों का लेखा-परीक्षण और लेखाकन, राष्ट्रीय महत्व के वैज्ञानिक और तकनीकी संस्थान, ऐतिहासिक स्मारक, मत्स्य, अफीम, समाचार पत्र के विक्रय-कर आदि।

(ख) राज्य सूची—राज्य सूची में ६६ विषय हैं। राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर साधारणतया संघवाद के सिद्धान्त के अनुकूल राज्य विधान मण्डलों को कानून निर्माण करने का अधिकार प्राप्त है। कतिपय विशेष परिस्थितियों में जिनका उल्लेख स्पष्ट रूप से संविधान में किया गया है, संघ संसद इन विषयों पर कानून बना सकती है। परन्तु संघवाद के सिद्धान्त के आधार पर साधारणतया इन विषयों पर राज्य विधान मण्डलों का ही क्षेत्राधिकार है। राज्य सूची में कुछ मुख्य विषय इस प्रकार हैं—राज्य लोक ऋण, नाप और तौल, सार्वजनिक कानून और व्यवस्था, पुलिस और न्याय व्यवस्था, जल, शिक्षा, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य चिकित्सालय, पशु कृषि, पशुपालन, सिंचाई, वन उद्योग और वाणिज्य, ग्राम सुधार मनोरंजन कर, छविगृह, राज्य लोक सेवाएं, राज्य लोक सेवा आयोग, भूमिकर, कृषि आय कर, सिवाय समाचार पत्रों के अन्य वस्तुओं पर विक्रयकर, वाहन कर, पशु और नावों पर कर, व्यवसाय तथा जीविका पर कर, विद्युत कर, सट्टा तथा जुआ आदि।

(ग) समवर्ती सूची—समवर्ती सूची में ४७ विषय उल्लिखित हैं। इन विषयों पर संघीय संसद तथा राज्य विधान मण्डलों को विधि निर्माण करने के समवर्ती अधिकार प्राप्त हैं। संविधान के अनुच्छेद २५४ के अनुसार यदि इस सूची में उल्लिखित किसी विषय पर संघीय संसद तथा किसी राज्य विधान मण्डल द्वारा कानून निर्मित किया जाता है और दोनों कानूनों में संघर्ष है तो जिस हद तक राज्य कानून का संघीय कानून से संघर्ष है, राज्य कानून को उस हद तक अवैध माना जायेगा। परन्तु यदि संघीय संसद के किसी विषय पर कानून निर्माण करने के पश्चात् यदि कोई राज्य विधान मण्डल द्वारा उसी विषय पर कानून निर्मित किया जाता है, जिसको राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रखने के पश्चात उसकी सहमति मिल गई है तो राज्य कानून मान्य होगा। परन्तु संघीय

संसद तत्पश्चात् उक्त राज्य कानून को परिवर्तित या समाप्त कर सकती है। डा० एम० पी० शर्मा ने एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। "हम मान लें कि एक राज्य कानून, उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश विधान सभा का कानून, जिसके द्वारा प्रेस की स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, कानून की पुस्तक में रखा जाता है। संघीय संसद एक कानून पारित करती है जिससे यह प्रतिबन्ध हटा दिये जाते हैं। अब संघीय कानून लागू होगा और उत्तर प्रदेश का कानून जिस सीमा में संघीय कानून से विरोध में है, उस सीमा तक अवैध होगा। तत्पश्चात्, उत्तर प्रदेश विधान सभा एक और कानून पारित करती है, जिसके द्वारा उन प्रतिबन्धों को जो संघीय कानून द्वारा हटा दिये गये थे, पुनः लागू कर दिया जाता है। अब उत्तर प्रदेश के कानून को राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रखना होगा। और यदि राष्ट्रपति उत्तर प्रदेश की परिस्थितियों को देखते हुए अपनी सहमति देता है तो यह कानून (उत्तर प्रदेश का) पहले संघीय कानून से संघर्ष में होने के बावजूद भी वैध होगा। यदि संघीय संसद उत्तर प्रदेश में प्रेस को स्वतन्त्र करने के लिए पुनः एक कानून पारित करना चाहती है तो वह ऐसा कर सकती है।"[1]

समवर्ती सूची में मुख्य विषय इस प्रकार हैं।

दण्ड विधि, दण्ड प्रक्रिया, निवारक निरोध (नजरबन्दी), दीवानी प्रक्रिया, विवाह तथा विवाह विच्छेद (तलाक), दिवालियापन, उत्तराधिकार, सम्पत्ति का (सिवाय कृषि सबंधी) हस्तान्तरण, संविदा, खाद्य पदार्थों तथा अन्य वस्तुओं में मिलावट, पागलपन, साक्ष्य तथा प्रतिज्ञा, औषधियाँ तथा विष, औषधियाँ तथा अन्य वस्तुएँ, आर्थिक तथा सामाजिक परियोजनाएँ, व्यापार संघ, श्रम विवाद और श्रम कल्याण, कानून, चिकित्सा तथा अन्य व्यवसाय, समाचार पत्र तथा प्रेस, पुस्तकें, जीवन मरण के आँकड़े, औद्योगिक वस्तुएँ, खाद्य-पदार्थ, पशु-भोजन कच्ची रुई, रुई के बीज तथा कच्चे जूट का उत्पादन तथा वितरण, अन्यत्र जाने वाले शरणार्थियों की सम्पति आदि।

भारतीय संविधान में अवशिष्ट शक्तियों के लिए अनुच्छेद २४८ में प्रावधान किया गया है। अवशिष्ट शक्तियाँ वे शक्तियाँ हैं, जो उपर्युक्त तीन सूचियों में उल्लिखित नहीं हैं। भारत में अवशिष्ट शक्तियों को संघीय सरकार में निहित किया गया है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, तथा स्वीजरलैण्ड में अवशिष्ट शक्तियाँ राज्य सरकारों को प्राप्त हैं, जबकि कैनेडा में ये शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार में निहित हैं।

---

१. एम० पी० शर्मा—'द गवर्नमेन्ट आफ द इण्डियन रिपब्लिक, १९६१ पृ० ८०।

भारतीय संविधान में संघवाद के सिद्धान्त को अपनाने के फलस्वरूप संघ और राज्य सरकारों के क्षेत्राधिकार अलग-अलग निर्धारित किये गये हैं, तथापि कतिपय ऐसी परिस्थितियों का संविधान में उल्लेख किया गया है जिनमें संघ संसद राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण कर सकेगी। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं —

१—संघ संसद राज्य-सूची में उल्लिखित किसी विषय पर अनुच्छेद २४९ के अन्तर्गत कानून निर्माण कर सकती है, यदि राज्य विधान सभा ने दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित किया है कि उक्त विषय का महत्व राष्ट्रीय हो गया है। राज्य विधान सभा का यह प्रस्ताव एक वर्ष तक रहेगा। राज्य सभा इस प्रकार के प्रस्ताव को अनेक बार पुर्ननिर्मित कर सकती है। संघ संसद द्वारा इस प्रकार के जो कानून पारित किये जाते हैं, वे राज्य विधान सभा द्वारा पारित प्रस्ताव की समयावधि में समाप्त होने के ६ माह बाद तक वैध माने जायेंगे।

२—अनुच्छेद ३५२ के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जब संकटकालीन उद्घोषणा की जायेगी तब संघीय संसद, अनुच्छेद २५० के अनुसार, किसी भी विषय पर (राज्य सूची में उल्लिखित विषयों सहित) भारत या भारत के किसी प्रदेश के लिए कानून निर्माण कर सकेगी। संसद द्वारा पारित इस प्रकार के कानून संकट-कालीन उद्घोषणा के समाप्त होने के ६ माह के बाद समाप्त हो जायेंगे।

३—अनुच्छेद २५२ के अनुसार यदि दो या दो से अधिक राज्य विधान मण्डलों ने प्रस्ताव पारित किया है कि संसद उन राज्यों के लिए राज्य सूची में उल्लिखित किसी विषय या विषयों पर कानून निर्माण करे तो संसद को उन राज्यों के संबंध में राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर कानून निर्माण करने का अधिकार प्राप्त होगा।

४—अनुच्छेद २५३ के अनुसार संघीय संसद को किसी संधि समझौते या उपसंधि, जो संघीय सरकार ने किसी विदेश या विदेशों से की है या किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, समुदाय या अन्य संस्था के निर्णय के क्रियान्वयन के लिए कानून-निर्माण करने का अधिकार है। इस प्रकार संसद द्वारा निर्मित कानून संघ के किसी भी राज्य या समस्त भारत में लागू होगा।

५—यदि अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत संघ के किसी राज्य में उक्त राज्य के संवैधानिक यन्त्र के असफल होने के कारण राष्ट्रपति शासन लागू किया गया हो, तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा संसद को उक्त राज्य के लिए राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर कानून निर्माण करने के लिए अधिकृत कर सकता है। संसद स्वयं इन शक्तियों के उपयोग करने के बजाय राष्ट्रपति को अनुच्छेद ३५७ (१) व (२) के अन्तर्गत यह शक्ति प्रदान कर सकती है, और उसको अधिकृत कर

सकती है कि किसी अन्य प्राधिकारी को जिसका राष्ट्रपति उल्लेख करता है, यह शक्ति प्रदत्त की जाये।

६—संघ के विभिन्न राज्यों में राज्यपाल एक कड़ी के रूप में है, जिससे संघीय तथा राज्य शासनों को कतिपय महत्वपूर्ण विषयों के सन्दर्भ में जोड़ा जाता है। राज्यपाल की यह भूमिका उस समय विशिष्ट रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है, जब राज्य सरकार को संविधान के प्रावधानों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। राज्य विधान-मण्डलों द्वारा पारित कतिपय विधेयक, उदाहरण स्वरूप जो समवर्ती सूची में उल्लिखित किसी विषय पर पारित विधेयक जो संघीय विधि से संघर्ष में है, या जो अनुच्छेद ३१ के अन्तर्गत सम्पत्ति के अधिग्रहण से संबंधित है या जो अनुच्छेद २८६ म उल्लिखित विशेष करों (जो वस्तुओं के क्रय एवं विक्रय पर जहाँ ऐसा क्रय या विक्रय, (क) राज्य के बाहर अथवा (ख) भारत राज्य क्षेत्र में वस्तुओं के आयात अथवा उसके बाहर निर्यात से संबंधित है) से संबंधित हैं, उनको राज्यपाल राष्ट्रपति की सहमति के लिए सुरक्षित रखेगा, क्योंकि बिना राष्ट्रपति के सहमति के ऐसा विधेयक कानून नहीं बन सकते है।

संविधान के उपर्युक्त प्रावधान भारत में संघीय सरकार को शक्तिशाली रखने में सहायक हुए हैं। इनके कारण संविधान के अन्तर्गत संघवाद के विद्यमान होने के उपरान्त भी कुछ एकात्मक प्रवृत्तियों को भारतीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। आवश्यकतानुसार संघीय संसद को राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर कानून बनाने के लिए अधिकृत करने के फलस्वरूप इन प्रावधानों का प्रभाव यह होता है कि इससे संघ राज्यों की एक मूल त्रुटि को, जो डायसी ने बताई है, नियन्त्रण म लाया जा सकता है। वह है—"केन्द्रीय सरकार की शक्ति विभाजन के कारण देश के आन्तरिक तथा बाह्य मामलों के प्रबन्ध करने के संबंध में कमजोरी।"[1]

२—संघ तथा राज्यों के प्रशासकीय संबंध

यद्यपि संघीय व्यवस्था म शक्तियों का विभाजन करते हुए दो प्रकार की सरकारों—केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारों के लिए क्षेत्राधिकार पृथक किये जाते हैं, संघवाद का उद्देश्य, जैसा प्रो० डायसी ने बताया है, राष्ट्रीय एकता तथा राज्यों की स्वायतत्ता को हासिल करना है। संघवाद के अन्तर्गत ही राष्ट्रीय एकता तथा राज्यों की स्वायतत्ता दोनों संभव हो सकते हैं। राष्ट्रीय एकता तथा राज्यों की स्वायतत्ता का साधारण तया समान महत्व रहता है। किन्तु राज्यों के स्वायतत्ता

१. वही पृ० ८३।

के दावे उस हद तक स्वीकृत नहीं किये जा सकेंगे जिससे राष्ट्रीय एकता पर आघात पहुँचने की संभावना होगी। राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में यह कहना सत्य है कि समस्त राष्ट्र को एक प्रशासकीय इकाई मानते हुए ही राष्ट्रीय एकता की नींव दृढ़ की जा सकती है।

भारतीय संविधान के अंतर्गत संघीय तथा राज्यों के प्रशासकीय संबंधों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से संघीय सरकार को राज्यों के संबंध में कतिपय प्रशासकीय शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं जिनका अध्ययन दो विषयों के आधार पर किया जा सकता है।

(क) राज्यों पर प्रशासकीय नियंत्रण हेतु संघीय सरकार के साधन, और

(ख) अंतर्राज्यीय सहयोग तथा संघ सरकार की भूमिका

क राज्यों पर प्रशासकीय नियन्त्रण के लिए संघीय सरकार के साधन

सामान्यतः संघीय सरकार राज्यों की सरकार पर पाँच साधनों से प्रशासकीय नियंत्रण उपयोग में ला सकते हैं।

सर्वप्रथम संविधान द्वारा संघीय सरकार को राज्यों की सरकारों को निर्देश देने का अधिकार दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद के २५६ के अनुसार राज्य सरकार का यह कर्तव्य है कि संसद द्वारा पारित विधि को मान्यता दें। इसी प्रकार अनुच्छेद २५७ के अनुसार राज्य सरकारों का यह भी कर्तव्य है कि अपने क्षेत्र में संघ की कार्यपालिका शक्ति के उपयोग में न कोई रुकावट डाले और न कोई पक्षपात करे। उपर्युक्त अनुच्छेदों के अनुसार संघ सरकार द्वारा राज्य सरकारों को निर्देश दिये जा सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद ३६५ में यह स्पष्ट प्रावधान है कि यदि संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में दिये गये किन्हीं निर्देशों का अनुवर्तन करने में या उनको प्रभावी करने में कोई राज्य असफल हुआ है तो वहाँ, राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधि संगत है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का शासन संविधान के प्रावधानों के अनुकूल नहीं चलाया जा सकता है। इसका यह अभिप्राय है कि जब कोई राज्य, संघ की कार्यपालिका द्वारा दिये निर्देशों का पालन नहीं करता है तब राष्ट्रपति अनुच्छेद ३५६ के अंतर्गत यह उद्घोषणा कर सकता है कि राज्य का संवैधानिक-यंत्र समाप्त हो चुका है और इसके फलस्वरूप राज्य की सरकार के समस्त या कुछ कार्यों को स्वयं ले सकता है।

संघीय सरकार राज्यों की सरकारों को अनुच्छेद २५७ (२) के अनुसार राज्यों में राष्ट्रीय या सैनिक के महत्व के संचार साधनों के निर्माण करने और बनाये रखने के लिए निर्देश दे सकती है। 'संचार साधन' एक ऐसा विषय है, जिसका उल्लेख

पचम, राज्यो को सघीय सरकार द्वारा वित्तीय अनुदान दिया जाता है क्योकि राज्यो की आय के विभिन्न स्रोत उनकी वित्तीय आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पर्याप्त नही हैं। राज्यो को वित्तीय अनुदान देने के लिए अनुच्छेद २७५ के अनुसार सघीय ससद को कानून निर्माण करने का अधिकार है और इस प्रकार राज्यो को प्रदत्त वित्तीय अनुदान का व्यय भारत की सचित निधि मे से किया जायेगा। इसके अतिरिक्त, सविधान म दो प्रकार के विशिष्ट अनुदानो का उल्लेख है, जो निम्नलिखित हैं।

१—भारत सरकार की सहमति से किसी राज्य द्वारा अनुसूचित जातियो के कल्याण या अनुसूचित क्षेत्रो के प्रशासन के स्तर को उन्नत करने के लिए अपनाई गई योजनाओ के लिए अनुदान जिसका व्यय भारत की सचित-निधि पर भारित होगा।

२—असम म आदिम जनजाति क विकास क लिए अनुदान।

वित्तीय अनुदान के माध्यम से सघीय सरकार राज्यो पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखती है।

ख अन्तर्राज्यीय सहयोग तथा सघ सरकार की भूमिका

किसी भी सघीय व्यवस्था म इकाइयो (राज्यो) म पारस्परिक सहयोग होना अति आवश्यक है। यद्यपि राज्यो को सत्ता की दृष्टि से पृथक क्षेत्राधिकार प्राप्त होते हैं, तथापि राष्ट्रीय एकता के लिए राज्यो को पारस्परिक सहयोग तथा सह अस्तित्व के सिद्धान्तो के आधार पर कार्य करना होगा। भारतीय सविधान मे राज्यो के पारस्परिक सहयोग के लिए निम्नलिखित विषयो पर विशेष रूप से बल दिया गया है।

१—सघ तथा राज्यो की सार्वजनिक क्रियाओ, अभिलेखो तथा न्यायिक कार्यवाहियो की स्थिति अनुच्छेद २६१ (१) के अनुसार भारत के राज्य क्षेत्र मे सर्वत्र, सघ की और प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओ, अभिलेखो, और न्यायिक कार्यवाहियो को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता दी जायेगी। परन्तु इन क्रियाओ, अभिलेखो और कार्यवाहियो की सिद्धि की रीति और शर्तों तथा उनके प्रभाव का निर्धारण ससद निर्मित-विधि द्वारा उपबन्धित रीति के अनुसार होगा। इसके अतिरिक्त भारत क्षेत्र के किसी भाग के न्यायालयो द्वारा दिये गये अन्तिम निर्णयो या आदेश भारत राज्य क्षेत्र मे कही भी निष्पादन योग्य होगे।

२—अन्तर्राज्यीय नदी या नदियो के जलो के सबध मे विवाद—अनुच्छेद २६२ (१) के अनुसार ससद विधि द्वारा किसी अन्तर्राज्यीय नदी या नदियो

के जल के प्रयोग, वितरण या नियन्त्रण के बारे मे किसी विवाद या प्रार्थना पर न्याय निर्णयन का प्रावधान कर सकती है। इस प्रकार के विवाद के सबध में ससद विधि द्वारा यह प्रावधान कर सकती है कि न तो सर्वोच्च न्यायालय, न अन्य कोई न्यायालय अपना क्षेत्राधिकार प्रयोग म लेगा।

३—अन्तर्राज्यीय परिषद—अनुच्छेद २६३ के अन्तर्गत राज्यो के पारस्परिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राज्यीय परिषद का प्रावधान किया गया है। यदि राष्ट्रपति को प्रतीत होता है कि जनहित मे आवश्यक है तो वह अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना करेगा। इस अन्तर्राज्यीय-परिषद के निम्नलिखित काय होगे।

एक—राज्यो के मध्य विवादो का परीक्षण करना तथा उन पर परामर्श देना।

दो—ऐसी जाँच तथा विवेचना करना जिसमे कुछ या समस्त राज्य या सघ या कुछ राज्यो का सामान्य हित निहित है।

तीन—ऐसे विषय पर सुझाव देना और विशेषकर ऐसे विषय के सबध मे नीति तथा कार्यो मे बेहतर समन्वय के लिए सुझाव देना। राष्ट्रपति, जब इस प्रकार की अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना करता है वह उसके कार्यों, सगठन तथा कार्यप्रणाली को निर्धारित करेगा।

४—क्षेत्रीय परिषद—राज्य पुनर्गठन अधिनियम १६५६ के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत सघ के लिए क्षेत्रो की एक परियोजना को प्रत्येक क्षेत्र मे लागू किया गया। कतिपय राज्य हैं, जिनके लिए एक क्षेत्रीय परिषद है। सम्पूर्ण भारत के लिए निम्नलिखित पाँच क्षेत्र निर्धारित किये गये हैं —

१—उत्तरी क्षेत्र—पजाब, राजस्थान, जम्मू-कश्मीर, दिल्ली तथा हिमाचल प्रदेश हैं।

२—मध्य क्षेत्र—उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश।

३—पूर्वी क्षेत्र—बिहार, पश्चिम बगाल, उड़ीसा, मणिपुर और त्रिपुरा।

४—पश्चिमी क्षेत्र—महाराष्ट्र, गुजरात तथा मैसूर क्षेत्र।

५—दक्षिणी क्षेत्र—आन्ध्रप्रदेश, मद्रास, तथा केरल।

प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक क्षेत्रीय परिषद है जिसमे एक सघीय मत्री रहेगा जो राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जायेगा। क्षेत्र के राज्यो के मुख्यमत्री, क्षेत्र के प्रत्येक राज्य मे से दो मत्री जो राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे तथा क्षेत्र के प्रत्येक सघीय भू-भाग से दो व्यक्ति, जो राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये

जायेंगे, क्षेत्रीय परिषद के सदस्य होगे। और पूर्वी क्षेत्र के लिए विशेषकर आदिम जाति क्षेत्र के लिए राज्यपाल का परामर्श दाता भी उक्त क्षेत्रीय परिषद मे सम्मिलित किया जायेगा। क्षेत्रीय परिषद मे सघीय मत्री क्षेत्रीय परिषद का अध्यक्ष होगा, और प्रत्येक मुख्य मत्री एक वर्ष के लिए उपाध्यक्ष रहेगा।

क्षेत्रीय परिषद मे कतिपय परामर्श दाताओ को भी सम्मिलित किया जायेगा, जो इस प्रकार हैं—योजना आयोग का प्रतिनिधि और क्षेत्र के प्रत्येक राज्य का मुख्य सचिव और विकास आयुक्त। इन परामर्श दाताओ को विवाद मे भाग लेने का अधिकार है, किन्तु वे मतदान नही कर सकते हैं।

क्षेत्रीय परिषद की बैठक तथा स्थान अध्यक्ष द्वारा निर्धारित किया जाता है। परिषद की बैठक का स्थान, क्षेत्र के किसी राज्य मे ही होना चाहिये। परिषद अपने कार्यों के सम्पादन के लिए समितियो का निर्माण कर सकती है। परिषद के सचिवालय के अधिकारियो के व्यय का भार, सचिव के वेतन के सिवाय, केन्द्रीय सरकार पर है। क्षेत्रीय परिषदो के कार्य उन समस्त विषयो से सबधित होगे जिनमे क्षेत्र के समस्त या कुछ राज्य या सघ और एक या अधिक राज्य रुचि रखते हैं। क्षेत्रीय परिषद, सघ सरकार या क्षेत्र की किसी सरकार को ऐसे विषयो पर परामर्श देती है। मुख्यत क्षेत्रीय परिषद निम्नलिखित प्रश्नो पर विचार विमर्श करती तथा परामर्श देती है।

एक—आर्थिक तथा सामाजिक योजनाओ से सबधित कोई सामान्य हित का विषय।

दो—सीमा विवाद, भाषा पर आधारित अल्प सख्यक, और अन्तर्राज्यीय आवागमन से सबधित कोई विषय।

तीन—राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ के अन्तर्गत राज्यो के पुनर्गठन से सबधित कोई भी मामला।

सक्षेप मे परिषदो की स्थापना का उद्देश्य सघीय सरकार के सहयोग से अन्तर्राज्यीय विवादो का समाधान करना है।

५—सघ और राज्यो म व्यापार वाणिज्य और लेन देन—सविधान के अनुच्छेद ३०१ के अनुसार भारत राज्य क्षेत्र मे सर्वत्र व्यापार वाणिज्य और लेन-देन की स्वतत्रता है। परन्तु अनुच्छेद ३०२ के अनुसार ससद विधि द्वारा एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच अथवा भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग के भीतर व्यापार वाणिज्य व लेन-देन की स्वतत्रता पर ऐसे प्रतिबन्ध लगा सकेगी, जो लोकहित मे अपेक्षित हैं।

अनुच्छेद ३०३ (१) के अनुसार संविधान की सातवीं अनुसूची में निहित तीन सूचियों में (संघ, राज्य तथा समवर्ती) से किसी में व्यापार-वाणिज्य संबंधी किसी विषय के आधार पर न तो संसद को और न राज्यों के विधान मण्डल को कोई ऐसी विधि बनाने की शक्ति होगी, जो एक राज्य को दूसरे राज्य से अधिमान देती है अथवा एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच कोई विभेद करती है। परन्तु अनुच्छेद ३०३ (२) के अनुसार संसद को ऐसी विशेष परिस्थिति में यह अधिकार होगा कि कोई ऐसी विधि बनाये जिससे किसी राज्य को यह अधिमान दिया जायेगा या एक राज्य और दूसरे राज्यों के बीच विभेद होगा, जब संसद उक्त विधि-द्वारा यह घोषित करे कि भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग में वस्तुओं की दुर्लभता के कारण उत्पन्न हुई स्थिति से निबटने के प्रयोजन के लिए ऐसा करना आवश्यक है। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जबकि अनुच्छेद ३०३ (२) के अनुसार संसद को वस्तुओं की दुर्लभता के कारण ऐसी विधि निर्माण करने का अधिकार जिससे किसी राज्य को दूसरे राज्य से अधिमान मिलता है या दो राज्यों में विभेद होता है, किसी राज्य विधान मण्डल को कोई ऐसी विधि निर्माण करने का अधिकार नहीं है, जिससे किसी राज्य को व्यापार तथा वाणिज्य की दृष्टि से दूसरे राज्य से अधिमान प्राप्त हो या दो राज्यों में विभेद हो।

अनुच्छेद ३०४ (क) के अनुसार राज्य का विधान मण्डल, विधि द्वारा अन्य राज्यों से आयात की गई वस्तुओं पर कोई ऐसा कर लगा सकता है, जो उसे राज्य में निर्मित या उत्पादित वैसी ही वस्तुओं पर लगता हो किन्तु इस प्रकार कि उससे इस तरह आयात की गई वस्तुओं तथा ऐसी निर्मित या उत्पादित वस्तुओं के बीच कोई विभेद न हो। अनुच्छेद ३०४ (ख) के अनुसार राज्य विधान मण्डल को, विधि द्वारा उस राज्य के साथ या उसमें व्यापार वाणिज्य और लेन-देन की स्वतंत्रता पर ऐसे युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाने का अधिकार है जो लोकहित में अपेक्षित हैं। परन्तु इस उद्देश्य से किसी भी विधेयक या संशोधन को विधान-मण्डल में पुनः स्थापित करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्वानुमति आवश्यक है।

अन्त में अन्तर्राज्यीय व्यापार-वाणिज्य से संबंधित संविधान के प्रावधानों के क्रियान्वयन के लिए अनुच्छेद ३०७ के अन्तर्गत संसद एक प्राधिकारी की नियुक्ति करेगी तथा उसको ऐसी शक्तियाँ और कर्तव्य सौंप सकती है जो वह आवश्यक समझे।

३—संघ तथा राज्यों के वित्तीय संबंध

संघीय व्यवस्था में, संघीय तथा राज्यों की सरकारों में संविधान के अन्तर्गत शक्तियों का बँटवारा आवश्यक है, किन्तु शक्ति के बँटवारे के साथ वित्तीय साधनों का बँटवारा भी अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि बिना पर्याप्त वित्तीय साधनों के

विभिन्न शक्तियो का कोई अर्थ नही होगा। अत साधारणतया प्रत्येक सघीय व्यवस्था सघ मे तथा राज्यो की सरकारो का, अपने वित्तीय साधनो पर स्वतत्र और पृथक नियन्त्रण होता है जिससे वे अपने क्षेत्राधिकारो के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों को स्वतत्रता पूर्वक कर सकें। 'सघीय वित्तीय व्यवस्था की आदर्श प्रणाली वह होगी जिसमे स्पष्ट रूप से राजस्व के स्रोतो का विभाजन सघ तथा राज्यो के मध्य म किया गया है जिससे दोनो पक्षो मे से प्रत्येक को एक दूसरे से स्वतत्र बनाया जा सके। तथापि कुछ ही सघीय देश इसको प्राप्त कर सकें हैं।"[1]

वस्तुत व्यवहार मे सघीय देशो म सघ और राज्यो के वित्तीय सबधो के दृष्टिकोण से कोई एक सामान्य पद्धति को नही अपनाया गया है। किन्तु प्रत्येक *सघीय राज्य म देश की सुविधा के अनुसार अपनी पद्धति का विकास हुआ है।* यद्यपि अमेरिका म सघ तथा राज्यो के लिए पृथक वित्तीय स्रोतो का प्रावधान है, किन्तु वहाँ पर भी राज्यो को सघीय अनुदान देने की आवश्यकता पैदा हुई। *केनेडा तथा आस्ट्रेलिया म सघीय (केन्द्रीय) सरकार राज्यो की वित्तीय स्रोतो म* अपना योगदान देती है, क्योंकि राज्यो के आय के साधन पर्याप्त नही हैं।

भारतवर्ष म सविधान के अन्तर्गत सघ तथा राज्यो के मध्य तीन सूचियो द्वारा शक्ति विभाजन के साथ जो आय के साधनो का विभाजन किया गया है, वह न तो पूर्णतया स्पष्ट है और न सम्पूर्ण है। इससे राज्यो को उनकी आवश्यकताओ से बहुत कम दिया गया है, और सविधान के अनेक अन्य प्रावधानो द्वारा, जिनका उद्देश्य सघ के स्रोतो के कुछ भाग को राज्यो को विभिन्न रूप मे हस्तान्तरित करना है प्रवर्तित तथा पूरा किया जाता है।

भारतीय सघ के राज्यो को पूर्ण रूप से उन करो से प्राप्त आय पर अधिकार है, जो राज्य सूची म उल्लिखित हैं। सघ सरकार को उन करो से सारी आय प्राप्त होती है जिनका उल्लेख सघ सूची मे किया गया है। इसके अतिरिक्त, सघ सरकार को उन करो से प्राप्त आय पर भी अधिकार है, जिनका उल्लेख किसी सूची म नही किया गया है। समवर्ती सूची म करो का कोई उल्लेख नही है। राज्यो का राज्य सूची के अन्तर्गत लगाये करो की आय रखने का अधिकार है, सघ सरकार को सघ सूची क अन्तर्गत लगाये गये कुछ करो की आय को पूर्णतया या कुछ अश म राज्यो को देना होगा।

सघ तथा राज्यो के वित्तीय सबधो का अध्ययन निम्नलिखित आधारो पर किया जा सकता है।

---

१. वही पृ० ८६

क सघ तथा राज्यों के मध्य राजस्व का वितरण—सघ सरकार को भारतीय सविधान के अन्तर्गत चार प्रकार के करो से प्राप्त आय को पूर्ण रूप से या कुछ अश मे राज्यो को देना होगी। यह निम्नलिखित है। अनुच्छेद २६८ के अनुसार।

१—*सघ सरकार द्वारा लगाये, किन्तु राज्यो द्वारा सगृहीत तथा विनियोजित* शुल्क विनिमय पत्र, चेक, प्रामेसरी नोट्स, माल, असबाब का भाडा, हुण्डियाँ, बीमा आदि पर स्टाम्प्स शुल्क तथा दवाइयो और ऐसे शृगार साधन जिनके निर्माण मे मद्य का उपयोग होता है।

२—सघ द्वारा लगाये और सगृहीत परन्तु राज्यो को दिये जाने वाले कर—अनुच्छेद २६९ के अनुसार ये निम्नलिखित है —

(एक) कृषि-भूमि के अतिरिक्त, अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर।

(दो) कृषि भूमि के अतिरिक्त, अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क।

(तीन) रेल, समुद्र तथा वायु द्वारा माल और यात्रियो को ले जाने पर सीमान्त कर।

(चार) रेल तथा वस्तुओ के भाडे पर कर।

(पांच) शेयर बाजार तथा सट्टा बाजार के लेन देन पर स्टाम्प शुल्क अतिरिक्त अन्य कर।

(छ) समाचार पत्रो के क्रय विक्रय और उनमे प्रकाशित विज्ञापनो पर कर।

(सात) अन्तर्राज्यीय व्यापार तथा वाणिज्य के सिलसिले म माल के क्रय विक्रय पर कर।

३—सघ द्वारा लगाये व सग्रहीत आयकर जिनका विभाजन सघ व राज्यो के मध्य म होता है। अनुच्छेद २७० के अनुसार सघीय भू-भागो के लिये निर्धारित राशि तथा सघीय व्यय को काटकर शेष आयकर की राशि का विभाजन सघ व राज्यों मे राष्ट्रपति वित्तीय आयोगो के प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात् आदेश द्वारा करता है।

अनुच्छेद २७१ के अनुसार ससद विभिन्न करो की जो कि अनुच्छेद २६९ व २७० मे उल्लिखित है। सघ के उद्देश्यो को पूर्ण करने हेतु अधिकार द्वारा वृद्धि कर सकेगी।

४—*सघ द्वारा लगाये गये तथा सग्रहीत कर जिनका विभाजन सघ व राज्यो के मध्य होता है*।—ये कर इस प्रकार के हैं—दवाई और भृङ्गार सबधी वस्तुओ को छोडकर अन्य वस्तुओ पर लगाये उत्पादन शुल्क।

ख. संघ सरकार द्वारा राज्य सरकारो को सहायक अनुदान—भारतीय सविधान मे सघ सरकार के राजस्व स्रोत से तीन प्रकार के सहायक अनुदान राज्यो को दिये जाते है।

१—अनुच्छेद २७३ के अनुसार असम, बिहार, उडीसा तथा पश्चिम बगाल को जूट और जूट से निर्मित वस्तुओ पर निर्यात् कर के वदले मे सघ सरकार द्वारा अनुदान दिया जाता है। राष्ट्रपति अनुदान की राशि निर्धारित करता है। इन राज्यो को अनुदान जब तक दिया जावेगा, जब तक भारत सरकार द्वारा जूट या जूट से निर्मित वस्तुओ पर शुल्क लगाया जाता है, या सविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष तक इन दोनो मे से जो भी पहले हो, उसके होने तक।

२—अनुच्छेद २७५ के अन्तर्गत ससद को यह अधिकार है कि सघ के किसी राज्य को जिसको वित्तीय अनुदान की आवश्यकता है, सहायक अनुदान प्रदत करें। किस मात्रा मे यह अनुदान दिया जाना चाहिये, इसका निर्धारण करने का अधिकार ससद को है। सघीय सरकार का यह अतिरिक्त कर्त्तव्य है कि राज्यो द्वारा अनुसूचित आदिम जातियो के कल्याण हेतु प्रारम्भ की गई योजनाओ को पूरा करने के लिए और अनुसूचित क्षेत्रो के प्रशासनिक स्तर को ऊंचा करने हेतु सहायक अनुदान प्रदत्त करें। सविधान द्वारा असम के आदिम क्षेत्रो के विकास हेतु विशेष सहायक अनुदान के लिये प्रावधान किया गया है।

३—अनुच्छेद २८२ के अन्तर्गत सघीय व राज्य सरकारो को यह अधिकार है कि किसी भी सार्वजनिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु सहायक अनुदान प्रदत्त करे। इसके बावजूद भी कि वह विषय ससद व राज्य विधान मण्डल के व्यवस्थापन के दायरे मे न हो।

ग. पारस्परिक करो से सघ तथा राज्यो की मुक्ति—१—अनुच्छेद २८५ के अन्तर्गत जब तक ससद कानून द्वारा कोई प्रावधान न करे, राज्य सरकारें सघ की सम्पति पर कर नही लगा सकती हैं।

२—अनुच्छेद २८७ के अनुसार भारत सरकार या रेल द्वारा उपयोग मे ली जाने वाली बिजली पर बिना ससद की अनुमति के राज्यो द्वारा किसी प्रकार का शुल्क नही लगाया जा सकता है।

३—अनुच्छेद २८८ के अन्तर्गत बिना राष्ट्रपति की अनुमति के कोई राज्य, ऐसे प्राधिकरण द्वारा दिये गये या नियन्त्रित पानी या बिजली पर शुल्क नही लगा सकता जो अन्तराज्यीय नदियो या नदी-दूनो (घाटियो) के विकास या विनियम के लिए स्थापित किया गया है।

४—अनुच्छेद २८९ के अनुसार सघ सरकार को राज्यो की सम्पति तथा आय पर कर लगाने का अधिकार नही है। परन्तु किसी राज्य सरकार द्वारा किये जाने

वाले व्यापार या व्यवसाय को सघीय करों से मुक्ति तब ही मिल सकेगी, जब ससद कानून द्वारा यह घोषित करती है कि ऐसा व्यापार या व्यवसाय राज्य सरकार के कार्यों का भाग है।

घ सघ तथा राज्यो की ऋण लेने की शक्ति—सविधान के अनुच्छेद २९२ के अनुसार सघीय सरकार को भारत की सचितनिधि की प्रतिभूति पर ऋण लेने का अधिकार है। किन्तु इस विषय पर ससद कानून द्वारा सीमाएं लगा सकती है। राज्यो को भारतीय प्रदेश मे राज्य सचित निधि की प्रतिभूति पर ऋण लेने का अधिकार है। राज्यो के ऋण लेने के अधिकार पर सविधान द्वारा कुछ सीमाएँ रखी गई हैं जो इस प्रकार हैं —

१—राज्यो द्वारा भारत म ही ऋण लिया जा सकता है।

२—यदि राज्य सरकार ने अपना पुराना ऋण सघ सरकार के प्रति चुका न दिया है तो नये ऋण लेने के लिए सघ सरकार की अनुमति आवश्यक होगी।

३—राज्य विधान मण्डल राज्य सरकार के ऋण लेने के अधिकार पर सीमाएँ लगा सकती है।

अनुच्छेद २९३ के अनुसार सघीय सरकार राज्यो को ससद द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार ऋण दे सकती है।

ड. वित्तीय सकट कालीन उद्घोषण १—अनुच्छेद ३६० के अनुसार राष्ट्रपति को विश्वास हो जाता है कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है, जिससे भारत तथा उसके किसी राज्य क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या प्रायय सकट में है तो वह वित्तीय सकटकालीन उद्घोषणा कर सकता है। इस सन्दर्भ मे सघ-सरकार राज्यो की सरकारो को वित्त व्यवस्था के सबध मे आदेश तथा निर्देश दे सकती है। सघ सरकार, सघ तथा राज्यो के प्रशासन के सबध म कार्यरत अधिकारियो, जिनम सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी सम्मिलित हैं, के भत्तो तथा वेतन म कटौती के लिए आदेश दे सकती है। इस सन्दर्भ मे राज्य विधान मण्डलो द्वारा पारित धन-विधेयकों के लिए भी सघ सरकार यह आदेश दे सकती है कि उनको राष्ट्रपति की सहमति के लिए सुरक्षित रखा जाय।

च—अन्त मे, सघ तथा राज्यो के वित्तीय सबधो की दृष्टि से, नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक की भूमिका भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है तथा ससद द्वारा उसको राज्यो के लेखा के सबध में कार्य तथा अधिकार सौपे जाते हैं। राज्यो के लेखो पर नियन्त्रण तथा महालेखा परीक्षक का पूरा नियन्त्रण रहता है।

सघ तथा राज्यो के विभिन्न सबधो का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तीनो, व्यवस्थापन, प्रशासकीय तथा वित्तीय क्षेत्रो मे

सघ सरकार को राज्य सरकारों की अपेक्षा अत्यधिक अधिकार प्राप्त हैं। सविधान निर्माताओ ने सघीय सरकार को सशक्त रखने के लिए इन क्षेत्रो मे पर्याप्त शक्तियाँ दी है। सघीय सरकार की स्थिति, उन स्थितियो म और अधिक शक्तिशाली हो जाती है, जब केन्द्र तथा राज्य सरकार एक ही राजनीतिक दल द्वारा स्थापित है। भारतीय राजनीति मे १९६७ के चतुर्थ आम-चुनाव के पूर्व लगभग सभी राज्यो मे (केरल को छोडकर) काग्रेस सरकारें थी। केन्द्र मे भी काग्रेस दल सत्तारूढ था। केन्द्र तथा राज्यो की सरकारो की नीतियो मे एकरूपता थी, और यदि किसी राज्य तथा केन्द्र मे विवाद उठता था तो उसको दलीय अनुशासन के आधार पर राजनीतिक स्तर पर सुलझाया जाता था। परन्तु चौथे आम-चुनाव के पश्चात् कई राज्यो म गैर-काग्रेसी सरकारें स्थापित हुई। कई बार गैर-काग्रेसी सरकारो ने केन्द्रीय सरकार पर उसके प्रति पक्षपात पूर्ण व्यवहार का आरोप लगाया, विशेषकर दूसरे आम चुनाव (१९५७) के बाद जब केरल मे श्री नम्बूद्रीपाद की साम्यवादी सरकार को, जिसे बर्खास्त किये जाने के अन्तिम क्षण तक केरल विधान-मण्डल मे बहुमत प्राप्त था, केन्द्र सरकार ने बर्खास्त करके राष्ट्रपति शासन लागू किया। केन्द्रीय सरकार के इस कार्य की देश म कडी आलोचना हुई। इसी प्रकार जब पश्चिम बगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने १९६७ मे श्री अजय मुकर्जी की सरकार को बरखास्त किया तब उसकी भी आलोचना हुई।

इस सन्दर्भ म विरोधी दलो द्वारा राज्यपाल की भूमिका की विशेष रूप स कडी आलोचना की गई। राज्यपाल की भूमिका के सबध म यह कहा गया कि राज्यपाल ने केन्द्र मे सत्तारूढ दल के हितो को ध्यान म रखते हुए, राज्य सरकार के विरुद्ध पक्षपात पूर्ण व्यवहार किया।

अन्त मे यह कहना उचित होगा कि किसी भी सघीय व्यवस्था की सफलता के लिए सघ सरकार तथा राज्यो की सरकारो मे सभी क्षेत्रो म पारस्परिक सहयोग होना अति आवश्यक है। सघवाद जैसा पूर्व मे कहा जा चुका है, राष्ट्रीय एकता तथा राज्यो (इकाइयो) की स्वायत्तता के समन्वय तथा सामजस्य पर आधारित एक सिद्धान्त है। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से सघ की इकाइयो का यह कर्तव्य है कि सविधान के अन्तर्गत सघ को अखण्ड बनाये रखने का प्रयत्न करें, तथा विघटनकारी प्रवृत्तियो को रोकें। सघ के राज्यो की स्वायत्तता के सन्दर्भ मे दूसरी ओर केन्द्र सरकार का यह दायित्व है कि वह राज्यो की स्वायत्तता का सविधान के अन्तर्गत पोषण करे। विभिन्न क्षेत्रो मे, विशेषकर राजनीतिक तथा वित्तीय क्षेत्रो म सघीय सरकार को राज्यो के प्रति उदार और सहनशील होना आवश्यक है।

संघ एवं राज्यों में, राज्यपालों की नियुक्ति के विषय पर केन्द्रीय सरकार को गम्भीरता-पूर्वक विचार करने के पश्चात् ही राज्यपाल को नियुक्त करना चाहिये। स्वस्थ परम्पराओं को स्थापित करने के लिए राज्यपाल के पद को निर्वासित या सेवा-निवृत्त राजनीतिज्ञों का शरणस्थान न बना दिया जाये। राज्यपाल के पद पर, निष्ठावान् निष्पक्ष, तथा उच्च बौद्धिक तथा नैतिक स्तर के व्यक्तियों को ही मनोनीत करना चाहिये, क्योंकि, चौथे आम-चुनाव के पश्चात् परिवर्तित राजनीति में राज्यपाल को कुछ परिस्थितियों में अपने स्वेच्छाधिकारों को उपयोग में लाना होगा। प्रशासकीय सुधार आयोग ने संघ तथा राज्यों के संबंध के विषय पर अपने प्रतिवेदन में राज्यपालों के स्वेच्छाधिकारों के संबंध में सुझाव दिया है, कि चूंकि संविधान में राज्यपाल के स्वेच्छाधिकारों को परिभाषित नहीं किया गया है, इसलिए यह कार्य अन्तर्राज्यीय परिषद् को सौंपा जाना चाहिये।

संघ तथा राज्यों के वित्तीय संबंधों के सन्दर्भ में संविधान में राज्यों के आय के साधन सीमित है। अतः राज्यों को वित्तीय सहायता के लिए संघ सरकार पर निर्भर रहना पड़ता है, विशेषकर राज्यों को पंचवर्षीय योजनाओं के लिए प्रशासकीय सुधार आयोग ने सुझाव दिया है कि प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में राज्य के आय के स्रोतों को संघ और राज्यों के मध्य आवश्यकतानुसार विभाजित करने के लिए एक वित्त आयोग की नियुक्ति होनी चाहिये।

भारतीय संविधान के दायरे में संघ तथा राज्यों के मध्य पारस्परिक सहयोग के लिए पर्याप्त प्रावधान है, जिसके आधार पर संघवाद के दोनों लक्ष्यों —राष्ट्रीय एकता तथा राज्यों की स्वायत्तता को प्राप्त किया जा सकता है।

लोक सेवा आयोग

भारतीय संविधान में अनुच्छेद ३१५ के अनुसार संघ के लिए एक लोक सेवा आयोग तथा प्रत्येक राज्य के लिए एक लोक सेवा आयोग का प्रावधान किया गया है। परन्तु यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधान-मंडलों द्वारा संसद को उनके लिए एक संयुक्त लोक सेवा आयोग स्थापित करने का प्रस्ताव पारित कर अधिकृत किया जाता है, तो संसद इन राज्यों के लिए एक संयुक्त लोक सेवा आयोग की स्थापना करेगी। किसी राज्य के राज्यपाल के निवेदन पर, राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त होने के पश्चात संघीय लोक सेवा आयोग उक्त राज्य के लोक सेवा आयोग के कार्यों को करेगा।

सदस्यों की नियुक्ति व कार्यकाल—संघ लोक सेवा आयोग तथा संयुक्त लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल करता है। संघ लोक सेवा आयोग तथा राज्य लोक सेवा आयोग में आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जो भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कम से कम दस वर्ष तक सेवा-रत रहे हों।

संघ लोक सेवा आयोग तथा संयुक्त आयोग के सदस्यों की संख्या राष्ट्रपति निर्धारित करता है। संघ लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष और सात सदस्य हैं। राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या राज्यपाल निर्धारित करता है। साधारणतया राज्य लोक सेवा आयोग के तीन सदस्य होते हैं जिनमें से एक अध्यक्ष होता है।

संघ तथा राज्य लोक सेवा आयोगों के सदस्यों का कार्यकाल [illegible] वर्ष का या संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों के ६५ वर्ष तथा राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों के लिए ६० वर्ष की आयु प्राप्त होने तक (जो भी इनमें से पहले हो वह लागू होगा) का है।

संघ और राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की पदच्युति—संघ और राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों को राष्ट्रपति दुराचार के कारण आदेश द्वारा, जबकि इस विषय पर सर्वोच्च न्यायालय ने जाँच करके राष्ट्रपति को अपना

प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया है, पदच्युत कर सकता है। जाँच के दौरान राष्ट्रपति सदस्य को निलम्बित कर सकता है।

लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा किसी सदस्य को राष्ट्रपति द्वारा निम्नलिखित *किसी* कारण के आधार पर भी पदच्युत किया जा सकता है, यदि,

क—वह दिवालिया हो, या

ख—वह अपने कार्यकाल मे कोई अन्य सवैतनिक कार्य स्वीकार कर लेता है, या

ग—राष्ट्रपति की सम्मति मे वह व्यक्ति मानसिक या शारीरिक दुर्बलता के कारण अपने पद पर कार्य करने मे असमर्थ हो गया है।

अनुच्छेद ३१७ के अनुसार यदि भारत सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा *या इनके वास्ते किये गये किसी सविदा या करार से लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष* या सदस्य का सम्बन्ध हो तो इसको दुराचार समझा जायेगा, और इस आधार पर उसको पदच्युत किया जा सकेगा।

सघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को, अनुच्छेद ३१६ के अनुसार, उसके कार्यकाल के समाप्त होने के पश्चात् सघ या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी पद पर पुन नियुक्त नहीं किया जा सकता है। सघ तथा राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यो को उनका कार्यकाल समाप्त होने के पश्चात् उसी पद पर पुन नियुक्त नही किया जा सकता है। परन्तु सघ लोक सेवा आयोग के सदस्यो के कार्यकाल समाप्त होने पर उनको राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के पद पर नियुक्त किया जा सकता है। किसी राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को उसके कार्यकाल के समाप्त होने पर सघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य के रूप मे नियुक्त किया जा सकता है या उसको किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष या सदस्य नियुक्त किया जा सकता है। राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यो को, उनका कार्यकाल समाप्त होने के पश्चात् सघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य के पद पर नियुक्त किया जा सकता है। सिवाय इन नियुक्तियो के सघ तथा राज्य लोक सेवा आयोगो के सदस्य किसी अन्य पद पर नियुक्त नही किये जा सकते हैं।

लोक सेवा आयोग के कार्य—शक्तियो तथा क्षेत्राधिकारो के विभाजन के कारण एक सघीय राज्य मे, दो प्रकारो की सरकार होती हैं, केन्द्रीय (सघीय सरकार) तथा राज्य सरकारें। अपने विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए दोनो प्रकार की सरकारो के लिए पृथक लोक सेवाओ की आवश्यकता होती है। भारतीय सविधान के अतर्गत भी, सघीय व्यवस्था होने के कारण, लोक सेवाओ को, मुख्यत दो भागो मे रखा गया है। यह निम्नानुसार हैं—

१ संघीय (केन्द्रीय) लोक सेवाएँ—संघीय लोक सेवाएं संघीय विषयो के प्रशासन के लिए स्थापित की जाती है। कुछ संघीय विषयो के उदाहरण इस प्रकार है—विदेशी मामले, प्रतिरक्षा, आयकर, डाक तथा तार व्यवस्था, रेल आदि। इन सेवाओ से सबधित अधिकारियो की नियुक्ति, पदोन्नति, प्रशिक्षण, अनुशासन, सेवा-निवृत्ति आदि से सम्बन्धित समस्त मामले केन्द्रीय (संघीय) सरकार के नियंत्रण मे हैं। मुख्यत इन विषयो के सबंध मे केन्द्रीय सरकार संघ लोक सेवा के परामर्श से कार्य करती है।

२ राज्य लोक सेवाएँ—राज्य लोक सेवाओ की स्थापना का उद्देश्य राज्य से सबधित विषयो का प्रशासन करना है। राज्यो के क्षेत्राधिकार मे कुछ विषयो के उदाहरण निम्नलिखित हैं—राजस्व, कृषि, वन, शिक्षा, स्वास्थ्य, पशुपालन, पुलिस आदि। इन राज्य-सेवाओ से सबंधित अधिकारियो की नियुक्ति, पदोन्नति, प्रशिक्षण, अनुशासन, सेवा निवृत्ति आदि समस्त मामले राज्य सरकार के नियंत्रण मे हैं। इन विषयो के सबंध मे राज्य सरकार राज्य-लोक सेवा आयोग की परामर्श से काम करती है।

संघीय (केन्द्रीय) तथा राज्य सेवाओ के अतिरिक्त, सविधान मे अखिल भारतीय सेवाओ के लिए अनुच्छेद ३१२ के अन्तर्गत प्रावधान किया गया है। ये अखिल भारतीय सेवाएँ केन्द्र एवं राज्यो दोनो के लिए समान रूप से है। सविधान मे दो अखिल भारतीय सेवाओ का उल्लेख है (i) भारतीय प्रशासकीय सेवा, तथा (ii) भारतीय पुलिस सेवा। सविधान के अनुच्छेद ३१२ (1) के अनुसार ससद अन्य अखिल भारतीय सेवाओ की स्थापना कर सकती है, यदि वह ⅔ बहुमत से यह प्रस्ताव पारित करती है कि राष्ट्रीय हित मे ऐसी सेवा की स्थापना करना आवश्यक है।

जैसा विदित हो चुका है, भारतीय प्रशासकीय सेवा, संघ तथा राज्यो के समान उपयोग के लिए हैं। भारतीय प्रशासकीय तथा अन्य अखिल भारतीय सेवाओ मे नियुक्ति संघ सरकार संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षाओ के आधार पर करती है। फिर संघ सरकार इन प्रशासकीय अधिकारियो को संघ के विभिन्न राज्यो मे नियुक्त करती है। इन प्रशासकीय अधिकारियो का थोड़ा कार्यकाल केन्द्रीय सरकार की सेवा से भी सबंधित रहता है। प्रशासकीय अधिकारियो के इस आदान-प्रदान से संघ तथा राज्यो दोनो को लाभ है, क्योकि जहाँ इनके माध्यम से केन्द्रीय सरकार को राज्यो की स्थिति का ज्ञान होता है वही राज्यो को इन से केन्द्रीय सरकार की नीतियो तथा परियोजनाओ के सबंध मे जानकारी प्राप्त होती है।

भारतीय प्रशासकीय सेवा की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके अधिकारी 'सामान्यता-प्रधान' प्रशासकीय अधिकारी होते है अर्थात, उनकी योग्यताओ

तथा सामान्य दक्षता की दृष्टि से उनसे यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे विभिन्न प्रकार के पदों पर कार्य करने में सक्षम हैं। उदाहरण स्वरूप भारतीय प्रशासकीय सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति कभी कानून व्यवस्था, कभी राजस्व, कभी व्यापार-वाणिज्य, कभी विभिन्न जनकल्याणकारी शिक्षा आदि में सबंधित पदों पर होती है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३२० के अन्तर्गत लोक सेवा आयोग के कार्य निम्नानुसार होंगे—

१. संघ तथा राज्य लोक सेवा आयोग संघ तथा राज्यों के अधीन विभिन्न लोक सेवाओं में भरती करने के लिए परीक्षाओं का आयोजन करेंगे।

२. दो या दो से अधिक राज्यों के अनुरोध पर उनके लिए लोक सेवाओं में विशेष योग्यता प्राप्त प्रत्याशियों की भरती के लिए संघ लोक सेवा आयोग द्वारा संयुक्त योजनाओं का निर्माण तथा क्रियान्वयन करना।

३. निम्नलिखित विषयों पर संघ लोक सेवा आयोग तथा राज्य लोक सेवा आयोग संघ तथा संबंधित राज्य सरकार को सलाह देंगे।

(क) ऐसा कोई भी विषय जो असैनिक पदों पर असैनिक लोक सेवा में भरती के लिए उनको प्रेषित किया गया हो।

(ख) उन सिद्धांतों के संबंध में जिनके आधार पर नियुक्तियाँ, पदोन्नति तथा एक सेवा से अन्य सेवा में स्थानान्तरण करता है।

(ग) लोक सेवाओं में अनुशासन-संबंधी मामले।

(घ) सरकारी कर्मचारियों के उन दावों के संबंध में जिनके अनुसार उनके विरुद्ध सरकारी कार्यों के करने के कारण की गई कानूनी कार्रवाई के फलस्वरूप व्यय वहन करना पड़ता है।

(ङ) किसी सरकारी कर्मचारी द्वारा असैनिक पद पर कार्य करते हुए यदि किसी क्षति का शिकार होना पड़ता है तो सेवा निवृत्ति संबंधी उसका दावा।

४. सेवाओं के संबंध में अन्य कोई कार्य जो संसद द्वारा संघ लोक सेवा आयोग और राज्य विधान सभा द्वारा राज्य लोक सेवा आयोग को सौंपा गया है।

अत. संघ लोक सेवाओं के लिए संघ लोक सेवा आयोग तथा राज्य लोक सेवाओं के लिए राज्य लोक सेवा आयोग से संबंधित सरकार को भरती, नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानान्तरण, अनुशासन, दावों आदि मामलों में परामर्श लेना आवश्यक है।

अनुच्छेद ३२० के अनुसार संविधान राष्ट्रपति तथा राज्यपालों को ऐसे नियम बनाने के लिए अधिकृत करता है, जिनमें उन विषयों का उल्लेख होगा जिन पर लोक सेवा आयोग से परामर्श लेने की आवश्यकता नहीं होगी। इस तरह,

अनुच्छेद ३२० के अनुसार, पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियो के पक्ष मे नियुक्तियो या पदो को सुरक्षित करने के लिए लोक सेवा आयोग से परामर्श लेने की कोई आवश्यकता नही हैं। परन्तु अनुच्छेद ३२० के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि इस प्रकार के नियमो को जो राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा उन विषयो को निर्धारित करने के लिए बनाये जाते है जिनके सबध म लोक सेवा आयोग से परामर्श लेना आवश्यक नही है तो उन्हे सबधित व्यवस्थापिका (सघ के लिए ससद तथा राज्य के लिए विधान सभा) के समक्ष रखा जाये। ससद या राज्य विधान सभा को ऐसे नियमो म परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होगा।

सविधान के अनुच्छेद ३२३ के अनुसार सघ आयोग तथा राज्य आयोग का यह कर्तव्य है कि प्रतिवर्ष अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति तथा राज्यपाल को प्रस्तुत करे जिसमे उनको अपने कार्यों का विवरण देना होगा। तत्पश्चात राष्ट्रपति और राज्यपाल तुरत ऐसे प्रतिवेदन को ससद तथा राज्य विधान मडल के समक्ष एक स्मरण लेख के साथ रखेगा जिसमे कारणो सहित उन प्रकरणो का उल्लेख होगा, जिन पर लोक सेवा आयोग के सुझाव स्वीकृत नही किये गये।

लोक सेवा आयोग के सदस्यो की स्वतत्रता—लोक सेवाओ मे नियुक्ति प्रत्याशियो की योग्यताओ के आधार पर ही की जानी चाहिए, जिसने प्रशासन मे स्वच्छता तथा दक्षता प्राप्त की जा सके। यदि प्रशासन म योग्य अधिकारियो की नियुक्ति नही होती है तो प्रशासन म इसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई त्रुटियो से समस्त राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध हो सकती है। अतएव, प्रशासकीय अधिकारियो की योग्यता के आधार पर भरती, नियुक्ति तथा पदोन्नति आदि के लिए एक स्वतन्त्र निष्पक्ष तथा निष्ठावान सस्था का होना अतिआवश्यक है जो वाह्य प्रभावो से स्वतन्त्र रहकर, निष्पक्षतापूर्वक अपने कार्यों को कर सकेगी। भारतीय सविधान निर्माताओ ने इन मुद्दो की दृष्टिकोण से लोक सेवा आयोग के सदस्यो की स्वतत्रता के लिए निम्नलिखित प्रावधान किये है।

१. सदस्यो का कार्यकाल सविधान द्वारा निर्धारित है, और किसी सदस्य को पुन उसी पद पर नियुक्त नही किया जा सकता है।

२ लोक सेवा के अध्यक्ष या सदस्य को सविधान मे निर्धारित प्रक्रियानुसार ही पदच्युत किया जा सकता है। अनुच्छेद ३१७ (१) के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य के दुराचार के मामले को प्रेषित किये जाने पर यदि सर्वोच्च न्यायालय जाँच करने के उपरात राष्ट्रपति को यह प्रतिवेदन देता है कि उक्त सदस्य पर लगाया दुराचार का आरोप सत्य है, तो राष्ट्रपति एक आदेश द्वारा उस सदस्य को पदच्युत कर सकता है।

३. किसी भी सदस्य के पद से सबधित शर्तों को उसके कार्यकाल मे उसके नुकसान के लिए नही बदला जा सकता है। लोक सेवा आयोग के सदस्यो के

वेतन तथा भत्ते और प्रशासकीय व्यय संचित निधि पर भारित हैं। अतएव संघ और राज्य लोक सेवा आयोगों के सदस्यों के वेतन तथा भत्तों के संबंध में संसद तथा राज्य विधान मंडलों में मतदान नहीं किया जा सकता है।

४ संघ और राज्यों के लोक सेवा आयोगों के अध्यक्षों और सदस्यों को कुछ अपवादों को छोड़कर, पुनः उसी पद या किसी सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है। ये अपवाद निम्नानुसार हैं।

(क) राज्य लोक सेवा का अध्यक्ष, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य के पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

(ख) किसी राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्य को संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य के पद पर नियुक्त किया जा सकता है, या उसे उसी या अन्य राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

(ग) संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्य को संघ लोक सेवा आयोग या किसी राज्य लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया जा सकता है।

५ लोक सेवा आयोगों द्वारा अपने कार्यों को निष्पक्षतापूर्वक तथा स्वतंत्रता-पूर्वक करने के लिए संविधान निर्माताओं ने इनके सदस्यों की परिपक्वता पर भी बल दिया। इस कारण उन्होंने संघ लोक सेवा आयोग तथा राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों के सेवा निवृत्त होने की आयु क्रमशः पैंसठ और साठ वर्ष निर्धारित की है।

भारत में लोक सेवा आयोगों के लिए संविधान में प्रावधान करने से इनको एक विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। इंग्लैण्ड तथा अमरीका में लोक सेवा आयोगों की स्थापना व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून के आधार पर हुई है। तथापि, भारतीय संविधान में, लोक सेवा आयोगों के संबंध में कतिपय महत्त्वपूर्ण अर्हताओं के स्पष्ट उल्लेख की अनुपस्थिति में, लोक सेवा आयोग विशेषकर विभिन्न राज्यों में, स्वतंत्रता एवं निष्पक्षतापूर्वक कार्य करने में सफल नहीं हुए हैं। संविधान में लोक सेवा आयोग के सदस्यों की योग्यताओं के संबंध में कोई प्रावधान नहीं है। कई राज्य सरकारों ने इसका पूरा लाभ लेते हुए, इच्छानुसार लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति की। यह आरोप लगाया गया है कि कभी-कभी राजनीतिज्ञों को अपने दल की सेवा करने के लिए सत्तारूढ़ दल द्वारा पारितोषक के रूप में, लोक सेवा आयोग के पद पर नियुक्त किया गया है। अतएव यह आवश्यक है कि संविधान में संशोधन करके, लोक सेवा आयोग के सदस्यों की योग्यता तथा नियुक्ति-प्रणाली पर, कतिपय निश्चित प्रावधान जोड़े जायें।

ग्रन्थानुक्रमणिका

अइयर एस० पी० एण्ड श्रीनिवासन आर०—'स्टडीज इन इण्डियन डेमोक्रेसी'
(अलाइड पब्लिशर्स, बम्बई, १९६५)

अलेक्जण्डरोविच सी० एच०—'कान्स्टीटयूशनल डेवलपमेन्ट इन इण्डिया'
(आक्सफोर्ड युनि० प्रेस, १९५७)

बेनर्जी ए० सी०—'दी मेकिंग आफ द कान्स्टीट्यूशन जिल्द—२
(ए० मुकर्जी एण्ड को० कलकत्ता, १९४८)

बेनर्जी डी० एन०—'सम आस्पेक्ट्स आफ द इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'
(दी वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, १९६२)

बेनर्जी डी० एन०—'अवर फण्डामेन्टल राईट्स'
(द वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, १९६०)

बसु डी० डी०—'कमेन्ट्री आन दि कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया, जिल्द—१, २,
(एस० सी० सरकार एण्ड सन्स कलकत्ता १९६५)

भाम्भरी सी० पी०—'पब्लिक एडमिनीस्ट्रेशन'
(जय प्रकाशनाथ एण्ड को० १९६०)

ब्राइस लार्ड जे०—'माडर्न डेमोक्रेसी, जिल्द—२,
(मेकमिलन एण्ड को, न्यूयार्क १९२९)

ब्राइस लार्ड जे०—'दि अमेरिकन कामनवेल्थ, जिल्द—१',
(मेकमिलन एण्ड को, न्यूयार्क, १८९८)

चापरा एम० सी—'द इनडिविजुल एण्ड द स्टेट'
(एशिया पब्लिशिंग हाऊस, १९५८)

कारविन ई० एस०—'द डोक्ट्राइन आफ ज्यूडिशियल रिव्यू'
(प्रिन्सटन, १९१४)

कारविन ई० एस०—'द कोर्ट ओवर दि कान्स्टीट्यूशन'
(प्रिन्सटन, १९३८)

दास एस० सी०—'द कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया, ए कम्प्रेटिव्ह स्टेडी,
(चैतन्य पब्लिशिंग हाउस, अलाहाबाद, १९६०)

दयाल एस०—'दि कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया'
(अलाहाबाद ला एजेन्सी, १९६४)

डायसी ए० वी०—'ला आफ दि कान्स्टीट्यूशन'
(मेकमिलन एण्ड को, लिमिटेड, लन्दन, १६३८)
फाईनर एच०—'थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस आफ माडर्न गवर्नमेन्ट'
(हेनरी होल्ट एण्ड को० न्यूयार्क १६५०)
गाडगिल डी० आर०—'इण्डियन प्लानिंग एण्ड प्लानिंग कमीशन'
(हरलाल लाम्बी इन्स्टीट्यूट आफ पालिटिकल साइन्स
अहमदाबाद, १६५८)
गजेन्द्रगडकर पी० बी०—'ला लिबर्टी एण्ड सोशियल जस्टिस'
(एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई, १६६५)
गार्नर जे० डब्ल्यू—'पोलिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेन्ट'
(अमरीकन बुक कम्पनी, न्यूयार्क, १६३२)
गेटेल आर० सी०—'पोलिटिकल साइन्स'
(द वर्ल्ड प्रेस कलकत्ता, १६५४)
ग्लेडहिल ए०—'दि रिपब्लिक आफ इण्डिया'
(लन्दन, १६५१)
ग्रीव्स एच० आर०—'द ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन'
(जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमि० लन्दन, १६३८)
गुप्ता एम० जी०—'आस्पेक्ट्स आफ दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'
(सेन्ट्रल बुक डीपो, इलाहाबाद, १६६४ एवं १६५६ दोनों)
हाल्लपा जी० ए०—'डिलेमास आफ डेमोक्रेटिक पालिटिक्स इन इण्डिया'
(मानक तेलाम, बम्बई, १६६६)
हस्नूमनी ए० पी०—'सम प्रोब्लेम्स आफ एडमिनिस्ट्रेटिव ला इन इण्डिया'
(एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई, १६६५)
हिदायत उल्लाह एम०—'डैमोक्रेसी इन इण्डिया एण्ड दि ज्यूडिशियल प्रोसेस'
(एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १६६५)
जैना बी० बी०—'पार्लियामेन्ट्री कमेटीज इन इण्डिया'
(साइन्टिफिक बुक एजेन्सी, कलकत्ता, १६६६)
जेनिंग्ज सर० आई०—'पार्लियामेन्ट'
(केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, १६५३)
जेनिंग्ज सर० आई०—'सम कैरेक्टरस्टिक, आफ कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया'
(आक्सफोर्ड युनि० प्रेस १६५८)
जेनिंग्ज सर० आई०—'केबीनेट गवर्नमेन्ट'
(केम्ब्रिज युनि० प्रेस १६५६)

जोशी जी० एन०—'ग्रासेपेक्ट्स ग्राफ इण्डियन कान्स्टीट्यूशल ला'
(युनिसिटी ग्राफ बम्बई, १९६५)
जोशी जी० एन०—'दि कान्स्टीट्यूशन ग्राफ इण्डिया'
मेकमिलन एण्ड को० १९५२)
कागजी एम० सी० जे०—'कान्स्टीट्यूशन ग्राफ इण्डिया'
(मेट्रोपोलिटन बुक कम्पनी, देहली १९५८)
कपूर ए० सी०—'सेलेक्ट कान्सटीटयूशन्स'
(चाद एण्ड को० देहली, १९६०)
कश्यप एस० सी०—'दि पालिटिक्स ग्राफ डिफेक्शन'
(पब्लिश्ड ग्रण्डर दि ग्रास्पीसिस ग्राफ इन्स्टीट्युट)
लाल ए० बी०—'दि० इण्डियन पालियामेन्ट'
(चैतन्य पब्लिशिंग हाउस ग्रलाहाबाद १९५६)
लास्की एच० जे०—'रिफलेक्शन्स ग्रान दि कान्स्टीट्यूशन'
(मेनचेस्टर युनि० प्रेस, १९५१)
लास्की एच० जे०—'ए ग्रामर ग्राफ पालिटिक्स'
(जार्ज एलेन एण्ड ग्रनविन लिमि० लन्दन, १९३८)
लास्की एच० जे०—'पालियामेन्ट्री गवर्मेन्ट इन इग्लैण्ड'
(जार्ज एलेन एण्ड ग्रनविन लिमि० लन्दन १९३८)
ली सर० एस०—'द गवर्मेन्ट ग्राफ इग्लैण्ड'
(ग्ररनेस्ट वेन लिमि० लन्दन, १९३५)
मैकाईवर ग्रार० एम०—'द माडर्न स्टेट'
(ग्राक्सफोर्ड प्रेस, लन्दन, १९२६)
मे सर० टी० इ०—'ए० ट्रीटीज ग्रान दि ला, प्रिविलेज, प्रोसिडिंग्ज एण्ड युजेज ग्राफ पालियामेन्ट'
(बटरवर्थ लन्दन, १२वा सस्करण)
मिल जे० एस०—'ग्रान रिपजेन्टेटिव्ह गवर्मेन्ट'
(लागमेन्स ग्रीन एण्ड को० लन्दन, १९६१)
मिल जे० एस०—'ग्रान लिबर्टी'
(बेसिल ब्लेक्वेल, ग्राक्सफोर्ड, १९४८)
कार्नेनिक बी० बी०—'फौर्थ जनरल इलेक्शन प्रोबलेम्स एण्ड पोलिसीज'
(लालवानी पब्लिशिंग हाउस, १९६७)
मोरिस जोन्स डब्ल्यू० एच०—'पालियामेन्ट इन इण्डिया'
लागमेन्स ग्रीन एण्ड को० लन्दन १९५७)

डायसी । म्यूर आर०—'हाऊ ब्रिटेन इज गवर्नड'
(लन्दन, १९३८)
फाईनर मुशी के० एम०—'दि प्रेसिडेण्ट अण्डर दि इण्डियन कान्सटीट्यूशन'
(भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६३)
गाडगिल नरसिंह चार के० टी०—'दि क्वीन्टइसेन्स ग्राफ नेहरू'
(जार्ज एलेन एण्ड ग्रनविन, लिमि० लन्दन,
न्यूमेन सिगमण्ड—'माडर्न पोलिटिकल, पार्टीज'
गजेन्द्रगा (युनिवर्सिटी ग्राफ शिकागो, प्रेस, १९५६)
पालमर एन० डी०—'दि इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम'
गार्नर वे (जार्ज एलेन एण्ड ग्रनविन, लन्दन, १९६१)
पायली एम० वी०—'इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन'
गेटेल म (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६२)
राव के० वी०—'पार्लियामेन्ट्री डेमोक्रेसी ग्राफ इण्डिया'
ग्लेडहिल (दि वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, १९६०)
सन्थानम के०—'ट्रान्सीशन इन इण्डिया'
ग्रोवस ए (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६४)
शर्मा एम० पी०—'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन थ्यौरी एण्ड प्रेक्टिस'
गुप्ता ए (किताब महल ग्रलाहाबाद, १९६०)
एम० पी० शर्मा—'दि गवर्नमेन्ट ग्राफ इण्डियन रिपब्लिक'
हाल्लपा (किताब महल, ग्रलाहाबाद, १९६१)
शर्मा एस० ग्रार०—'दि सुप्रिम कोर्ट इन दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन
हस्नुमन (राजपाल एण्ड सन्स, देहली, १९५६)
श्रीनिवासन एन०—'डेमोक्रेटिक गवर्मेन्ट इन इण्डिया'
हिदायत (द वर्ल्ड प्रेस लिमि० कलकत्ता, १९५४)
स्टेवर्ट एम०—'ब्रिटिश एप्रौच टू पालिटिकल एनेलीसिस'
जैनर वं (जार्ज ऐलन एड ग्रनविन लिमि० लन्दन, १९३८)
सूरी एस०—१९६२ इलेक्शनस ए पोलिटिकल एनेलीसिस'
जैनिग्ज सुधा पब्लिकेशनस, न्यू देहली, १९६२)
टोपे टी० के०—'दि कान्स्टीट्यूशन ग्राफ इण्डिया'
जैनिग्ज (पापुलर प्रकाशन, बम्बई, १९६३)
व्हियर के० सी०—'फेडरल गवर्मेन्ट'
(ग्राक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १९५६)
जैनिग्ज

संदर्भ अभिलेख तथा मूल स्रोत

आल इण्डिया रिपोर्टर।
कान्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स १९४६-४९।
ड्राफ्ट कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया
इलेक्शन कमीशन्स रिपोर्ट आन दि फर्स्ट जनरल इलेक्शन इन इण्डिया, जि० १-२
(१९५१-१९५२ न्यू देहली, १९५५)
इस्टीमेट कमेटी (सेन्ट्रल) रिपोर्ट न० २ (१९५०-५१)
इस्टीमेट कमेटी (सेन्ट्रल) रिपोर्ट न० ९, (१९५३-५४)
इस्टीमेट कमेटी (सेन्ट्रल) रिपोर्ट न० २० (१९५७-५८)
इण्डियन इलेक्शन कमीशन्स, रिपोर्ट आन द सेकेण्ड जनरल इलेक्शन्स इन इण्डिया
इन १९५७-५८ देहली
नेहरूज स्पीचेज, १९५६-१९५७, जिल्द-३,
(द पब्लिकेशन डिविजन मिनिस्ट्री आफ इन्फारमेसन एण्ड ब्राडकास्टींग गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया १९५८)
सेकेण्ड फाइव इयर प्लान—ड्राफ्ट आउट लाइन, फरवरी, १९५६
सुप्रिम कोर्ट रिपार्टस
दि कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया १९६३
दि इण्डियन प्रोविजनल पार्लियामेण्ट डिबेट्स १९५०-१९५२
इण्डिया वोट्स—ए सोर्स बुक आन इण्डियन इलेक्शन्स,
(सम्पादित—आर चन्दीदास)
डब्ल्यू मोर हाउस, क्लार्क एण्ड आर मान्टेरा पापूलर प्रकाशन बम्बई १९६८

सन्दर्भ पत्रिकाएँ तथा समाचार पत्र

एप्पी, अर्ल सी०—मिनिस्ट्रीयल रिसपान्सबिलिटीज
दि इण्डियन रिव्यू, जनवरी, १९६०
बैनर्जी डी० एन०—'पोजिशन आफ द प्रेसिडेण्ट आफ इण्डिया'
(माडर्न रिव्यू दिस० १९५०)
चौधरी पी० सी०—'इथिक्स एण्ड इलोक्टोरल डेमोक्रेसी'
(इन सेमानार न० ३० फरवरी १९५९)

जेना के० सी०—'पोलिटिकल अप्रोओशन इन इण्डिया'
(दि इण्डियन रिव्यू सितम्बर १९५६)
मसानी एम० एल०—'पार्टी पोलिटिक्स इन इण्डिया'
(दि वाइटल स्पीचेज एण्ड डाक्यूमेन्टस आफ दि डे० जिल्द-२
न० १८ जुलाई, १५, १९६२)
रेड्डी एम० के०—'पोलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया'
(दि इण्डियन रिव्यू नवम्बर १९६४)
रोच जे० आर०—'इण्डियाज १९५७ इलेक्शन्स-फार इस्टर्न सर्वे, २६, मई १९५७।
सक्सेना के० सी०—'विदर इण्डियन डेमोक्रेसी सोशियलिस्ट कांग्रेसमैन'
(जिल्द ७ मार्च २५, १९६८)
सप्रू पी० एन०—'इन दि जरनल आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन'
(अक्टूबर, १९४८)
सोमजी ए० एच०—'मोटीवेशन एण्ड प्रोपेगण्डा'
(सेमीनार नं० ३०, फर० १९६२)
शर्मा के०—'मनी एण्ड वोट्स'
(सेमीनार नं० ३२ फरवरी, १९६२)

• • •